एमएएचआई –606

मास्टर ऑफ आर्ट्स (हिस्ट्री)

चतुर्थ सेमेस्टर

भारत का इतिहास: उन्नीसवीं सदी ईस्वी के मध्य से स्वतन्त्र भारत तक

अध्ययन मण्डल

अध्यक्ष,

कुलपति,

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,हल्द्वानी

अध्ययन मण्डल के सदस्यों के नाम

1. प्रोफेसर गिरिजा प्रसाद पाण्डे, निदेशक समाज विज्ञान विद्याशाखा, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
2. प्रोफेसर रामेश्वर प्रसाद बहुगुणा, इतिहास विभाग एवं संस्कृति विभाग, जामिया मिल्लिआ इस्लामिय विश्वविद्यालय , दिल्ली
3. प्रोफेसर शन्तन सिंह नेगी , इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, एच.एन.बी. गढ़वाल केन्द्रीय विश्वविद्यालय,गढ़वाल
4. प्रोफेसर वी.डी.एस. नेगी , इतिहास विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, एस.एस.जे. परिसर, अल्मोड़ा
5. डॉ. मदन मोहन जोशी, समन्वयक इतिहास विभाग, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

पाठ्यक्रम समन्वयक: डॉ. मदन मोहन जोशी

इकाई लेखन-

इकाई एक:	रणजीत सिंहःजीवन एवं उपलब्धियां, डॉ. समर मोइज रिजवी, इतिहास एवं संस्कृति विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, विश्वविद्यालय, दिल्ली
इकाई दोः	लार्ड डलहौज डॉ. समर मोइज रिजवी, इतिहास एवं संस्कृति विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, विश्वविद्यालय, दिल्ली
इकाई तीनः	लोकप्रिय जनजातीय तथा असैनिक विद्रोह डॉ. समर मोइज रिजवी, इतिहास एवं संस्कृति विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, विश्वविद्यालय, दिल्ली
इकाई चार:	1857 का विद्रोह इलियास हुस्सैन, इतिहास विभाग, मोतीलाल नेहरू कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
इकाई पांच:	आंग्ल-अफगान संबंध डॉ विकास रंजन कुमार, इतिहास विभाग, राज0 स्नात0 महा0 बाजपुर, ऊ0सिं0नगर,
इकाई छह :	औपनिवेशिक भारत: प्रशासनिक संरचना डॉ.सिराज मुहम्मद, इतिहास विभाग,एम.बी.पी.जी.स्नात. महा.,हल्द्वानी।,
इकाई सात:	क्राउन का भारत के प्रशासन पर नियंत्रण: केन्द्रीय, प्रांतीय एवं जनपद प्रशासन डॉ. नूतन सिंह,,इतिहास विभाग, वाई.डी. कालेज, लखीमपुर, उत्तर प्रदेश
इकाई आठ:	ब्रिटिश सत्ता का रजवाड़ों के साथ संबंध डॉ. नूतन सिंह,,इतिहास विभाग, वाई.डी. कालेज, लखीमपुर, उत्तर प्रदेश
इकाई नौ:	भारत एवं पड़ोसी देश: तिब्बत, नेपाल ,बर्मा , फारस एवं फारस की खाड़ी डॉ विकास रंजन कुमार, इतिहास विभाग, राज0 स्नात0 महा0 बाजपुर,
इकाई दस:	भारत पर ब्रिटिश शासन का प्रभाव डॉ. सौरभ बाजपेई, सेण्टर फॉर हिस्टोरिकल स्टडीज, जे.एन.यू.नई दिल्ली
इकाई ग्यारह:	स्वतंत्र भारत: देशी रियासतों का विलय डॉ. सौरभ बाजपेई, सेण्टर फॉर हिस्टोरिकल स्टडीज, जे.एन.यू.नई दिल्ली
इकाई बारह:	स्वतंत्र भारत: पड़ोसी देशों से संबंधः पाकिस्तान, चीन, नेपाल, बर्मा एवं श्रीलंका डॉ. सौरभ बाजपेई, सेण्टर फॉर हिस्टोरिकल स्टडीज, जे.एन.यू.नई दिल्ली

आई.एस.बी.एन.	:
कॉपीराइट	: उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
प्रकाशन वर्ष	:
Published by	: उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल-263139
Printed at	:

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुन: प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

ब्लॉक एक

इकाई एकः रणजीत सिंह : जीवन एवं उपलब्धियाँ

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 रणजीत सिंह के जन्म से पूर्व पंजाब की राजनैतिक स्थिति

1.4 मिस्ल की व्यवस्था

1.5 रणजीत सिंह तथा उनके शासन के आरंभिंक वर्ष

1.5.1 रणजीत सिह तथा क्षेत्रीय विस्तार

1.5.2 रणजीत सिंह तथा अंग्रजी हुकूमत

1.5.3 रणजीत सिंह तथा उनका प्रशासन

1.6 सारांश

1.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.8 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

रणजीत सिंह भारतीय इतिहास का वो व्यक्तित्व है जिसको पढ़े बगैर 19वीं सदी के पूर्वार्ध के उत्तर भारतीय इतिहास को नहीं समझा जा सकता है। इस इकाई में हम रणजीत सिंह से पूर्व पंजाब क्षेत्र की जो राजनैतिक स्थिति थी उसका अध्ययन करेंगे। हम यह भी देखने की कोशिश करेंगे कि रणजीत सिंह से पूर्व, स्थानीय स्तर पर पंजाब की राजनीति की क्या स्थिति थी, और किस प्रकार उस क्षेत्र में मौजूद सभी कबीले अपनी शक्ति तथा प्रभुत्व को एक दूसरे पर थोपने की कोशिश कर रहे थे तथा कैसे सुकरचकिया कबिले ने बाकि राजनैतिक शक्तियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया। इसमें हम उस क्षेत्र की राजनैतिक गतिविधियों को भी समझने की कोशिश करेंगे जिसने रणजीत सिंह को इतने बड़े राज्य का महाराजा बना दिया। रणजीत सिंह तथा उनके राज्य के क्षेत्रीय विस्तार का आलोचनात्मक परीक्षण किया जाएगा तथा उनके राजनैतिक अभियान तथा विस्तारवादी नीति का भी अध्ययन किया जाएगा। रणजीत सिंह की अंग्रेजी हुकूमत से मित्रता के तमाम पहलुओं का आलोचनात्मक अध्ययन करने का इस इकाई में प्रयास किया गया

है। अंत में उनकी मृत्यु के बाद इस क्षेत्र की राजनैतिक उथल–पुथल तथा इसका फायदा उठाकर अंग्रेजों ने किस प्रकार पंजाब पर अपनी हुकूमत स्थापित कर ली इसका भी अध्ययन किया गया है।

1.2 उद्देश्य

यहाँ रणजीत सिंह पर अध्ययन करने का हमारा उद्देश्य उनके जीवन के ऐसे ऐतिहासिक तथ्यों को उजागर करना है जो जन–मानस की बहस का हिस्सा नहीं बन पाए हैं। इस अध्ययन में हम रणजीत सिंह के व्यक्तित्व का आलोचनात्मक परीक्षण करने का प्रयास करेंगे ताकि जिससे पता चल सके कि उनके व्यक्तित्व में ऐसी कौन सी बात थी कि आज भी वह पूरे भारत वर्ष में इतने लोकप्रिय हैं। रणजीत सिंह के राजनैतिक विस्तार के तमाम पहलुओं को उजागर करना हमारा उद्देश्य है। इस तरह का अध्ययन न केवल रणजीत सिंह के राजनैतिक गतिविधियों पर प्रकाश डालेगा बल्कि उनके द्वारा शासित जनता का अपने शासक को लेकर क्या विचार है इस पहलु को भी उजागर करेगा। हमारा उद्देश्य न केवल उस क्षेत्र की राजनैतिक गतिविधियों को समझना है जिसने रणजीत सिंह को महाराजा के रूप में शक्ति प्रदान की, बल्कि उस तथ्य पर भी प्रकाश डालना है कि किस प्रकार उन्होंने अपने क्षेत्र को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रकोप से बचा कर रखा।

1.3 रणजीत सिंह के जन्म से पूर्व पंजाब की राजनैतिक स्थिति

नादिर शाह का 1739 में दिल्ली पर हमला पहले से ही खासकर औरंगजेब की मृत्यु के बाद, अपने पतन की ओर बढ़ रहे मुगल साम्राज्य के लिए एक बड़ा झटका था, परन्तु यह घटना सबके लिए अशुभ नही थी। इस स्थिति का फायदा उठाकर कई राज्य अपनी शक्ति को संगठित करने में लग गए तथा मुगल साम्राज्य से अपनी राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए उन्होंने आक्रमक रूख अपनाया। दिल्ली पर अहमद शाह अब्दाली के आक्रमण ने पंजाब में सिख शक्ति को संगठित होने का एक अवसर प्रदान कर दिया। सिख सरदारों की शक्ति का केंद्र अमृतसर था, जहॉ से ये अन्य क्षेत्रों में अपनी शक्ति का विस्तार करने लगे। लाहौर के गवर्नर मीर मुनू को सिख शक्ति के उदय के दूरगामी प्रभाव का अंदाजा था। इसलिए गवर्नर ने सिख सरदारों की शक्तियों को शुरू में ही कुचलना बेहतर समझा। मीर मुनू से बचने के लिए सिख सरदार तथा आन्दोलनकारी गाँवों में शरण लेने लगे। मीर मुनू ने विद्रोही सेना पर आक्रमण कर उन्हें तितर–बितर कर दिया तथा उनके किले पर भी कब्जा कर लिया। अमृतसर तथा उनके आस–पास के क्षेत्रों में कानून–व्यवस्था को बहाल करने के लिए कई उपाय किए गये। अपनी बहादुरी के बावजूद मीर–मुनू दिल्ली के षड़यन्त्र का शिकार हो गया। इस षड़यन्त्र के रचयिताओं में बजीर सफदर जंग भी था।

मुलतान के शासन की जिम्मेदारी मीन मुनू से लेकर शाहनवाज को सौंप दी जाती है। कौनरा मूल जिसे मीर मुनू ने अपना दीवान नियुक्त किया था, को शाहनवाज के खिलाफ खड़ा कर दिया। शाहनवाज तथा कौनरा मूल के बीच युद्ध होता है जिसमें शाहनवाज मारा जाता है। मीर मुनू तथा कौनरा मूल, अहमद शाह अब्दाली के दूसरे आक्रमण के कारण, इस विजय का जश्न बहुत अधिक दिनों तक नहीं मना पाए। अप्रैल 1752 में हुए इस युद्ध में कौनरा मूल की मृत्यु हो जाती है। मीर मुनू भी अब्दाली सेना के सामने बहुत अधिक दिनों तक नहीं टिक पाये और अंततः अब्दाली के सम्मुख समर्पण करने पर मजबूर हुए। भारी–भरकम रकम युद्ध हर्जाने के रूप में लेकर अब्दाली वापस लौट गया। लौटने से पहले उसने मीर मुनू को लाहौर तथा मुल्तान दोनों का वाइसराय नियुक्त कर दिया था।

इसी बीच अब्दाली के निर्देश से उसकी सेना की एक टुकड़ी अब्दुल्ला खान के नेतृत्व में कश्मीर की तरफ बढ़ी और जल्द ही उसे आसानी से जीत लिया। मीर मुनू की आकस्मिक मृत्यु के बाद उसकी पत्नी ने लाहौर तथा मुल्तान के शासन की बागडोर संभाली। इस राजनैतिक उथल–पुथल ने सिक्ख सरदारों को संगठित होने का अवसर प्रदान किया।

1755 ई. में अब्दाली ने एक बार फिर भारत की ओर कूच किया, तथा उसकी सेना पंजाब के रास्ते दिल्ली तक पहुंची, यद्यपि उसने दिल्ली को जीत कर वापस मुगल शासक के हवाले कर दिया और वापस चला गया परन्तु दो महत्वपूर्ण सूबों पंजाब तथा सरहिंद को अपने नियंत्रण में ले लिया। इन दोनों सूबों के प्रशासन का दायित्व अपने पुत्र तैमूर के हाथों में दिया। स्थानीय अधिकारियों की शक्ति को कम करने के लिए तैमूर ने अदिना बेग जिसके नियंत्रण में समूचा जालंधर दोआब का क्षेत्र था को लाहौर तलब किया। भयभीत अदिना बेग ने सिख सरदारों तथा मराठों की सहायता लेना उचित समझा और उनकी मदद लेकर हमला कर दिया, इस अचानक हमले ने तैमूर को पीछे हटने के लिए मजबूर कर दिया। अब मराठा सेना जो अपनी शक्ति की पराकाष्ठा में थी, ने भी लाहौर पर कब्जा जमा लिया।

मराठों की बढ़ती शक्ति ने विभिन्न रियासतों के शासकों को भयभीत कर दिया था। शायद यही कारण था कि अहमद शाह अब्दाली ने मराठों को सबक सिखाने के लिए हिन्दुस्तान की तरफ कूच किया, उसकी मदद के लिए अवध तथा रूहेलखण्ड के शासक पहले से ही तैयार थे। इन्होंने अब्दाली की प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से सहायता की। अपने अहंकार के कारण शायद मराठों का कोई मित्र नहीं था। 1761 में पानीपत का जो युद्ध हुआ उसमें मराठा सेना बुरी तरह पराजित हुई। दिल्ली में कुछ दिन रूकने के बाद अब्दाली काबुल लौट गया। अब उसने लाहौर और सरहिंद को स्थायी तौर पर अपने पास रखने का निर्णय लिया। इस प्रक्रिया को पूरा करने के लिए ख्वाजा उबैद खान को लाहौर तथा जैन खान को सरहिंद का गवर्नर नियुक्त किया।

इस समय की राजनीति की एक खास बात थी, सिख सरदारों का अपने आपको संघ जिसे मिस्ल कहते हैं में संगठित करना। मिस्ल की राजनीति ने सिख शक्ति को बहुत हद तक संगठित किया जिसका सीधा असर उस समय के पंजाब की राजनीति पर दिखता है। संभवतः यही कारण था कि एक सफल विजेता होने के बावजूद भी अब्दाली पंजाब में अपनी राजनीति की स्थायित्व देने में असफल रहा, उसे लगातार सिखों के हमले का सामना करना पड़ा। सिख मिस्लों की आक्रामक राजनीति के कारण पंजाब में अब्दाली की शक्ति तितर–बितर हो गयी। यहां पर एक बात ध्यान देने योग्य है कि सिख मिस्ल या सिख सरदार अब्दाली सेना से अपने संघर्ष के दौरान पूरी राजनैतिक सूझ–बूझ का इस्तेमाल करते थे। वे विशाल अफगान सेना से सीधे संघर्ष से बचते थे, जैसे ही अफगान सेना पंजाब के क्षेत्रों जैसे लाहौर, सरहिंद आदि को जीतकर अपनी सरकार स्थापित कर वापस लौटती थी, सिख सरदार उन राजनैतिक केन्द्रों पर आक्रमण कर उन पर कब्जा कर लेते थे

1.4 मिस्ल की व्यवस्था

पंजाब में सिख राजनीति के लिए 1763 का युद्ध बहुत महत्वपूर्ण था। दिसम्बर 1763 में सरहिंद की जंग सिख राजनीति के लिए निर्णायक साबित हुई। इस युद्ध में सरहिंद का गवर्नर जैन खान मारा गया तथा अफगान सेना को पराजय का सामना करना पड़ा। अब सरहिंद से जुमना तक सिख सेना का कब्जा हो गया। इस जीत के बाद सिख सरदार अमृतसर में जमा हुए और उन्होंने देग, तेग और फतेह नामक सिक्के जारी किये, अनेक सरदारों ने अपनी सुरक्षा बढ़ाने के लिए किलों का निर्माण कराना भी प्रारंभ कर दिया।

यहां हम देखते हैं कि धर्म ने सिखों को राजनैतिक रूप से संगठित होने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, बावजूद इस तथ्य के कि उनके अन्दर सामाजिक तथा आथिक गैर–बराबरी बहुत ही स्पष्ट रूप से विद्यमान थी। कनिंग्घम कहते है कि मिस्ल की व्यवस्था अंततः 'धार्मिक संघ सामंतवाद' का रूप ले लेती है। अगर संख्या की बात करें तो उस समय पंजाब की राजनीति में लगभग 12 मिस्ल मौजूद थे। प्रत्येक मिस्ल के सदस्य को अपने सरदार अर्थात मिस्ल के मुखिया का निर्देश मानना होता था। यहां पर मिस्लों तथा उसके मुखिया के नामों का उल्लेख करना महत्वपूर्ण होगा। अहलुवालिया मिस्ल के मुखिया सरदार जस्सा सिंह थे,

जो अहलु गांव के निवासी थे। भंगी मिस्ल एक अन्य शक्तिशाली मिस्ल थी जिसके संस्थापक सरदार धज्जा सिंह थे। इी मिस्ल ने अफगान सेना को पराजित कर 1764 में लाहौर पर कब्जा किया था। इसके अलावा कन्हैया मिस्ल, नकाई मिस्ल, रामगढ़िया मिस्ल, फूलकियन मिस्ल, निहंग मिस्ल, फैजलपुरिया मिस्ल तथा सुकेरचकिया मिस्ल थे। सुकेरचकिया मिस्ल जिससे रणजीत सिंह संबंध रखते थे उनके नेतृत्व में धीरे–धीरे सबसे शक्तिशाली मिस्ल के रूप में उभरी।

यद्यपि धार्मिक पहचान ने विभिन्न मिस्लों को संगठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई परन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकाला जाना चाहिए कि मिस्लों तथा इनके सरदारों के बीच कोई मतभेद या संघर्ष नहीं था।वे अक्सर एक दूसरे पर अपनी शक्ति स्थापित करने के लिए संघर्ष का पथ चुनते थे, इतना ही नहीं उत्तराधिकार के प्रश्न पर भी एक मिस्ल के अन्दर मतभेद तथा संघर्ष कोई असाधारण घटना नहीं थी। इसी संघर्ष का शिकार रणजीत सिंह के दादा चुरूत सिंह को होना पड़ा था। उत्तराधिकार के सवाल पर अपने पिता के विरूद्ध संघर्ष में बृज राज ने चुरूत सिंह से सहायता मांगी और इसके बदले चुरूत सिंह को सालाना नजराना देने का भी वचन दिया। चुरूत सिंह इसी अवसर की तलाश में था, क्योंकि बृजराज के पिता रंजीत देव से उसकी पुरानी दुश्मनी थी। इसी बीच रंजीत देव ने भंगी मिस्ल की सहायता से अपनी स्थिति मजबूत कर ली। इस संघर्ष में चुरूत सिंह मारा गया, पिता की मृत्यु के बाद महासिंह जिसकी आयु केवल दस वर्ष थी को सुकेरचकिया मिस्ल का सरदार घोषित किया गया। महासिंह की माता अथवा चुरूत सिंह की विधवा ने चुरूत सिंह के मित्र जय सिंह की मदद से भंगी मिस्ल के सरदार झुण्डा सिंह की हत्या की योजना बनाई। यहीं से भंगी मिस्ल और सुकेरचकिया मिस्ल की दुश्मनी की शुरूआत भी होती है।

यद्यपि सुकेरचकिया मिस्ल ने झुण्डा सिंह की हत्या कर चुरूत सिंह की मृत्यु का बदला ले लिया था परन्तु अब इस मिस्ल के भीतर भी नेतृत्व को लेकर सवाल खड़े होने लगे थे। कई सरदार जो चुरूत सिंह के अधीन काम कर चुके थे, अल्प आयु के माहासिंह पर अधिक भरोसा नहीं करते थे, परन्तु जल्द ही इस प्रकार के विरोध को दबा दिया जाता था। 1776 में महासिंह की राजनैतिक स्थिति को मजबूत करने के लिए उनका विवाह जीन्द के गुजपूत सिंह की पुत्री से कर दिया गया। अपनी आन्तरिक स्थिति को मजबूत करने के बाद महासिंह ने सुकेरचकिया मिस्ल की राजनैतिक सीमा के विस्तार का निर्णय लिया। उसकी विस्तारवादी नीति का पहला शिकार बना पीर मोहम्मद जो रसूलनगर का जमींदार था। इस सफलता ने महासिंह को एक कुशल याद्धा के रूप में स्थापित कर दिया, इस सफलता का असर उस क्षेत्र की राजनीति पर बहुत साफ दिखाई देने लगा। कुछ सरदार जो भंगी मिस्ल को अपनी सेना प्रदान करते थे, उन्होंने अपनी वफादारी बदल दी तथा संरक्षण प्राप्त करने के लिए माहासिंह से जाकर मिलने लगे। अब सैनिक दृष्टि से कमजोर भंगी मिस्ल को अफगान सेना का सामना भी करना पड़ा, इस बदली हुई परिस्थिति ने भंगी मिस्ल की शक्ति को लगभग समाप्त कर दिया।

जब माहा सिंह पंजाब के मैदानी भाग में अपनी शक्ति के विस्तार में लगे हुए थे उसी समय जम्मू की राजनीतिक उथल पुथल ने उनकी विस्तार वादी नीति को एक और अवसर प्रदान किया। बृजराज ने अपने पिता तथा जम्मू के राजा राजा रंजीत देव को रास्ते से हटाकर सत्ता पर तो अपना अधिकार कर लिया था पर जल्द ही वह एक अकुशल शासक साबित हुआ। उसके विरूद्ध विरोध बढ रहा था। इस राजनैतिक उथल पुथल ने माहा सिंह को हस्तक्षेप का अवसर प्रदान किया। माहा सिंह ने जम्मु पर चढाई कर दी। माहा सिंह ने अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हुए जम्मुशहर , जो कभी व्यापारियों तथा समृद्ध एवं धनी लोगों की शरणस्थली थी, को तबाह कर दिया। माहा सिंह की विस्तारवादी नीति ने उसके कई दुश्मन पैदा कर दिए। यहॉ तक कि एक समय में उसके संरक्षक की भूमिका निभाने वाले जय सिंह को भी उससे समस्या होने लगी। जम्मू अभियान के बाद माहा सिंह जब जय सिंह से मिलने अमृतसर पहुॅचता है तो वहॉ

उसे अपमानित किया जाता है। अपने अपमान का बदला लेने के लिए उसने रामगढिया मिस्ल के निष्कासित सरदार जुसा सिह का समर्थन प्राप्त किया। माह सिंह तथा जुसा सिंह की सामुहिक सेना ने जय सिंह के क्षेत्र पर आक्रमण किया। इस युद्ध में जय सिंह का बेटा गुरबक्श सिंह मारा जाता है। बाद के घटनाक्रम में इसी गुरबक्श सिंह की बेटी का विवाह माहा सिंह के बेटे रंणजीत सिंह के साथ 1785 में होता है। अतः माहा सिंह के नेतृत्व में सुकरचकिया मिस्ल पंजाब की राजनीति में सबसे शक्तिशाली मिस्ल के रूप में सामने आती है। 1792 में केवल 29 वर्ष की आयु में माहा सिंह की मृत्यु हो जाती है।

1.5 रणजीत सिंह तथा उनके शासन के आरंभिंक वर्ष

रणजीत सिंह का जन्म 1780 में हुआ था। बचपन में चेचक की वजह से उनकी एक ऑख खराब हो जाती है। पिता माहा सिंह रणजीत सिंह को भी अपनी तरह एक योद्धा बनाना चाहते थे, शायद इसलिए रणजीत सिंह ने कलम तथा खिलौने की जगह बचपन में ही तलवार थाम ली। उन्होने कभी भी औपचारिक रूप से शिक्षा ग्रहण नहीं की परन्तु कहा जाता है कि वह दिमाग से इतना तेज थे कि इन्हें सभी गॉव के नाम संबंधित क्षेत्र के अनुसार याद थे। राजनैतिक समीकरण को मजबूत करने के लिए यह माना जाता है कि उनके पिता ने रणजीत सिंह का विवाह केवल 6 वर्ष की आयु में कर दिया था। उस समय उनकी पत्नी की उम्र शायद 5 वर्ष थी। कन्हैया मिस्ल में रणजीत सिंह की शादी करने में, सैनिक राजनैतिक तथा सामरिक दृष्टि से माहा सिंह और भी अधिक शक्तिशाली हो गये। उनके विवाह के बारे में कहा जाता है कि जब रंणजीत सिह बहुत बिमार थे, उस समय उनकी माता राजकौर उनकी दीर्घ आयु की दुआ मॉगने ज्वाला मुखी मंदिर जाती है। सादा जो गुरबक्श सिंह की विधवा तथा रामगढिया मिस्ल के जय सिंह की बहु थी, ने राजकौर को इस बात के लिए समझाने की कोशिश की जब रणजीत सिंह स्वस्थ हो जाए तब उनकी पुत्री महताब से रंणजीत सिंह का विवाह कर दिया जाए। अंततः जय सिंह ने अपनी पोती के विवाह का प्रस्ताव जब माहा सिंह के सामने रखा तो वो भी इससे सहमत हो गए। इस प्रकार रणजीत सिंह तथा महताब का विवाह बडे धूम धाम से किया जाता है।

अपने शासन के आरंभिक दिनों में ही रणजीत सिंह ने यह सिद्ध कर दिया था कि पंजाब का राज्य क्षेत्र विभिन्न परस्पर विरोधी शक्तियों के बीच नहीं बंटा रह सकता। समय की यह मॉंग है कि इसका एकीकरण हो और वो भी रणजीत सिंह के अधीन। अपने शासन के शुरूआती दिनों में रणजीत सिंह को न केवल बाहरी शक्तियों से लोहा लेना पडा बल्कि आंतरिक प्रतिरोधों का भी सामना करना पडा। अल्प आयु के बावजूद उन्होने बडी बहादुरी से आन्तरिक तथा बाहरी खतरे का दमन किया। उनकी कूटनीतिक चालों ने उन्हें एक सफल तथा कुशल प्रशासक के रूप में स्थापित कर दिया। पिता माहा सिंह ने बहादुरी के साथ सुकरचकिया मिक्ल के शासन क्षेत्र को अफगान आक्रमण से सुरक्षित रखा। परन्तु उनके मृत्यु के कुछ वर्ष बाद ही अफगान आक्रमण का एक नया दौर शुरू होता है।

रणजीत सिंह ने अफगान आक्रमण को अपनी महत्तवाकांक्षा की पूर्ति के लिए एक अवसर के रूप में इस्तेमाल किया। अफगान सेना की शक्ति का अन्दाजा लगाते हुए रणजीत सिंह ने यह तय किया कि वह काबुल के शासक शाह जमान को अपना सहयोग देकर पंजाब की आन्तरिक राजनीति पर अपनी पकड़ मजबूत करेगा। कूटनीतिक चाल चलते हुए रणजीत सिंह ने शाह जमान से मित्रता स्थापित कर ली। जमान की सेना ने 1798 में लाहौर पर अपना कब्जा कर लिया परन्तु बहुत जल्द ही स्थिति को भांपते हुए उसने लाहौर छोड़ने का निर्णय लिया क्योंकि अधिक दिनों तक वहॉ टिके रहना न तो आर्थिक हित में था और न ही राजनैतिक। जैसे ही जमान की सेना लाहौर से हटती है, साहेब सिंह, चैत सिंह तथा मुहर सिंह ने लाहौर को अपने नियंत्रण में ले लिया। रणजीत सिंह की नजर भी लाहौर पर थी। पहले तो उसने शाह जमान का विश्वास जीतने के लिए बारिश में फंसी अफगान सेना को सहायता प्रदान की तथा उनके तोपों को सुरक्षित

जमान को सौंप दिया। अब रणजीत सिंह ने अपनी सास सदा कौर की मदद से लाहौर पर चढ़ाई करने का निर्णय लिया। लाहौर को जीतने में रणजीत सिंह को अधिक कठिनाइयों का सामना नहीं करना पडा और शीघ्र ही उसके विरोधियों ने रणजीत सिंह के सामने आत्य समर्पण कर उसकी अधिकता स्वीकार कर ली। इस राजनैतिक सफलता ने रणजीत सिंह की प्रतिष्ठा को आसमान तक पहुॅचा दिया। इसके बाद कई जागीरदार तथा सरदार रणजीत सिंह की अधीनता को स्वीकार करने के लिए बाध्य हुए। अपने शासन के आरंभिक दस वर्ष में पंजाब की राजनीति में मौजूद विभिन्न मिस्लों की शक्ति को लगभग समाप्त कर दिया। अपनी शक्ति को संगठित करने के लिए उसने बल तथा मित्रता दोनों का इस्तेमाल किया। फतेह सिंह अहलूवालिया तथा अपनी सास सदा कौर के साथ मिलकर उसने जो तिकड़ी बनाई उसने पंजाब की राजनीति को एक नयी दिशा दी।

1.5.1 रणजीत सिह तथा क्षेत्रीय विस्तार

लाहौर की जीत ने रणजीत सिंह को राजा रणजीत सिंह बना दिया था। लाहौर सदियों से सत्ता का केन्द्र रहा था और उस पर अधिकार निःसन्देह रणजीत सिंह के लिए गर्व की बात थी। 1810 तक रणजीत सिंह ने अधिकतर मिस्लों को अपने अधीन कर लिया। अब उसने अपनी राजनैतिक सीमा में विस्तार को एक सुनियोजित रूप प्रदान करने की कोशिश की। सन 1806 में रणजीत सिंह प्रशिक्षित सेना की एक मजबूत टुकड़ी लेकर मुलतान पहुंचता है, जहॉ के शासक मुजफफर खान ने धन का लालच देकर उसे लौटने के लिए मना लिया परन्तु अगले साल ही रंणजीत सिह फिर से मुलतान में प्रकट होता है। यद्यपि उसकी सेना ने मुलतान के अधिकतर क्षेत्रों को तबाह कर दिया परन्तु वह इसे पूर्ण विजय में नहीं बदल पाई। अंततः एक बार फिर रणजीत सिंह तथा मुजफफर खान के बीच समझौता हेाता है जिसके अनुसार रणजीत सिंह की सेना ने मुल्तान पर से अपने कब्जे को समाप्त कर दिया। रणजीत सिंह का मूलतान के विरूद्ध तीसरा अभियान काबुल की राजनीति का परिणाम था। निर्वाचित जीवन व्यतीत कर रहा शाह शुजा यह चाहता था कि रणजीत सिंह मुलतान को जीतकर उसके हवाले कर दे। निःसंदेह मुलतान पर अधिकार शाह शुजा की राजनैतिक स्थिति को मजबूत कर सकता था। 1810 में रणजीत सिंह एक मजबूत सेना के साथ मुलतान पहुॅचता है और जल्द ही पूरा शहर उसके कदमों में पडा था। इस विजय के बाद यह उम्मीद थी कि रंणजीत मुल्तान शाह के हवाले कर देगा परन्तु ऐसा हुआ नहीं। मुल्तान की राजनैतिक स्थिति को लेकर रणजीत सिंह ने अपना इरादा बदल दिया तथा शहर को अपने नियंत्रण में ही रखना उचित समझा। कुछ इतिहासकारेां का मानना है कि सामरिक रूप से महत्वपूर्ण मुलतान को रणजीत सिंह शुजा के हवाले नहीं करना चाहता था। मुलतान पर उसकी पहले से ही नजर थी जिसका प्रमाण उसके पूर्व के अभियान है जब 1806 तथा 1807 में रणजीत सिंह ने मुलतान पर अपना अधिकार करने की कोशिश की थी। परन्तु कुछ विद्धान रणजीत सिंह के इस कदम को सुनियोजित साजिश के रूप में नहीं देखते। उनका कहना है कि शाह शुजा ने मुलतान के बदले रणजीत सिंह को जो रकम अदा करने की बात कही थी, वह उससे मुकर गया था। कारण चाहे जो भी हो इसमें कोई संदेह नहीं कि मुलतान रणजीत सिंह के क्षेत्रीय विस्तार का एक महत्वपूर्ण निशाना था जिसको प्राप्त करने के लिए उसने पूर्व में भी कोशिशें की थीं।

दुर्भाग्य से रणजीत का मुल्तान पर तीसरा हमला पूर्ण रूप से सफल नहीं हो पाया। किले की घेराबन्दी में कई अधिकारी मारे गए। इसमें कोई शक नहीं कि रणजीत सिंह एक महान रणनीतिकार थे, स्थिति को सही रूप से भांपते हुए उन्होने तय किया कि कुछ इस तरह का समझौता किया जाए जिससे उनकी प्रतिष्ठा को कोई हानि न पहूॅचे । मुलतान के शासक मुजफफर खान से 30000 लेकर उन्होंने मुलतान छोडने का निर्णय लिया। मुलतान पर उनके द्वारा बार बार किए जा रहे हमले ने मुजफफर खान की राजनैतिक स्थिति को अस्थिर कर दिया था। भय के कारण उसका मनोबल गिरने लगा था। इस भय का

मनोवैज्ञानिक महत्व था। बल्कि सरदार तथा शासक भी रणजीत सिंह की सेना से अपने आप को सुरक्षित महसूस नहीं करते थे। अतः मुलतान पर पूर्ण स्वतंत्रता न मिलने के बावजूद भी उनके सैनिक अभियान ने उनके राजनैतिक कद को बहुत ऊँचा कर दिया था। लगातार हमले तथा सतत प्रयास के कारण एक लम्बे समय के बाद अंततः रणजीत सिंह की सेना का मुलतान पर कब्जा हो जाता है। उसमें कोई शक नहीं कि अफगान शासक मुजफफर बहादुरी से लडा परन्तु उसकी मृत्यु ने अंततः मुलतान को रणजीत की झोली में डाल दिया।

रणजीत सिंह के विजय अभियान का अगला पड़ाव काश्मीर था। जम्मू पर सुकरचकिया मिस्ल का हमला कोई नई बात नहीं थी। उसके पिता माहा सिंह भी कई बार उस क्षेत्र पर आक्रमण कर चुके थे। रणजीत सिंह की सेना के लिए भी वह क्षेत्र अनजाना नहीं था परन्तु काश्मीर अभी तक अपने आप को रणजीत सिंह के प्रभुत्व के बाहर रखने में सफल रहा था। राजनैतिक विस्तार की महत्वकांक्षा के साथ 1814 में पहली बार रणजीत सिंह की सेना ने अपना कदम काश्मीर की पहाडियों पर रखा। इस अभियान में उन्हें प्रत्यक्ष रूप से राजौरी तथा अप्रत्यक्ष रूप से पुंछ का समर्थन मिला। काश्मीर की महत्ता को देखते हुए रणजीत सिंह ने यह निर्णय लिया कि सेना का नेतृत्व वे स्वयं करेंगे। भौगोलिक अवरोधों के कारण सिख सेना के लिए यह अभियान आसान नहीं था। विपरीत परिस्थितियों का सामना कर रही रणजीत सिंह की सेना का काश्मीर के मौसम ने भी साथ नहीं दिया। लगातार बारिश तथा ठंड ने सेना की मुश्किलें और भी बड़ा दीं। कई कठिनाइयों का सामना करते हुए रामदयाल के नेतृत्व में रणजीत सिंह की सेना ने हीरापुर में अपना कदम रख दिया। उन्हें कुछ सफलता भी मिली। काश्मीर वादी में यह उनकी पहली कामयाबी थी परन्तु राम दयाल इस विजय को स्थायी बनाने में असफल रहे तथा काश्मीर के सेना ने उन्हें फिर से पीर पाजांल की पहाडियों की ओर ढकेल दिया। विपरीत परिस्थितियों में फंसी रणजीत सिंह की सेना पर अब पुंछ की ओर से भी आक्रमण होने लगा। इस अभियान ने रणजीत सिंह की सैन्य प्रबंधन की कार्यकुशलता पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया। उस क्षेत्र की बगैर किसी स्पष्ट जानकारी के तथा पहाडी क्षेत्रो के अनुकूल किसी सैन्य प्रशिक्षण के बिना अपनी सेना को उतारना उसकी विस्तारवादी महत्वाकाक्षा का केवल एक परिणाम मात्र था।

इसने रणजीत सिंह के मनोबल को कम नहीं किया बल्कि अब वह एक नए ढंग से अपनी सेना को तैयार करने में लग गये । 1819 में काश्मीर पर हमला पूर्ण रूप से सुनियोजित था इस बार काश्मीर अभिमान के लिए उसने अपनी सेना को मुख्य रूप से तीन टुकडियों में विभाजित कर दिया। पहली टुकडी दिवाकर चन्द के अधीन थी जिसे सीधे आक्रमण का निर्देश मिला हुआ था। दूसरी टुकडी जिसका नेतृत्व युवराज खडक सिंह कर रहे थे, उसका मुख्य कार्य पहली टुकडी को सहायता पहुॅचाना था। तीसरी टुकडी का नेतृत्व स्वंय रणजीत सिंह कर रहे थे। इस टुकडी का मुख्य कार्य सेना को रसद पहुॅचाना तथा आवश्यकता पडने पर पहली टुकडी को सहायता पहुॅचाना था। इस सुनियोजित आक्रमण ने काश्मीर पर रणजीत सिंह की विजय को सुनिश्चित कर दिय और शीघ्र ही पुंछ तथा राजौरी को जीत लिया गया। इस प्रकार समस्त काश्मीर अब रणजीत सिंह की तलवार के अधीन आ चुका था। काश्मीर के प्रशासन की बागडोर संभालने के लिए रणजीत सिंह ने मोती राम, जो कि पूर्व दिवान के सुपुत्र थे, को वहॉ का गवर्नर नियुक्त किया। इस विजय से न केवल रणजीत सिंह की क्षेत्रीय सीमा का विस्तार हुआ बल्कि इसने रणजीत सिंह की प्रतिष्ठा और बढ़ा दी। इस विजय से कुछ पहले ही सिख सेना अटक तथा पेशावर को अपने नियंत्रण पर कर चुकी थी। अटक और पेशावर के बाद काश्मीर की विजय ने सिख सेना के मनोबल को अपनी पराकाष्ठा पर पहुॅचा दिया। अब पंजाब के महाराजा रणजीत सिंह के अधीन काश्मीर, मुल्तान तथा पेशावर यह सभी क्षेत्र आ चुके थे।

अफगान सेना और महाराज के बीच पेशावर पर अधिकार की लडाई बहुत महत्वपूर्ण थी। यह युद्ध इस बात को तय करने वाला था कि उत्तर पश्चिम सीमावर्ती क्षेत्रों तथा खैबर के क्षेत्र पर किसका अधिकार रहेगा, अफगान का या फिर सिखों का। राजनीतिक क्षेत्रीय विस्तार की लडाई ने बहुत जल्द ही धार्मिक रूप ले लिया । दोनों तरफ की सेनाओं को धर्म के आधार पर लामबंद किया गया जिसमें धार्मिक प्रतीकों को युद्ध नीति के रूप में इस्तेमाल किया गया। शुरूआती असफलताओं ने रणजीत सिंह को चौकन्ना कर दिया और जल्द ही उन्होने अपने रणकौशल के बल पर युद्ध के परिणाम को अपनी ओर झुका लिया। रणजीत सिंह की बिजयी सेना पेशावर शहर में प्रवेश करती है। स्थिति की गंभीरता को देखते हुए महाराजा स्वयं कुछ दिनों के लिए वहॉ रूकते है। शहर पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने के बाद यार मोहम्मद खान को पेशावर का गवर्नर नियुक्त किया जाता है। यार मोहम्मद खान के इस वचन के साथ की वह महाराजा को वार्षिक नजराना पेश करेगा, रणजीत सिंह अपनी सेना के साथ पेशावर छोड़ देते हैं।

काश्मीर से तुलना करें तो पेशावर की अभिमान तुलनात्मक रूप से सरल साबित हुई। परन्तु इसमें कोई शक नहीं की इस विजय के बावजूद भी वहॉ की राजनीति को स्थायित्व प्रदान करना रणजीत सिंह के लिए आसान नहीं था जिसका मुख्य कारण खैबर तथा उत्तर पश्चिमी सिमांत क्षेत्रों में होने वाले विद्रोह थे। लगातार होने वाले विद्रोहों ने रणजीत सिंह की मुश्किलें बढा दी थी। अपनी कुशल युद्धनीति तथा स्वयं एक अच्छें कूटनीतिज्ञ होने के बावजूद रणजीत सिंह अपने शासनकाल में कभी भी इन विद्रोहों को पूरी तरह से कुचल नहीं पायें। यह कहना गलत नहीं होगा की उत्तर पश्चिमी सीमांत के इलाकों में एक स्थिर प्रशासन स्थापित करने में तथा राजनैतिक स्थिरता प्रदान करने में महाराजा पूर्ण रूप से सफल नहीं हो पाएं। संगठित रूप में रणजीत सिंह को सबसे बडी चुनौती सय्यद अहमद बरेलवी ने दी ।

सय्यद अहमद बरेलवी जो वहाबी विचारधारा के प्रचारक थे मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में सिख प्रभुत्व को सहन नही कर पा रहे थे, ने धर्म के नाम पर उत्तर पश्चिम सीमांत क्षेत्र मे मुसलमानों को एकजुट करना शुरू कर दिया। अहमद बरेलवी 1826 में पेशावर पहुॅचते है। उन्होने वहॉ के मुस्लिम पख्तून कबाइलियों को सिख शासन के खिलाफ लामबंद करना शुरू कर दिया तथा उन्हें रणजीत सिंह के विरूद्ध जेहाद के लिए उकसाया। बहुत तेजी से उनकी राजनैतिक शक्ति का विस्तार होने लगा तथा 1830 में उन्होनें पेशावर को जीत लिया। अहमद बरेलवी की इस विजय ने रणजीत सिंह को न केवल अचंभित किया बल्कि आने वाले बडे खतरे को लेकर सचेत भी कर दिया। रणजीत सिंह ने यह निर्णय लिया कि अहमद बरेलवी की शक्ति को पूरी तरह से कुचलने से ही उनके राजनैतिक भविष्य को सुरक्षित रखा जा सकता है। अंतः 1831 में बालाकोट के युद्ध में सिख सेना ने अहमद बरेलवी को परास्त कर उनकी हत्या कर दी। यद्यपि इस विजय ने रणजीत सिंह को थोड़ी राहत पहुॅचाई परन्तु अपने पूरे शासनकाल में उन्हें इस क्षेत्र के विद्रोहों का सामना करना पडा।

रणजीत सिंह के शासन की शायद सबसे बडी उपलब्धि उनके अधीन सिख साम्राज्य का क्षेत्रीय विस्तार था। एक ऐसे समय में जब एक तरफ अफगान पंजाब को अपने साम्राज्य का हिस्सा समझते थे, जिसका सबूत था अफगानी सेना का पंजाब की राजनीति में बार बार हस्तक्षेप वही दूसरी तरफ मराठा शक्ति जिसकी नजर भी पंजाब पर थी। इन दोनों शक्तियों से पंजाब को न केवल बचाना बल्कि अपने साम्राज्य का लगातार विस्तार करना रणजीत सिंह की एक बडी उपलब्धि थी। इस संघर्ष में केवल मराठा या अफगान ही नहीं थे बल्कि एक और महत्वपूर्ण शक्ति थी जिसकी विस्तारवादी नीति से पंजाब को सुरक्षित रखकर रणजीत सिंह ने अपनी महान कूटनीति का सबूत दिया और वो शक्ति थी ब्रिटिश हुकूमत।

1.5.2 रणजीत सिंह तथा अंग्रजी हुकूमत

एक ऐसे समय में जब देशी रियासतें तथ स्थानीय शासक वर्ग अंग्रेजी हुकूमत से लोहा ले रहे थे, रणजीत सिंह का अंग्रेजों के साथ राजनैतिक संबंध विद्वानों के लिए चर्चा का विषय है। कुछ विद्वानों का मानना है कि कम्पनी तथा रणजीत सिंह के बीच हुए राजनैतिक समझौते का मुख्य फायदा ईस्ट इण्डिया कम्पनी को ही मिला क्योंकि ब्रिटिश भारत की सुरक्षा की दृष्टि से पंजाब का एक बफर स्टेट के रूप में महत्व बढ जाता है और अगर यह बफर स्टेट कम्पनी राज का सहयोगी हो तो ऐसी स्थिति में ब्रिटिश सरकार को अपनी उत्तरी सीमा की सुरक्षा की चिंता से मुक्ति मिल जाती है।

परन्तु अधिकतर विद्वान रणजीत सिंह तथा कम्पनी सरकार के बीच के संबंध को रणजीत सिंह की राजनैतिक चाल तथा कूटनीति का परिणाम मानते हैं। इनका मानना है कि इस राजनैतिक संधि ने रणजीत सिंह को एक महान राजनेता के रूप में स्थापित कर दिया क्योंकि संधि के शर्तें महाराजा की राजनैतिक महत्वाकांक्षा तथा विस्तारवादी नीति के अनुकूल थी। अतः विद्वानों का यह वर्ग मानता है कि दोनों शक्तियों के बीच के समझौते से मुख्यतः रणजीत सिंह ही लाभान्वित हुए। विषय का आलोचनात्म्क अध्ययन करने पर यह तय कर पाना कि किसकों अधिक लाभ हुआ और किसको कम परन्तु इस बात में कोई शक नहीं कि कम्पनी सरकार तथा रणजीत सिंह के बीच की संधि अवसरवादी राजनीति का परिणाम थी। हम कह सकते हैं कि यह संधि एक अवसरवादी संधि थी जिसमें दोनों पक्षो को अपने हितों की सुरक्षा के लिए एक दूसरे की आवश्यकता थी।

18 वीं शताब्दी के अंत तक जहॉ एक ओर कम्पनी सरकार ने प्रत्यक्ष (सेना के बल पर कई राज्यों को जीत लिया) तथा अप्रत्यक्ष रूप से (सहायक संधि के द्वारा) लगभग समस्त भारत पर पंजाब को छोडकर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित कर ली थी वहीं दूसरी ओर रणजीत सिंह ने भी तब तक पंजाब के सबसे मजबूत शासक के रूप में स्वयं को स्थापित कर लिया था। जब वेलेजली भारत आया उसने अपनी विस्तारवादी नीति बहुत स्पष्ट कर दी थी। यही स्थिति पंजाब में रणजीत सिंह की थी । अतः दोनों शक्तियों के बीच संघर्ष अवश्यंभावी था परन्तु इससे पहले की ये परस्पर विरोधी हित संघर्ष में बदल जाए वेलेजली को इंग्लैण्ड वापस बुला लिया गया। वेलेजली के इंग्लैण्ड जाने से पहले 1803 में रणजीत सिंह तथा अंग्रेजी हुकूमत के बीच जंग की संभावना तेज होने लगी थी। रणजीत सिंह द्वारा सतलज नदी के दक्षिण की ओर विस्तार ने स्थानीय सिख सरदारों को भयभीत कर दिया थ। ये सरदार अंग्रेजों की शरण में पहुॅच जाते है। लेक, जो एंग्लो मराठा युद्ध का नायक था , ने स्थिति का पूरा लाभ उठाने की कोशिश की परिणामस्वरूप स्थानीय सरदारों की मदद के लिए ब्रिटिश सेना व्यास नदी पार कर जाती है। रणजीत सिंह ने खतरे को भांपते हुए स्थिति को संभालने की कोशिश की। चाहे वह ब्रिटिश सत्ता हो या रणजीत सिंह दोनों अपने राज्यों की स्पष्ट सीमा चाहते थे। इस समय रणजीत सिंह ने सतलज नदी को अपने साम्राज्य की सीमा बनाना उचित समझा जिससे उत्तर की ओर आसानी से अपने क्षेत्र का विस्तार कर सके। यद्यपि वह सतलज नदी को सीमा बनाना चाहते थे लेकिन साथ ही इस नदी के दक्षिण मे मौजूद क्षेत्रों जैसे फरीदकोट, कपूरथला, जींद, लुधियाना तथा पटियाला आदि को भी अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर नहीं रखना चाहते थे। इससे पहले की सीमा रेखा पर कोई स्पष्ट निर्णय लिया जाता, वेलेजली को वापस इग्लैण्ड बुला लिया जाता है।

1807 में लाई मिन्टो गवर्नर जनरल का कार्यभार संभालने भारत पहुॅचता है। भारत पहुॅचते ही उनकी सबसे बडी चिंता ब्रिटिश भारत की सुरक्षा थी। ब्रिटिश सरकार को यह ज्ञात हो चुका था कि फ्रांस का शासक नेपोलियन रूस तथा ईरान से संधि कर ब्रिटिश भारत पर आक्रमण करने वाला है। इस आक्रमण का मार्ग निश्चित रूप से पंजाब होकर ही गुजरेगा। अतः शक्तिशाली पंजाब, नेपोलियन की सेना तथा ब्रिटिश भारत के बीच एक बफर स्टेट की तरह काम कर सकता था। अब मिन्टो ने रणजीत सिंह को इस बात के लिए मनाने की कोशिश की कि वह दक्षिण में सतलज को ही अपनी सीमा रेखा माने तथा यमुना तक अपने

राज्य का विस्तार न करें। रणजीत सिंह यूरोप में चल रही राजनैतिक गतिविधियों से पूरी तरह अवगत था। उसे इस बात का आभास था कि ब्रिटिश सरकार नेपोलियन के आक्रमण के भय के कारण उसकी शर्तों को मान लेगी। अतः यूरोप में नेपोलियन के उभार ने अप्रत्यक्ष रूप से रणजीत सिंह की स्थिति को और मजबूत कर दिया। स्थिति का फायदा उठाते हुए रणजीत सिंह ने सतलज नदी के दक्षिण मे अपने आक्रमण को तेज कर दिया। मिन्टो ने पंजाब की समस्या को सुलझाने की जिम्मेदारी चार्ल्स मेटाकाफ पर छोड दी। सितम्बर 1808 में मेटकाफ रणजीत सिंह से मिलकर उन्हें नेपोलियन के आक्रमण के खतरे से अवगत कराता है तथा इस बात पर जोर डालता है कि इस संकट की स्थिति से निपटने के लिए ब्रिटिश हुकूमत तथा रणजीत सिंह की दोस्ती कितनी महत्वपूर्ण है। रणजीत सिंह इस बात पर तो सहमत हो गए कि नेपोलियन के आक्रमण की स्थिति में वह ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी का साथ देंगें परन्तु इस बात को उन्होंने पूरी तरह से खारिज कर दिया कि सतलज का दक्षिणी भी अंग्रेजी प्रभुसत्ता के अन्दर होगा। इस वार्ता के दौरान ही उन्होने शाहाबाद, फरीदकोट तथ अम्बाला को जीतकर यह बता दिया कि पंजाब पर अपने अधिकार को लेकर वह किसी प्रकार के समझोते के विचार में नहीं है। रणजीत सिंह के इस सैन्य अभियान ने दोनों पक्ष के बीच युद्ध की स्थिति उत्पन्न कर दी। जब दोनों ओर से सैनिक तैयारियां अपने चरम पर थी तभी खुफिया विभाग ने नेपालियन के आक्रमण के भय से दोनों पक्षों को अवगत कराया। अतः महाराजा तथा कम्पनी दोनों ही पक्ष समझौते के लिए तैयार हो गए और इस प्रकार 25 अप्रैल 1809 को सतलज की संधि पर हस्ताक्षर होता है। इस संधि ने सतलज नदी के उत्तर में रणजीत सिंह के सैन्य अभियान के लिये मार्ग प्रशस्त कर दिया। अतः महाराजा तथा अंग्रेजों के बीच दोस्ती का यह संबंध जो नेपोलियन के भय के साथ शुरू हुआ, इस संकट के समाप्ति के बाद भी कायम रहा।

1.5.3 रणजीत सिंह तथा उनका प्रशासन

अपनी तीव्र बुद्धि तथा रणकौशल के दम पर रणजीत सिंह ने पंजाब में एक शक्तिशाली राज की स्थापना की। इतने विशाल क्षेत्र को नियंत्रण में रखने के लिए एक प्रशासन तंत्र की आवश्यकता थी। अपने राज्य को एक अच्छा शासन प्रदान करने के लिए महाराजा ने इसे आठ सूबो में बॉट दिया। पहला लाहौर जो कि राजधानी थी, इसके अलावा अन्य सूबे, पेशावर, काश्मीर तथा मुल्तान आदि थे। रणजीत सिंह सरकार के मुखिया थे, इस कारण तमाम विभाग चाहे वह न्यायिक हो या सैनिक उनके अन्तर्गत ही आते थे। राज्य का कार्यकाल कई विभागों द्वारा संचालित लिया जाता था। जैसे दफतर ए मोर, दफतर ए अबवाब उल माल, दफतर ए दरोगा, दफतर ए तोशाखाना, दफतर ए रोजनामचा आदि। किसी भी दस्तावेज की कानूनी वैधता के लिए रणजीत सिंह की मुहर जरूरी थी। अपने शासन को मजबूती प्रदान करने के लिए महाराजा ने धर्मनिपेक्षता को राज की नीति के रूप मे अपनाया। शासन के महत्वपूर्ण कार्य भार या पदोन्नती अधिकारी के क्षमता के आधार पर मिलती थी न कि धर्म के। इसी प्रकार सेना के गठन के समय भी धर्मनिपेक्षता को पूरी जगह दी गई। रणजीत सिंह ने सूबों के प्रशासन पर मुख्य रूप से ध्यान दिया। प्रत्येक सूबे को एक गवर्नर अथवा निजाम के अंतर्गत रखा। यह निजाम सीधे रणजीत सिंह को रिपोर्ट करते थे। प्रत्येक सूबे को जिले में विभाजित किया गया। जिले के मुख्य अधिकारी को करदार कहते थे। यह करदार मुगल फौजदार की तरह होते थे परन्तु इनकी शक्ति तथा अधिकार क्षेत्र फौजदारों से ज्यादा होता था। सूबे की सबसे छोटी इकाई मोना होती थी।

सरकार की आय का मुख्य स्त्रोत भू राजस्व ही था। भू राजस्व का निर्धारण अलग अलग क्षेत्रो में अलग अलग ढंग से हेाता था। प्राकृतिक आपदा के समय सरकार पीडित क्षेत्रों को सहायता भी प्रदान करती थी। गॉव के स्तर पर विवादों का निपटारा पंचायत द्वारा किया जाता था परन्तु अगर कोई व्यक्ति निचली

अदालतो के फैसले से खुश नहीं है तो वह सीधे महाराज को अपील कर सकता था। अनपढ़ होने के बावजूद जिस प्रकार वे प्रशासन की देख रेख करते थे। यह निश्चित रूप में प्रशंसा के योग्य है।

1.6 सारांश

रणजीत सिंह जिन्हें नेपोलियन की संज्ञा दी गई है ने अपने बचपन में ही बहुत स्पष्ट कर दिया था कि वह केवल एक मिस्ल के सरदार के रूप में संतुष्ट नहीं रहेगें। अपने पहले सैन्य अभियान से ही उन्होने राजनीतिक विस्तार की अपनी महत्वकांक्षा को बिल्कुल साफ कर दिया था। कुछ लोग उन्हें एक चालाक तथा क्रूर राजनेता के तरह भी देखते हैं जिस पर अपनी मॉ की हत्या का आरोप है। स्त्रियों के साथ उनके संबंध भी उनके व्यक्तित्व पर कई प्रकार के प्रश्न चिन्ह लगाते हैं परन्तु अगर हम एक शासक के रूप में उन्हें देखे तो हम पाएंगें कि उन्होने अपनी तमाम जिम्मेदारियों को बहुत निष्ठा से पूरा किया। एक ऐसे समय में जब पंजाब अफगान शासकों के प्रभाव में था तथा शेष भारत अंग्रेजी हुकूमत के, रणजीत सिंह ने पंजाब की राजनीति को एक नई दिशा देते हुए पंजाब को एक स्वतंत्र राज्य का अस्तित्व प्रदान किया। उन्होने अपनी शक्ति को संगठित करने के लिए धर्म का इस्तोमाल तो जरूर किया परन्तु प्रशासनिक कार्यों में धार्मिक भेदभाव को कोई स्थान नहीं दिया। अंत में हम कह सकते हैं कि रणजीत सिंह पंजाब के राजनैतिक इतिहास के सबसे महत्वपूर्ण काल का नेतृत्व कर रहे थे या यूँ कहें कि उन्होने पंजाब की राजनीति को सबसे महत्वपूर्ण काल प्रदान किया।

1.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. हेनरी टी0 प्रिन्सेप, द ओरिजिन ऑफ द सिख पावर इन पंजाब एण्ड पॉलिटिकल लाइफ ऑफ रणजीत सिंह, मिलीट्री ऑफन प्रेस, कलकत्ता , 1834
2. जेसेफ, डी0 कनिंघम, 'ए हिस्ट्री ऑफ द सिख फ्रॉस द ओरिजिन ऑफ द नेश्ज्ञन टू द बैटल्स ऑफ द सतलज, जै0 मुर्रे, लन्दन 1849।
3. पटपन्त सिंह एण्ड ज्योती रे, 'एम्पायर ऑफ द सिख, द लाइफ एण्ड द टाइम्स ऑफ महाराजा रणजीत सिंह, पीटर ओवन पतलीश्ज्ञर, लन्दन, 2008
4. सर लेपेल ग्रीफ्रील 'रूलर्स ऑफ इण्डिया : रणजीत सिंह, क्लेरेन्डन प्रेस, ऑक्फोर्ड 1892।
5. जेम्स प्रिन्सेप, टिस्ट्री ऑफ द पंजाब एण्ड द राइज, प्रोगरेस एन्ड प्रेजेन्ट कन्डीश्ज्ञन ऑफ द सेक्ट एण्ड नेशन ऑफ द सिख, Vol-1 एच0 एलेन एण्ड कम्पनी, लन्दन, 1846।
6. खुशवंत सिंह, रणजीत सिंह महाराजा ऑफ द पंजाब, पेन्जवीन 2004।
7. खुशवंत सिंह, ' 6 फॉल ऑफ द किंग्डम ऑफ पंजाब' पेन्म्वीन ।
8. जीअन लॅाफन्ट ' महाराजा रणजीत सिंह : लॉड ऑफ द फाइव रिवर्स' , ऑक्फॉर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 2002।
9. करतार सिंह दुग्गल, महाराजा रणजीत सिंह द लास्ट टू लेय आर्म्स , अभनव पब्लीकेशन, 2001।

1.8 निबंधात्मक प्रश्न

प्रश्न 1 :– पंजाब में मिस्लों की राजनीति पर प्रकाश डालिये।

प्रश्न 2 :– सुकरचकिता मिस्ल के विकास पर एक संक्षिप्त नोट लिखे।

प्रश्न 3 :– रणजीत सिंह के पहले काश्मीर अभियान की विफलता के कारणों की चर्चा करें।

प्रश्न 4 :– अफगान शासकों तथा रणजीत सिंह के बीच संबंध पर एक निबंध लिखे।

प्रश्न 5 :– 1809 की सतलज संधि के पूर्व की राजनैतिक गतिविधियों का वर्णन करें जिन्होने इस संधि को आवश्यक बना दिय

ब्लॉक एक

इकाई दोः लार्ड डलहौजी

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 भारत का गवर्नर–जनरल बनने से पूर्व डलहौजी का जीवन

2.4 डलहौजी तथा वर्मा की समस्या

2.5 डाक्ट्रीन ऑफ लैप्स तथा देशी राज्यों का विलय

2.6 अवध का अधिग्रहण

2.7 डलहौजी द्वारा किए गए सुधार

2.8 निष्कर्ष

2.9 प्रश्न

2.10 डलहौजी तथा पंजाब का विलय

2.1 प्रस्तावना

17 वीं शताब्दी में शुरू होने वाले वाणिज्यिक पूंजी के दौर अथवा युग ने साम्राज्यवादी विस्तार की धारणा को मजबूती प्रदान की। इसने यूरोप के विभिन्न राष्ट्रों मुख्यतः पुर्तगाली व्यापारिक कम्पनी, डच, फ्रांस तथा ब्रिटिश इस्ट इण्डिया के बीच प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा दिया जिसका मुख्य उद्देश्य लैटिन अमेरिका, अफ्रिका तथा एशियाई देशों पर एकाधिकार स्थापित कर अधिक से अधिक मुनाफा कमाना था। हम कह सकते हैं कि व्यापारिक हित अपने आपको साम्राज्य के रूप में परिवर्तितकर चुका था। इस प्रतिद्वन्दिता ने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया था कि बगैर राजनैतिक प्रभाव तथा नियन्त्रण के आर्थिक हितों की पूर्ति संभव नही है। इस प्रकार व्यापारिक हित तथा विस्तारवादी नीति एक दूसरें के पूरक बन गए। यहॉ पर इस बात पर बल देना आवश्यक है कि राजनीतिक नियन्त्रण केवल अन्य

यूरोपिय शक्तियों के प्रतिद्धन्दिता से मुक्ति प्रदान नहीं करता बल्कि स्थानीय व्यापारियों को भी इस दौड़ से बाहर कर देता। अतः एकाधिकार ही 17वीं तथा 18वीं शताब्दी के व्यापारिक गतिविधि का मूल मंत्र था।

अगर हम भारत में यूरोपिय शक्तियों के आगमन की बात करें तो इसमें सबसे पहला स्थान पुर्तगाली व्यापारियों का है। 1948 में वास्को–डिगामा की भारत यूँ कहें कि कारिकल यात्रा ने भारत तथा यूरोपीय शक्तियों के बीच एक नए व्यापारिक सह– राजनैतिक रिश्तों के अध्याय की शुरूआत कर दी। अपने आरंभिक दौर में पूर्तगाली व्यापारी अन्य यूरोपिय व्यापारिक कम्पनियों की प्रतिद्वंद्विता से मुक्त थे, परन्तु यह विशेषाधिकार बहुत अधिक दिनों तक नहीं रह पाया तथा एशिया में डच व्यापारियों के प्रवेश ने व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता के युग की शुरूआत कर दी। पर जल्द ही ब्रिटिश इस्ट इण्डिया कम्पनी तथा कुछ ही समय बाद फ्रेंच इस्ट इण्डिया कम्पनी भी एकाधिकार स्थापित करने की इस दौड़ में शामिल हो गई। एकाधिकार स्थापित करने की मंशा इन यूरोपिय कम्पनियों के बीच लड़ाई का मूल कारण बनी। परन्तु अंत में वांडीवाश तथा कर्नाटक मुख्य रूप से तीसरे कर्नाटक युद्ध की विजय ने ब्रिटिश इस्ट–
इण्डिया कम्पनी को अन्य यूरोपिय कम्पनियों प्रतिद्वंद्विता से मुक्त कर दिया।

भारत के संदर्भ में ब्रिटिश कम्पनी की मंशा को लेकर विद्वानों के बीच मतभेद हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि कम्पनी आरम्भ से ही साम्राज्य स्थापित करने के उद्देश्य से भारत आयी थी। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि शुरूआत में कम्पनी का मुख्य ध्यान उसके व्यापारिक हितों पर था परन्तु एकाधिकार स्थापित करने की मंशा तथा भारत की आन्तरिक राजनीति द्वारा प्रदान किए गए अवसर ने उसे भारत का शासक बना दिया। परन्तु व्यापारिक पूंजी के दौर को देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यापारिक हित तथा राजनैतिक नियंत्रण अलग–अलग नहीं रह सकते बल्कि यह एक ही सिक्के के दो पहलू हैं तथा एक दूसरे के पूरक के रूप में कार्य करते हैं। भारत में उपनिवेशक विकास की प्रक्रिया इस तथ्य की पुष्टि भी करती है।

प्लासी के युद्ध से पहले की राजनैतिक तथा आर्थिक स्थिति का अध्ययन किया जाए विशेष रूप से अगर हम ब्रिटेन तथा भारत की तुलना करें तो निःसन्देह आर्थिक तथा राजनैतिक वातावरण भारत के पक्ष में था। ब्रिटेन को भारतीय वस्तुओं के आयात के बदले बुलियन अर्थात् सोना एवं चांदी का निर्यात करना पड़ता था, क्योंकि भारतीय बाजारों में ब्रिटिश वस्तुओं की मांग लगभग न के बराबर थी। प्लासी के युद्ध ने इस स्थिति को नाटकीय ढंग से बदल दिया। अब कम्पनी भारतीय उत्पादों में बंगाल से ही प्राप्त राजस्व से खरीदकर यूरोपिय बाजार में बेचने लगी। अतः इस युद्ध ने न केवल भारत को कम्पनी से प्राप्त होने वाले बुलियन पर रोक लगा दी बल्कि इसने भारतीय धन की निकासी का मार्ग प्रशस्त कर दिया। अगर हम इस संदर्भ में प्लासी के युद्ध के कारणों की जांच करें तो पाएंगे कि इसका मुख्य कारण बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला द्वारा कम्पनी के अधिकारियों के द्वारा किए जाने वाले मुक्त व्यापार को बढ़ावा देने के लिए भारतीय व्यापारियों को भी कर–मुक्त व्यापार का अधिकार प्रदान किया तो कम्पनी ने उसे नवाब के पद से हटा कर उसके विरूद्ध युद्ध छेड़ दिया। अतः प्लासी के युद्ध के बाद व्यापार के एकाधिकार का अर्थ केवल यूंरोपिय कम्पनियों के विरूद्ध एकाधिकार नही था बल्कि विशेषाधिकार के बल पर भारतीय व्यापारियों को भी इस व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता से बाहर रखना था ताकि भारत से तथा भारत में किए जाने वाले व्यापार का लाभ केवल कम्पनी तथा उसके अधिकारियों को ही प्राप्त हो सके। कम्पनी का यह उद्देश्य बगैर राजनैतिक सत्ता हासिल किए प्राप्त नहीं हो सकता था। अतः यह कहना कि कम्पनी द्वारा भारत पर अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करना था, स्वयं शासक बन जाना कोई सुनियोजित घटना का परिणाम नही था, बल्कि

कम्पनी केवल उन अवसरों का लाभ उठा रही थी जो भारत की आन्तरिक राजनीति ने उसे प्रदान किया, पूर्ण रूप से सही प्रतीत नही होता है। सच तो यह है कि कम्पनी ने भारत की आन्तरिक राजनिति में हस्तक्षेप कर अपने पक्ष में वातावरण तैयार किया और परिणाम हमें प्लासी के युद्ध के बाद कम्पनी द्वारा खुले रूप से अपनाई गई उसकी साम्राज्यिक विस्तार की नीति में दिखता है। 1748 में लार्ड डलहौजी के भारत का वायसराय बनने से पूर्व कम्पनी ने भारत के अधिकांश क्षेत्रों को था तो सीधे नियंत्रण में ला दिया था या फिर उस पर अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। जहां एक ओर अपनी विस्तारवादी नीति के कारण कम्पनी सरकार ने स्थानीय शासकों तथा जमींदारों को अपना विरोधी बना दिया था वहीं दूसरी ओर इसकी सैनिक, प्रशासनिक, धार्मिक तथा राजस्व नीति ने न केवल सैनिक तथा किसानों बल्कि आम भारतीय जनमानस के दिल में कम्पनी शासन के विरूद्ध नफरत पैदा कर दी थी। इसी नफरत के परिणाम के रूप में 1857 का विद्रोह सामने आता है। इस विद्रोह ने ब्रिटिश संसद तथा महारानी को भारत के संदर्भ में अपनी नीति बदलने पर मजबूर कर दिया और अंततः कम्पनी शासन समाप्त कर महारानी ने भारत के प्रशासन को सीधे ब्रिटिश संसद के अन्दर ला दिया।

1857 के विद्रोह तथा कम्पनी राज की समाप्ति के संदर्भ में डलहौजी की भूमिका का आलोचनात्मक परिक्षण जरूरी है। यह माना जाता है कि डलहौजी की अक्रामक विस्तारवादी नीति ने कम्पनी शासन के विरूद्ध लगभग सदी से पनप रहे गुस्से में आग में घी डालने का काम किया तथा उसकी अधिग्रहण की नीति ने स्थानीय शासकों को कम्पनी के विरूद्ध संगठित होने का अवसर प्रदान कर दिया। 1857 के विद्रोह में यही अपदस्त शासक तथा जमींदार थे जिन्होंने भारतीय विद्रोही सिपाहियों को नेतृत्व प्रदान किया। अतः इस इकाई में हम मुख्य रूप से डलहौजी की अधिग्रहण की नीति की चर्चा करेंगे। साथ ही साथ शिक्षा, रेलवे तथा अन्य क्षेत्रों में डलहौजी द्वारा किए गए सुधार भी हमारी चर्चा का विषय होंगे। अंत में हम लार्ड डलहौजी के अंतिम दिनों की गतिविधियों पर प्रकाश डालने की कोशिश करेंगे।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य एक ऐसे व्यक्ति की राजनैतिक गतिविधियों को समझना है जिसके शासन की संपूर्ण नीति साम्राज्यवादी विचारधारा से ग्रसित थी। इस इकाई में हमारा उद्देश्य डलहौजी के जीवन से जुड़े विभिन्न पहलुओं का आलोचनात्मक परिक्षण करना होगा तथा हम यह भी समझने की कोशिश करेंगे की उनकी नीतियों ने भारत के सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन को किस प्रकार प्रभावित किया। यहॉ हमारा उद्देश्य देसी रियायतों की स्थानीय राजनीति को समझना है तथा उन परिस्थितियों का भी विश्लेषण करना है, जिसने इन राज्यों को डलहौजी की साम्राज्यवादी नीति का शिकार बना दिया। हमारा उद्देश्य इस तथ्य का भी बारीकी से अध्ययन करना है कि स्थानीय राजनीति ने डलहौजी की विस्तारवादी नीति के संदर्भ में स्थानीय राजनीति की क्या प्रतिक्रिया थी। हमारा उद्देश्य इस समय के बदलते सामाजिक तथा राजनैतिक वातावरण का भी विश्लेषण करना है जो कम्पनी शासन के अन्त का कारण बना। अन्त में इस इकाई का उद्देश्य डलहौजी द्वारा किए गए उन सुधारों पर भी ध्यान देना है जिसने उन्हें एक महान प्रशासक के रूप में स्थापित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

2.3 भारत का गवर्नर–जनरल बनने से पूर्व डलहौजी का जीवन

डलहौजी का जन्म 1812 ई0 में इडनवर्ग के पास स्थित उनके पुस्तैनी कैसल में होता है। उनके पिता जॉर्ज डलहौजी स्वयं एक वरिष्ठ अधिकारी थे। जॉर्ज डलहौजी ने वाटरलू के युद्ध में अच्छी ख्याती

अर्जित की थी। लार्ड डलहौजी के जन्म के कुछ वर्ष बाद उनके पिता कनाडा चले गये। अतः बचपन के कुछ अनमोल पल लार्ड डलहौजी ने कनाडा में ही बिताया। शायद यही कारण था कि कनाडा हमेशा उन्हें अपनी ओर आकर्षित करता रहा। डलहौजी ने सबसे अधिक किसी देश की यात्रा की तो वह कनाडा था। कुलीन परिवार की छवी उनके जीवन पर हमेशा बनी रही और अगर उनके मित्रों द्वारा दिए गए वक्तव्यों पर भरोसा किया जाए तो हम कह सकते हैं कि जॉर्ज डलहौजी को अपने वंश पर स्वयं द्वारा अर्जित की गई व्यक्तिगत ख्याती से कहीं अधिक गर्व था। कुलीन परिवार में जन्म लेने के कारण उन्हें अच्छी शिक्षा का अवसर प्राप्त हुआ परन्तु यह बात अलग है कि उन्होंने स्वयं को हमेशा एक अच्छा स्टूडेन्ट सिद्ध किया। स्कूल के बाद विश्वविद्यालय में भी उन्होंने अपनी दक्षता सिद्ध की। उनके मित्र डॉ0 लिडल का कहना था, ''डलहौजी अपना कार्य पूरी ईमानदारी तथा धैर्य के साथ करते थे।'' 1832 में अपने भाई लार्ड रामसेय के बिमार होने के बाद उन्होंने कुछ समय के लिए ऑक्सफोर्ड छोड़ दिया तथा घर आकर उन मुश्किल दिनों में अपने परिवार का साथ दिया।

1832 के आम चुनाव से लार्ड डलहौजी के राजनैतिक जीवन की शुरूआत होती है। इडनवर्ग शहर से उन्होंने चुनाव लड़ने का निर्णय लिया जो कि एक जोखिम भरा निर्णय था क्योंकि वहॉ डलहौजी दो प्रसिद्ध नेताओं सर जॉन कैम्बल तथा जेम्स एबरक्रोमी के विरूद्ध चुनाव में खड़े थे। यद्यपि, जिसकी पहले से ही आंशका थी, वह चुनाव में पराजित हुए परन्तु हुए परन्तु उनके भाषणों ने न केवल उनके समर्थकों बल्कि राजनैतिक विरोधियों को भी आश्चर्यचकित कर दिया। इस प्रकार अपने राजनैतिक जीवन के पहले अवसर में ही डलहौजी ने अपने लिए एक अलग स्थान बना लिया था। अपने पहले ही चुनाव में जिस राजनैतिक परिपक्वता की छाप उन्होंने छोड़ी उसका फल उन्हें बहुत जल्द ही मिलने वाला था। 1837 में हुए आम चुनाव में वह हेडिन्गटन से विजयी घोषित हुए। अपनी राजनैतिक समझदारी तथा किए गए कार्यों के बल पर उन्होंने जल्द ही हाउस ऑफ कॉमन्स में भी प्रवेश कर लिया। दुर्भाग्यवश उनका हाउस ऑफ कॉमन्स का कार्यकाल लम्बा नही रहा तथा 1838 में अपने पिता की मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारी के तौर पर डलहौजी ने हाउस ऑफ लार्डस की सदस्यता ग्रहण कर ली। कुछ ही समय बाद 1839 में उनकी माता का भी देहान्त हो गया।

1843 में डलहौजी बोर्ड ऑफ ट्रेड के उपाध्यक्ष का पद ग्रहण करते हैं। 1845 में ग्लैंडस्टोन द्वारा अध्यक्ष पद से त्याग पत्र देने के बाद डलहौजी ने उनकी जगह ले ली और इस प्रकार कैबीनेट में उनका प्रवेश होता है। बोर्ड ऑफ ट्रेड के अध्यक्ष होने की वजह से सरकार द्वारा नियुक्त रेलवे कमीशन की भी अध्यक्षता उन्हें ग्रहण करनी पड़ी। उस समय ब्रिटेन में रेल सेवा की स्थिति बहुत अच्छी नही थी। यातायात के साधनों विशेष तौर पर रेलवे की स्थिति की जॉच के लिए लार्ड डलहौजी ने एक विभाग का भी गठन किया। कठिन परिश्रम के बाद तैयार की गई रेलवे सुधार से संबन्धित उनकी योजना का कोई भविष्य नहीं था क्योंकि उन योजनाओं को अमली जामा पहनाकर उसे लागू करने की हिम्मत शायद पील सरकार में नहीं थी। डलहौजी चाहते थे कि ब्रिटिश रेलवे सिधे सरकार के नियन्त्रण में हो तथा इसके प्रबन्धन की जिम्मेदारी भी सरकार की ही हो। अर्थात् डलहौजी रेलवे के नीजिकरण के विरोधी थे तथा व्यक्तिगत एवं निजी कम्पनियों के हितों के विरूद्ध वह सरकारी तंत्र को मजबूती प्रदान करना चाहते थे। परन्तु ऐसे समय में जब इंग्लैण्ड में निजी संपत्ति की धारणा अपने चरम पर थी, सरकार डलहौजी के सुझाओं को स्वीकार करने का जोखिम नहीं उठा सकती थी। तमाम बांधाओं के बावजूद डलहौजी ने रेलवे की संरचना में महत्वपूर्ण सुधार किए। डलहौजी के कार्यों इमानदारी तथा निष्ठा से प्रभावित होकर पील ने उन्हें स्कॉटलैण्ड की जिम्मेदारी सौंप दी। इसी बिच जॉन रसल ब्रिटेन के प्रधानमंत्री बनते हैं। डलहौजी की प्रतिभा ने नए प्रधानमंत्री को बहुत अधिक प्रभावित किया और शायद यही कारण था कि रसल चाहते थे कि लार्ड हाडिंग के बाद लार्ड डलहौजी

उनके स्थान पर भारत के गवर्नर जनरल का पद ग्रहण करें। प्रधानमंत्री द्वारा दिए गए प्रस्ताव को लेकर डलहौजी बहुत दुविधा में थे और इसका मुख्य कारण ब्रिटेन की राजनीति को लेकर उनकी राजनैतिक महत्वकांक्षा थी। उन्हें इस बात की संभावना दिख रही थी कि अगर वह ब्रिटेन की राजनीति में ही अपना भविष्य तलाशें तो शायद वो दिन दूर नही जब वह इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री के पद तक पहुॅच सकते हैं। उन्हें इस बात का भय था कि घरेलू राजनीति से अलग होकर यदि वह भारत के गवर्नर जनरल का पद स्वीकार कर लेते हैं तो उनके राजनैतिक भविष्य में एक ठहराव आ जाएगा। उन्हें राजनैतिक वास्तविकता की एक अच्छी समझ थी और यह अंदेशा था कि अगर भारत के गवर्नर जनरल के पद से जब सेवा–निवृत्त होकर जब वह ब्रिटेन पहुॅचेंगे तो उनकी राजनैतिक हैसियत वैसी नही होगी जैसी कि आज है और उनका ब्रिटेन के प्रधानमंत्री बनने का सपना एक कल्पना मात्र बनकर रह जाएगा। यद्यपि अपने राजनैतिक भविष्य को लेकर वह चिंतित जरूर थे परन्तु साथ ही साथ अपने आर्थिक स्थिति की वास्तविकता से भी वह पूरी तरह परिचित थे। माँ की ओर से प्राप्त जागीर गिरवी थी तथा पिता की ओर से प्राप्त संपत्ति की कुल वार्षिक आय 1,500 से अधिक नहीं थी, जबकि दूसरी ओर अगर वह भारत के गवर्नर जनरल का पद स्वीकार कर लेते हैं तो उन्हें वेतन के रूप में 2,500 पाउंड प्रति वर्ष मिलेगा। अंततः डलहौजी ने प्रधानमंत्री का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और वह भारत के गवर्नर जनरल का पद ग्रहण करने के लिए तैयार हो गए। डलहौजी के रिश्तेदार उनके इस निर्णय से अधिक प्रसन्न नही थे यहॉ तक कि उनकी आन्टी ने उन्हें पत्र लिखकर कहा, '' यद्यपि तुम्हारे इस निर्णय से मैं प्रसन्न नही हूॅ फिर भी इस अवसर पर तुम्हें बधाई देती हूॅ।'' और इस प्रकार नवम्बर 1847 में वह भारत के लिए रवाना हो गए।

2.4 डलहौजी तथा पंजाब का विलय

12 जनवरी 1848 ई0 में डलहौजी कलकत्ता पहुॅचते हैं जहॉ उनका भव्य स्वागत होता है। रंजीत सिंह की मृत्यु के बाद पंजाब की राजनीतिक अराजकता की चरम सीमा छुने लगी। इस राजनैतिक उथल–पुथल ने रंजीत सिंह के उत्तराधिकारी कुरूक सिंह तथा उनके पुत्र नव निहाल सिंह की बली ले ली। सिख तथा डोगरा के बीच सत्ता का संघर्ष जिसे रंजीत सिंह नियंत्रित करने में सफल रहे एक बार फिर राजनैतिक पटल पर साफ दिखाई देने लगा था। पंजाब, जिसे ब्रिटिश रूस की विस्तारवादी नीति से ब्रिटिश भारत को सुरक्षित रखने के लिए 'बफर स्टेट' की तरह स्तेमाल करते थे, की ऐसी राजनैतिक अराजकता निःसन्देह ब्रिटिश सरकार के लिए चिंता का विषय था। इसमें कोई शक नही कि ब्रिटिश सरकार पंजाब से सम्बन्धित अपनी नीति में परिवर्तन चाहती थी, तथा पंजाब पर अपने नियन्त्रण को और अधिक मजबूती प्रदान करना चाहती थी। इस बदलते राजनैतिक वातावरण ने प्रथम आंग्ल–सिख युद्ध ने पंजाब की राजनैतिक तथा सैनिक शक्ति को बहुत अधिक कमजोर कर दिया। अब इसकी स्वतंत्र राजनैतिक हैसियत ब्रिटिश सरकार के रहमो–करम की मोहताज हो गई। यद्यपि कहने के लिए पंजाब अभी भी एक स्वतन्त्र राज्य था परन्तु वास्तविकता यह थी कि इसकी नीति ब्रिटिश हुकूमत द्वारा ही निर्देशित की जाती थी। यद्यपि हार्डिंग ने प्रथम आंग्ल–सिख युद्ध के बाद सिख राज्य की सैनिक शक्ति को नियंन्त्रित कर दिया था परन्तु उनके संगठित होने का डर बना हुआ था। डलहौजी इस भय को पूरी तरह से समाप्त करना चाहता था। डलहौजी की राजनैतिक महत्वकांक्षा को सिख सरदारों के विद्रोहों ने अवसर प्रदान किया।

दिसम्बर 1847 में जब हेनरी लॉरेन्स ने जब पंजाब–बड़ोदा, पंजाब की राजनैतिक स्थिति पूरी तरह से अंग्रेजों के नियन्त्रण में थी तथा पूरे क्षेत्र में राजनैतिक स्थिरता तथा शान्ति बनी

हुई थी। परन्तु शान्ति के यह बादल पंजाब की राजनीति में बहुत अधिक दिनों तक नहीं टिकने वाले थे और हिंसा की की पहली खबर अप्रैल 1848 में मूलतान से आती है। जब एण्डरसन समेत दो अन्य ब्रिटिश अधिकारियों को मूलतान के गवर्नर मूलराज के सैनिकों ने मार डाला। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि इस र राजनैतिक हिंसा में मूलराज की भी सहमति थी। मूलराज ने शिघ्र ही सत्ता के इस संघर्ष को धार्मिक रूप प्रदान करते हैं। अंग्रेजों के विरूद्ध धर्म–युद्व का एलान कर दिया। इस प्रकार मूलतान से अंग्रेजों के विरूद्ध विद्रोह की शुरूआत हो जाती है। सैनिक समाधान को अंतिम विकल्प मानते हुए नए गवर्नर जनरल ने स्थानीय सैनिक अधिकारियों को तुरन्त कारवाई करने का आदेश दिया।

चार माह के भीतर ही पूरी सैनिक तैयारी के साथ मूलतान की घेराबंदी शुरू हो गई, परन्तु मौजुदा स्थिति ने यह साफ कर दिया की आने वाला समय अंग्रेजों के लिए बहुत आसान नहीं होने वाला था। जिस प्रकार इस विद्रोह को धार्मिक रूप प्रदान किया गया बहुत सारे सरदार जो अंग्रेजों के मित्र थे ने विद्रोही सेना को अपना समर्थन देना शुरू कर दिया। विद्रोह जिसकी शुरूआत मूलतान से हुई जल्द ही इसने सारे पंजाब को अपने चंगुल में ले लिया। ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीति तथा शोषण ने किसानों को विद्रोही सेना का हमर्दद बना दिया। धार्मिक नारों के साथ किसान भी अब ब्रिटिश सेना के साथ खड़े हो गए। यद्यपि स्थिति की गंभीरता को समझते हुए डलहौजी ने कूटनीति मार्ग अपनाने की कोशिश की, और इस तथ्य पर बल देने की कोशिश की, कि मूलराज मुख्य रूप से लाहौर की सिख सेना का विद्रोही है न कि ब्रिटिश हुकूमत का। डलहौजी की इस चाल से धार्मिक सहानुभूति जो विद्रोही सेना को प्राप्त हो रही थी, उसे रोका जा सकता था, परन्तु यह विद्रोह जिस तीव्रता के साथ ग्रामीण क्षेत्रों में फैलने लगा डलहौजी की कूटनीतिक पहल लगभग विफल हो गई। इस विद्रोह की व्यापकता ने यह साफ कर दिया कि दूसरे आंग्ल विष्व युद्ध की संभावना को और लम्बे समय तक टाला नहीं जा सकता और समय आ गया है जब पंजाब की संप्रभुत्ता को समाप्त कर इसे पूर्ण रूप से ब्रिटिश सरकार का हिस्सा बना दिया जाय। डलहौजी पंजाब की समस्या पर अपना पक्ष स्पष्ट करते हुए कहते हैं ''मूलराज के विद्रोह से उनका कोई संबंध नहीं होना चाहिए था क्योंकि यह विद्रोह मुख्य रूप से लाहौर को सिख सरकार के विरूद्ध माना जा सकता था। उनकी कोई मंशा नही थी कि वह विदेष राज्य के राजनीतिक संकट को दूर करने के लिए स्वयं हथियार उठाए। परन्तु जिस प्रकार इस विद्रोह ने सिख आबादी को मुख्य रूप से ब्रिटि हुकूमत के विरूद्ध खड़ा कर दिया तथा सिख सरदार जिनसे हमारी संधि थी वो भी इस विद्रोह को धार्मिक रूप देकर हमारे विरूद्ध खड़े हो गए। यहां तक कि लाहौर की सरकार ने भी जिस प्रकार राजनैतिक लाभ उठाने के लिए इस अराजकता को हवा दी, हमारे पास सैनिक कारर्वाई के अलावा और कोई दूसरा विकल्प नहीं बचा था। डलहौजी स्वयं पंजाब पहुँचाता है। सैनिक अभियान की कमान गफ के हाथ में रहती है। 1849 के पहले माह में ही अंग्रेजी सेना मूलतान पर कब्जा कर लेती है। डलहौजी ने यह घोषणा की कि सिख तथा अफगानी सेना की शक्ति को पूरी तरह कुचलने के बाद ही इस युद्ध का अन्त होगा। मार्च के अंत तक लगभग 20,000 सिख सैनिकों ने आत्म–समर्पण कर दिया। 29 मार्च 1849 के दिन यह निर्णय लिया गया कि दलीप सिंह के द्वारा शासित क्षेत्रों का भारत के ब्रिटिश साम्राज्य के साथ विलय कर दिया जाएगा और इस प्रकार रंजीत सिंह द्वारा स्थापित साम्राज्य का अंत हो जाता है और पांच नदियों वाला यह प्रदेश ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा बन जाता है।

2.5 डलहौजी तथा बर्मा की समस्या

पंजाब का विलय डलहौजी के शासनकाल के दौरान विभिन्न राज्यों तथा देशी रियासतों का ब्रिटिश भारत में विलय की जो शुरूआत हुई, इस श्रृंख्ला को पहली कड़ी मात्र थी। इस श्रृंखला में अगला

नम्बर वर्मा का आने वाला था। पूर्व के क्षेत्र में शुरू किए गए सैनिक अभियान का मुख्य उद्देश्य सिक्किम के राजा को सबक सिखाना था। 1849 में सिक्किम की यात्रा के दौरान दो ब्रिटिश अधिकारी तथा एक वैज्ञानिक का अपहरण कर लिया गया था। बावजूद इस तथ्य के कि कैम्बल तथा हूकंर दोनों ने ही सिक्किम की अपनी यात्रा के लिए वहॉ के राजा से अनुमति ले ली थी। इस प्रकार का राजनैतिक अपहरण ब्रिटिष सत्ता को चुनौती देने जैसा था। डलहौजी ने पूरी शक्ति के साथ इसका उत्तर देने का निर्णय लिया जिसके परिणामस्वरूप सिक्किम के कुछ पहाड़ी क्षेत्रों को सैनिक षक्ति के बल पर ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया।

द्वितीय आंग्ल–वर्मा युद्ध के बीज पहले आंग्ल–वर्मा युद्ध के बाद संपन्न ही मानवदान की संधि में छुपी हुई थी। इस संधि के बाद न केवल ब्रिटिश व्यापारियों को रगून में स्थापित किया गया बल्कि अधिक अपमानजनक रूप से एक ब्रिटिश रेसिडेन्ट को वर्मा के राजा की इच्छा के विरूद्ध वर्मा की राजधानी अवा में नियुक्त किया गया। रेसिडेंट द्वारा विभिन्न नीतियों में किए जाने वाले हस्तक्षेप को वहां का राजा अपने लिए अपमान की बात समझता था । इस प्रकार की नियुक्ति उसकी संप्रभुता पर निष्चित तौर पर प्रष्न चिन्ह लगाती थी। कंपनी सरकार चाहती थी कि इरावदी डेल्टा जिस पर रंगून स्थित था, पर अपना प्रभाव बनाए रखे। 1837 में वर्मा में राजनैतिक हिंसा का दौर षुरू होता है। खूनी संघर्ष के बाद 1857 में सत्ता प्राप्त करने वाले नए षासक ने 1826 में हुई मानदाबू संधि की अवहेलना करनी षुरू कर दी। ब्रिटिष रेसिडेन्ट को राजधानी अवा से निकाल दिया गया जिसे रंगून में जाकर षरण लेनी पड़ी। 1840 में औपचारिक तौर पर रेसिडेन्ट की नियुक्ति को अवैध घोषित कर दिया गया। इतना ही नहीं रंगून स्थित कम्पनी के व्यापारियों को भी वर्मा की सरकार के नकारात्मक व्यवहार को झेलना पड़ रहा था। भारत की कम्पनी सरकार तथा वर्मा की सरकार के बीच कूटनीतिक संबधं लगभग समाप्त हो गया था। कम्पनी सरकार के साथ की गई संधि की पूर्ण अवहेलना डलहौजी के लिए न केवल राजनैतिक बल्कि व्यक्तिगत अपमान का विषय बन चुकी थी। अब उसने पूरी षक्ति के साथ एक नौसैनिक अधिकारी को रंगून भेजा जहॉ उसका मुख्य कार्य ब्रिटिश व्यापारियों की समस्या की जांच करना तथा व्यापारियों के आर्थिक नुकसान को भरने के लिए वर्मा की सरकार से रु0–9,000 का जुर्माना वसूल करना था। ब्रिटिश अधिकारी क` कई प्रयासों के बावजूद जब रंगून का गवर्नर उससे नहीं मिला तब डलहौजी ने सैनिक कारर्वाई को अंतिम विकल्प के तौर पर इस्तेमाल किया। डलहौजी, जो वर्मा के एक बड़े क्षेत्र को अपने कब्जे में करना चाहता था, ने वर्मा सरकार के सामने अपनी शर्तों को भी बदल दिया। अब उसने न केवल रंगून के गवर्नर को हटाने की बात की बल्कि हर्जाने की रकम रु0 9,000 से बढ़ाकर 1 मिलियन कर दिया। उसने यह भी षर्त रखी कि ब्रिटिश रेसिडेन्ट के विरूद्ध किए जाने वाले अपमानजनक व्यवहार के लिए वर्मा का राजा स्वयं माफी मॉगे। गवर्नर के हटाए जाने की मांग तो वर्मा की सरकार ने मान ली लेकिन 10 लाख रु0 का जुर्माना तथा राजा द्वारा स्वयं माफी मांगने वाली शर्त किसी भी संप्रभु शासक को मंजूर नहीं हो सकती थी। इतना ही नही डलहौजी ने जुर्माने की शर्त में 15 लाख रु0 और जोड़ दिए। 1852 में सैनिक अभियान की शुरूआत होती है। डलहौजी ने वर्मा की समस्या को कम्पनी के बोर्ड ऑफ डाइरैक्टर्स के सामने इस प्रकार प्रस्तुत किया कि यह राष्ट्रीय अपमान का प्रश्न बन गया। जल्द ही रंगून समेत इरावदी डेल्टा ब्रिटिश सैनिकों के कब्जे में आ गया। रंगून में स्थित पगौड़ा में मौजूद सोने से बनी बुद्धा की मूर्तियों को ब्रिटिश सैनिकों ने अपने कब्जे में कर लिया। 1852 कें अंत में पेगू पर भी ब्रिटिश सैनिकों का कब्जा हो गया। पेंगू पर नियन्त्रण स्थापित करने के बाद डलहौजी ने लोअर वर्मा का ब्रिटिश साम्राज्य में विलय की समाप्ति की भी घोषणा हो गई। इस प्रकार लोअर वर्मा अब ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा बन जाता है।

2.6 डॉक्ट्रीन ऑफ लैप्स तथा देवी राज्यों का विलय

पंजाब तथा वर्मा पर की गई सैनिक कार्रवाई के साथ ही डलहौजी ने अपनी मंषा स्पष्ट कर दी थी। भले ही डलहौजी किसी विस्तारवाद नीति की मंशा के साथ भारत नहीं आए हों परन्तु घरेलु राजनीति ने प्रशासक जरूर बना दिया। यह भी कहना पूरी तरह से सही नही होगा कि डलहौजी केवल आन्तरिक राजनीति द्वारा प्रदान किए गए अवसरों का केवल सीमावर्ती क्षेत्रों में साम्राज्य के विस्तार से संतुष्ट नहीं थे और इस क्रम में सतारा, झांसी, नागपुर, तथा कई अन्य देसी रियासतों का ब्रिटिश साम्राज्य में विलय कर लिया गया। अपने मंसूबों को अमली जामा पहनाने के लिए डलहौजी ने डॉक्ट्रीन ऑफ–लैप्स को अपना हथियार बनाया। इस नए सिद्धान्त के अनुसार अगर किसी देसी रियासत का शासक बगैर किसी जायज उत्तराधिकारी अर्थात् अपने वंश के किसी पुरूष वंशज को जन्म दिए बगैर मर जाता है तो कानूनी तौर पर उसकी रियासत पर ब्रिटिश सरकार का कब्जा हो जाएगा, अर्थात् उस राज्य को औपचारिक तौर पर ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा बना लिया जाएगा। इस सिद्धान्त के अनुसार गोद लिया हुआ पुत्र जायज उत्ताधिकारी नहीं हो सकता है। डॉक्ट्रीन ऑफ लैप्स ने भारत की राजनीति में एक हलचल सी मचा दी। इसने राज्यों के अस्तित्व और नाम भर की संप्रभुता को भी पूरी तरह से समाप्त कर दिया। डॉक्ट्रीन ऑफ लैप्स के अनुसार डलहौजी ने सबसे पहले सतारा को अपने साम्राज्य में मिला लिया। यह कहा जा सकता है कि सतारा के विलय की साजिष 1839 से ही षुरू हो गई थी जब वहॉ के राजा पर अंग्रेजी हुकूमत के विरूद्ध षड़यन्त्र का आरोप लगाया। राजा के विरूद्ध कानूनी कार्रवाई शुरू की गई जिसमें उसे दोषी माना गया। राजा ने बार–बार अनुरोध किया कि उसे निष्पक्ष सुनवाई का अवसर प्रदान किया जाए, परन्तु ब्रिटिश सरकार ने इसे ठुकरा दिया। अंततः राजा को उसके राज्य से निकाल दिया गया और उसके स्थान पर उसके भाई अप्पा साहेब को राजा घोषित कर दिया। 1848 में राजा की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार की समस्या उत्पन्न हो गई। अप्पा साहेब ने अपनी मृत्यु से पहले अपने दत्तक पुत्र को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया, परन्तु ब्रिटिश सरकार ने दावे को पूरी तरह से नकार दिया। इस प्रकार डलहौजी ने डॉक्ट्रीन ऑफ लैप्स का इस्तेमाल कर सतारा राज्य का ब्रिटिश साम्राज्य में विलय कर लिया।

डॉक्ट्रीन ऑफ लैप्स के अन्तर्गत डलहौजी द्वारा सबसे बड़े क्षेत्र का विलय नागपुर के रूप में होता है। यद्वपि तृतीय आंग्ल–मराठा युद्ध ने मराठा षक्ति को पूरी तरह से समाप्त कर दिया था परंतु कम्पनी सरकार ने अभी भी इसका पूर्ण रूप से ब्रिटिश साम्राज्य में विलय नही किया था। 1853 में नागपुर के शासक की मृत्यु के बाद वहां भी वैद्य उत्तराधिकार की समस्या उत्पन्न होती है। यद्यपि नागपुर स्थित ब्रिटिष रेसिडेन्ट राजा की विधवा की अनुमति के साथ गोद लिए गए पुत्र को उत्तराधिकारी घोषित कर इस अधिकार की समस्या को समाप्त करना चाहता था परन्तु लार्ड डलहौजी इस बात पर सहमत नही हुआ। गवर्नर–जनरल ने राजा की निजी सम्पत्ति (जागीर तथा आभूषण) उनके परिवार के हवाले कर डॉक्ट्रीन ऑफ लैप्स के नियम के तहत नागपुर राज्य का ब्रिटिश साम्राज्य में विलय कर लिया। कुछ ब्रिटिश अधिकारियों जिसमें केथ भी षामिल है का मानना था कि पेषवा बाजीराव के दत्तक पुत्र नाना साहिब के साथ जो अनुचित व्यवहार किया और पेंशन आदि मामलों में जिस कठोरता से काम लिया यह षायद 1857 के विद्रोह का मुख्य कारण बना। अगर डलहौजी संयम से काम लेते तो नागपुर जैसे विषाल एवं सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्र में षायद कम्पनी की सरकार को विद्रोह का सामना नही करना पड़ता। डलहौजी की गलत नीति के कारण विद्रोही नाना साहिब के झण्डे के नीचे तमाम मराठा विद्रोही संगठित हुए।

अगर डलहौजी राजनीतिक समझ का इस्तेमाल करते तो शायद 1857 के विद्रोह को कम से कम नागपुर जैसे सामरिक रूप से महत्वपूर्ण क्षेत्र में टाला जा सकता था।

झॉसी की स्थिति भी अन्य देवी रियासतों सें बहुत अलग नहीं थी। यद्यपि झांसी औपचारिक रूप से ब्रिटिश सरकार अथवा साम्राज्य का हिस्सा नही था परन्तु हैद्राबाद तथा नागपुर जैसे आंषिक रूप से स्वतन्त्र राज्यों की तरह ही यह राज्य भी अंग्रेजी हुकूमत के प्रभाव में था। यहां उत्तराधिकार की समस्या 1853 में शरू हुई जब महाराजा गंगाधर राव ने बिमारी के कारण बिस्तर पकड़ लिया। उनका कोई पुत्र नहीं था। उन्होंने ब्रिटिश रेसिडेन्ट को एक पत्र लिखकर हालात से अवगत कराया। पत्र में वह बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि ''मैं बहुत बिमार हूँ। झॉसी तथा अंग्रेजी सरकार के बीच हुई संधि के अनुच्छेद–2 के अनुसार मैं एक पॉच वर्ष के लड़के दामोदर गंगाधर राव को गोद ले रहा हूँ। मेरी मृत्यु के बाद रानी के संरक्षण में इसे मेरा उत्तराधिकारी घोषित कर दिया जाए। मैं आषा रखता हूँ कि मेरे दत्तक पुत्र तथा मेरी रानी को किसी प्रकार की परेषानी का सामना नहीं करना पड़ेगा।''

अतः गंगाधर राव ने अपनी मृत्यु से पहले ही उत्तराधिकार की समस्या को सुलझाने की कोषिष की। डलहौजी, जिसने देसी रियासतों के विलय से सम्बन्धित बहुत स्पष्ट नीति पहले से ही बना रखी थी, ने महाराजा गंगाधर राव के अनुरोध को ठुकरा दिया तथा उनकी मृत्यु के बाद झांसी के पूर्ण विलय की घोषणा कर दी। महारानी ने ब्रिटिश अधिकारियों से कई बार इस संबन्ध में अनुरोध किया, परन्तु उन्हें विफलता ही हाथ लगी और इस प्रकार झांसी का भी विलय ब्रिटिश साम्राज्य में हो गया। डलहौजी ने डॉक्ट्रीन ऑफ लैप्स का इस्तेमाल कर कई छोटे–बड़े राज्यों को बहुत ही अनैतिक ढंग से ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा बना लिया। परन्तु कम्पनी सरकार के आकलन के विपरित डलहौजी की नीतियों, विशेषकर उसकी विलय की नीति की कीमत कम्पनी सरकार को अपने शासन के अंत से चुकानी पड़ी। यही अपदस्त षासक थे जिन्होंने 1857 के विद्रोह को नेतृत्व प्रदान किया।

2.7 अवध का अधिग्रहण

डलहौजी ने पंजाब के साथ राज्यों के विलय की जिस नीति की शुरूआत की उसका अंतिम पड़ाव संकेतिक रूप से महत्वपूर्ण राज्य अवध था। अवध के विलय को लेकर जिस राजनैतिक अनैतिकता की सीमा को लार्ड डलहौजी ने लांगा, कम्पनी सरकार के विरूद्ध लगभग तमाम हिन्दी प्रदेशों में लोगों का आक्रोश और अधिक बढ़ गया। अवध की सरकार पर कम्पनी ने कुशासन का आरोप लगाया। कुशासन के बहाने की शुरूआत लार्ड डलहौजी के गवर्नर जनरल बनने से काफी पहले हो चुकी थी विलय की पहली चेतावनी अवध के षासक को 1831 में लार्ड बेन्टिक की तरफ से मिली। कुशासन के नाम पर अवध के विलय की दूसरी धमकी 1837 में गवर्नर जनरल ऑक्लैण्ड की तरफ से मिली। इस बार धमकी को कानूनी रूप प्रदान किया गया। इस बार ऑक्लैण्ड ने अवध के राजा के साथ एक नई संधि की। संधि मकें मौजूद अनुच्छेद 7 के अनुसार यदि अवध का शासक अपने द्वारा शासित जनता को एक अच्छा षासन प्रदान नही करता है तथा जनता उसके षासन से प्रसन्न नही है तो कम्पनी सरकार को यह अधिकार होगा कि वह अवध का पूर्ण रूप से ब्रिटिश साम्राज्य में विलय कर ले। 1847 में तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिंग ने कुछ ही समय पहले सिंहासन पर बैठने वाले अवध के नए शासक वाजीद अली षाह को स्पष्ट रूप से चेतावनी देते हुए कहा कि अगर दो वर्ष के भीतर उन्होंने अपने षासन के सुधार नही किया तो अवध का शासन कम्पनी अपने हाथ में ले लेगी। हार्डिंग अपनी चेतावनी को वास्तविक रूप दे पाते उनकी जगह नए गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने ले ली। अपने शासनकाल में डलहौजी को लगातार तथाकथित राजनैतिक अव्यवस्था तथा अराजक व्यवस्था की रिपोर्ट मिल रही थी जिसे उसने लार्ड डाइरेक्टर्स को सौंप दी। सर विलियम्स हन्टर का मानना है कि

डलहौजी व्यक्तिगत रूप से अवध का विलय नही चाहता था और वह वहॉ के शासक वाजिद अली शाह को कुछ और समय देना चाहता था परन्तु ग्रह सरकार ने डलहौजी की इच्छा के विरूद्ध अवध राज्य का भारत के साम्राज्य में विलय का आदेश दिया जिसे मानने के लिए डलहौजी बाध्य था। इस प्रकार 1856 में अवध के विलय की औपचारिकता पूरी हो जाती है।

2.8 डलहौजी द्वारा किए गए सुधार

यद्यपि लार्ड डलहौजी का कार्यकाल मुख्य रूप से उनकी साम्राज्यवादी नीति के लिए ही प्रसिद्ध रहा है परन्तु स्वयं को एक अच्छा प्रशासक सिद्ध करते हौं उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में जो सुधार किए उसे भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। रेलवे, टेलीग्राफ, शिक्षा आदि क्षेत्र में उनके द्वारा किए गए सुधार को व्यापक सफलता मिली।

डलहौजी भारतीय रेलवे क जनक के रूप में जाने जाते हैं। अप्रैल 1853 में पहली बार थाने और बोरी बन्दर के बीच पैसेन्जर रेल चलाई गई। अगले वर्ष कलकत्ता तथा मद्रास में भी पैसेन्जर रेल शुरू की गई। रेलवे को संस्थागत रूप प्रदान करने के लिए डलहौजी ने इसे तीन जोन्स दक्षिण, पश्चिम, तथा मध्य रेलवे में बॉट दिया। वह अच्छी तरह से जानते थे कि कम्पनी सरकार इसके खर्च का जिम्मा उठाने के लिए तैयार नही होगी इसलिए उन्होंने रेलवे में प्राइवेट निवेश को बढावा दिया तथा इंग्लैण्ड स्थित उद्योगपतियों तथा व्यापारियों को भारतीय रेलवे में निवेष करने के लिए प्रोत्साहित किया। इस प्रकार भारतीय रेलवे निवेश का एक नया सेक्टर बनकर उभरता है।

इसमें कोई संदेह नही कि डलहौजी द्वारा रेलवे लाईन बिछाने के पीछे उनका मुख्य उद्देष्य कम्पनी सरकार की आर्थिक तथा सुरक्षा संबन्धित स्थिति को मजबूत करना था परन्तु प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से इसने भारतीय अर्थव्यवस्था को बल प्रदान करने तथा राष्ट्रवाद के विकास में जो योगदान दिया उसे भी नकारा नही जा सकता। आने वाले समाय में रेलवे लाइन्स ने भारत के भीतरी भाग को बन्दरगाहों के साथ जोड़कर न केवल व्यापार की संभावनाओं को बढ़ाया, बल्कि भारत को एक राष्ट्र के रूप में संगठित करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। आन्तरिक सुधार के क्षेत्र में डलहौजी की दूसरी महत्वकांक्षी योजना टेलीग्राफ व्यवस्था का गठन था।

टेलीग्राफ व्यवस्था में भी रेलवे की तरह ही भारत के विभिन्न क्षेत्रों को संगठित करने तथा देष के एक कोने को दूसरे कोने से जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। टेलीग्राफ व्यवस्था को मजबूती प्रदान करने के लिए डलहौजी ने 'डिपार्टमेन्ट ऑफ पब्लिक वर्क' का गठन किया। प्रयोग के तौर पर पहली टेलीग्राफ लाईन की शुरूआत 1850 में कलकत्ता तथा डायमण्ड हरबर के बीच हुई। शिघ्र ही इसका तेजी से विस्तार होता है तथा 1854 तक विद्युत टेलीग्राफ लाईन्स से देश के विभिन्न षहरों को आपस में जोड़ दिया। कुछ ही समय में इसका विस्तार दक्षिण में मद्रास से लेकर उत्तर में आगरा तथा पेषावर एवं पूर्व में कलकत्ता से लेकर पश्चिम में बम्बई तक हो जाता है। इस प्रकार डलहौजी ने टेलीग्राफ के माध्यम से देश के विभिन्न भागों को आपस में जोड़ दिया।

डाक व्यवस्था के आधुनिकीकरण का भी श्रेय डलहौजी को जाता है। डलहौजी से पूर्व डाक व्यवस्था न केवल जर्जर अवस्था में थी बल्कि इतनी मंहगी थी कि आम नागरिकों द्वारा इसका प्रयोग बहुत मुश्किल था। डाक व्यवस्था में सुधार के लिए डलहौजी ने एक आयोग का गठन किया। आयोग की रिपोर्ट स्वभाविक रूप से नकारात्मक थी। डलहौजी ने 1854 में भारतीय डाक व्यवस्था के आधुनिकीकरण का कार्य शुरू किया। सर्वप्रथम उसने आधा तोला से कम वजन वाले चिट्ठियों पर पूरे भारत में एक समान दर अर्थात् आधा आना प्रति चिन्ह् लागू किया। डाक व्यवस्था को सस्ता करने से आम लोग इसका लाभ उठाने लगे तथा समान दर की व्यवस्था लागू करने से डाक व्यवस्था में जो

भ्रष्टाचार था उसमें बहुत हद तक अंकुश लगाया जा सका। डाक व्यवस्था को सुधारने में उन्होंने जो योगदान दिया इस आधार पर हम कह सकते हैं कि डलहौजी आधुनिक डाक व्यवस्था के जनक थे। डलहौजी के कार्यकाल का एक महत्वपूर्ण योगदान भारतीय षिक्षा व्यवस्था को एक संरचना प्रदान करना था। इस संदर्भ में चार्ल्स–वुड डिस्पैच महत्वपूर्ण हैं। चार्ल्स–वुड डिस्पैच ने भारतीय शिक्षा से संबन्धित प्राच्यवादी देसी शिक्षा बनाम पाष्चात्यवादी अंग्रेजी शिक्षा के विवाद को हमेशा के लिए समाप्त कर दिया। यह तय किया गया कि प्राथमिक षिक्षा वर्नाकुलर भाषा में दी जाएगी तथा कॉलेज स्तर पर शिक्षा का माध्यम मुख्य रूप से अंग्रेजी होगा। इस प्रकार प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक की शिक्षा को एक सु–व्यवस्थित ढांचा प्रदान किया गया। शिक्षा में डलहौजी के योगदान का नतीजा उनके कार्यकाल की समाप्ति के एक वर्ष बाद ही दिखता है जब कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई विष्वविद्यालय की स्थापना हुई।

2.9 निष्कर्ष

अंत में हम यह कह सकते हैं कि डलहौजी राजनैतिक रूप से एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति थे। उनकी यही महत्वकांक्षा थी जो उन्हें भारत का गवर्नर–जनरल बनने से रोक रही थी क्योंकि डलहौजी ब्रिटेन का प्रधानमंत्री बनना चाहते थे और वह भारत आकर अपने राजनैतिक भविष्य पर विराम नहीं लगाना चाहते थे। भारत में उनके द्वारा लिए गए फैसलों को हम इसी संदर्भ में देख सकते हैं। भारत में विस्तारवादी नीति को अपनाकर स्वयं को एक मजबूत प्रषासक के रूप में स्थापित करना चाहते थे जिससे इंग्लैण्ड में उनकी लोकप्रियता बनी रहे। भारत में एक विषाल ब्रिटिष साम्राज्य स्थापित कर लार्ड डलहौजी इंग्लैण्ड की सत्ता के गलियारों में अपनी पकड़ मजबूत बनाए रखना चाहते थे। भारत में ब्रिटिष साम्राज्य के विस्तार से न केवल उन्हें राष्ट्रहित के नाम पर ब्रिटेन की आम जनता का समर्थन प्राप्त होता बल्कि भारत में निवेष के अवसरों को बढ़ाकर वह व्यापारियों तथा उद्योगपतियों के षक्तिषाली समूह का समर्थन भी प्राप्त करना चाहते थे। उनकी इसी राजनैतिक महत्वकांक्षा ने उन्हें भारतीय राष्ट्रवादी इतिहासकारों की नजर में सबसे कुख्यात गवर्नर–जनरल के रूप में स्थापित कर दिया। अधिकतर भारतीय इतिहासकारों का मानना है कि यद्यपि 1857 का महान विद्रोह गवर्नर–जनरल लार्ड कैनिंग के कार्यकाल में हुआ परन्तु विद्रोह का मुख्य कारण डलहौजी द्वारा अपनाई गई विलय की नीति थी। डलहौजी ने अपनी जिस राजनैतिक महत्वकांक्षा द्वारा निर्देषित विस्तारवादी नीति को अपनाया उसका मूल्य कम्पनी को अपने षासन की समाप्ति के रूप में चुकाना पड़ा। डलहौजी के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाए जाने के बावजूद उसके द्वारा किए गए सुधार के कार्यों को नजरअंदाज नही किया जा सकता। विषेष रूप से रेलवे तथा टेलीग्राफ व्यवस्था की षुरूआत तथा डाक व्यवस्था के आधुनिकीकरण में उनका योगदान सराहनीय है। इसमें कोई षक नही कि एक मजबूत प्रषासक के तमाम गुण उनके अन्दर मौजूद थे परन्तु दुर्भाग्यवष उनका मुख्य बल एक मजबूत प्रषासक के नकारात्मक पक्ष पर अधिक था। 1856 में उनकी भारत से विदाई होती है और केवल 48 वर्ष की आयु उनका देहान्त हो जाता है।

2.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. डलहौजी की राजनैतिक महत्वकांक्षा पर एक निबन्ध लिखें।
2. लार्ड डलहौजी द्वारा पंजाब के विलय से सम्बन्धित कारणों की चर्चा करें।
3. डाक्ट्रीन ऑफ लैप्स के राजनैतिक पक्ष की चर्चा करें।
4. गवर्नर–जनरल के रूप में डलहौजी द्वारा किए गए सुधारों पर एक निबन्ध लिखें।
5. लार्ड डलहौजी की विस्तारवादी नीति का आलोचनात्मक परिक्षण करें।

ब्लॉक एक

इकाई तीनः लोकप्रिय जनजातीय तथा असैनिक विद्रोह

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 जनजातीय विद्रोह

3.3.1 संथाल हूल

3.3.2 मुण्डा उल्गुलन

3.3.4 ताना भगत आन्दोलन

3.3.5 भील आन्दोलन

3.4 असैनिक विद्रोह

3.4.1 भोपला विद्रोह

3.**4.2** फैराजी आन्दोलन

3.4.3 सन्यासी तथा फकीर आन्दोलन

3.4.4 तीतू मीर का विद्रोह

3.5 निष्कर्ष

3.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

3.7 निबंधात्मक प्रश्न

3.2 प्रस्तावना

1857 के विद्रोह को भारत में ब्रिटिश शासन की नींव या बुनियाद हिलाने के संदर्भ में एक युगान्तकारी घटना की तरह देखा जा सकता है। इस विद्रोह ने अंततः भारत में ब्रिटिश इस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन हमेशा के लिए समाप्त कर दिया। इस विद्रोह के बाद एक बड़ा राजनीतिक परिवर्तन हुआ और भारत का शासन इस्ट इण्डिया कम्पनी से छीन कर अब महारानी अथवा ब्रिटिश ताज को सौंप दिया गया। उपनिवेशवाद विरोधी इस विद्रोह की महत्ता को कम करने के लिए आरम्भ में इसे केवल एक सैनिक विद्रोह की संज्ञा दी गई। सैनिक विद्रोह की धारणा के प्रणेता मुख्य रूप से कम्पनी के अधिकारी ही थे। इस महान उपनिवेशवाद विरोधी विद्रोह को केवल सैनिक विद्रोह के रूप में देखने का मुख्य उद्देश्य यह था कि कम्पनी इस तथ्य को सामने नही लाने देना चाहती थी कि भारत का जनमानस कम्पनी के शासन से त्रस्त है, और अगर इसे सैनिक विद्रोह के बाहर देखा जाता तो इसे कम्पनी के शासन को औचित्य समाप्त हो जाता। इस प्रकार सैनिक तथा असैनिक विद्रोहों के बीच के राजनैतिक अन्तर को समझते हुए इस उपनिवेशवादी शासन के दौरान, चाहे वह कम्पनी का शासन हो या ब्रिटिश क्राउन का, विभिन्न लोकप्रिय जनजातीय तथा असैनिक विद्रोह की प्रकृति को समझने की कोशिश करेंगे। इस इकाई में हम यह भी जानने की कोशिश करेंगे कि भारत की सामाजिक राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था में शायद सबसे उपेक्षित समाज, अर्थात् आदिवासी समाज, विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में शासक वर्ग के विरूद्ध विद्रोह करने में क्यों मजबूर हुआ। इस इकाई में हम केवल जनजातीय विद्रोह की ही नही बल्कि विभिन्न असैनिक विद्रोह की भी चर्चा करेंगे। जनजातीय तथा असैनिक विद्रोह की प्रकृति को समझने के लिए न केवल शासन व्यवस्था को समझना पड़ेगा बल्कि शोषण व्यवस्था को भी उतनी ही गहराई

से समझने की आवश्यकता है। हम इस बात को भी समझने की कोशिश करेंगे कि जनजातीय तथा असैनिक विद्रोह में शामिल जनता क्या केवल उपनिवेशिक शासन या उपनिवेशिक शोषण विरोधी भी था। उनका विरोध भारतीय सामाजिक व्यवस्था में मौजूद उस शोषक वर्ग से भी था जो शोषित जनता से (आदिवासी तथा गैर–आदिवासी) से उनके जीवन जीने का अधिकार भी छीन रहे थे।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई को लिखने का मुख्य उद्देश्य जनजातीय तथा असैनिक विद्रोह की प्रकृति को समझना है। इस बात पर भी प्रकाश डालना है कि यह आन्दोलन अथवा विद्रोह मुख्य रूप से राष्ट्रवादी थे या केवल उपनिवेशवाद–विरोधी। इस इकाई में हम इस बात को भी समझने कि कोशिश करेंगे कि यह कितना उचित होगा कि हम उपनिवेशिक भारत में चल रहे विभिन्न जनजातीय तथा असैनिक विद्रोहों को राष्ट्रवादी चेतना की चादर पहना दे, अर्थात् उपनिवेशिक भारत में चल रहे विभिन्न आन्दोलनों को हम राष्ट्रवादी आन्दोलन कहने लगे। इसके साथ इस इकाई में हम एक और महत्वपूर्ण प्रश्न को समझने की कोशिश करेंगे और वह यह कि क्या अपने सही रूप में इस तरह के आन्दोलनों अथवा विद्रोहों की प्रकृति उपनिवेशवाद–विरोधी थी या फिर मात्र जमीनदारी शोषण या साहूकारों की लालच भरी प्रकृति ने इन्हें विद्रोह करने पर मजबूर किया। अतः इस इकाई में हमारा मुख्य उद्देश्य विभिन्न प्रकार के विद्रोहों की प्रकृति को समझना है।

3.6 जनजातीय विद्रोह

भारतीय उपमहाद्वीप में ऐतिहासिक काल से ही आदिवासी लोगों के लिए राजनैतिक रूप से प्रेरित विभिन्न प्रकार के नामों का प्रयोग किया जाता रहा है। इन नामों अथवा शब्दों का प्रयोग गैर–आदिवासी समाज द्वारा आदिवासियों की राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्ता को कम करने के लिए अक्सर होता रहा है। जहॉ एक ओर वैदिक साहित्यों में उनका वर्णन असुर के रूप में हुआ, वहीं ब्राह्मणवादी स्त्रोत उन्हें राक्षस के रूप में दर्शाते हैं। आज भी उनके लिए जंगली शब्द का प्रयोग किया जाता है जोकि 'असभ्य' का एक पयार्यवाची शब्द बनकर रह गया है। सदियों से यह माना जाता रहा है कि आदिवासी संस्कृति में नैतिकता या आचार–विचार से संबन्धित किसी भी धारणा के लिए कोई स्थान नही है। यह समाज 'असभ्य' लोगों का एक समूह है जिन्हें समाज की मुख्य धारा से अलग रखना चाहिए।

आदिवासियों के 'असभ्य' रूप में वर्णन को कानूनी तौर पर या औपचारिक रूप से उपनिवेशिक कानून ने मान्यता प्रदान की। 1857XXXVII एक्ट के प्रस्तावना में संथालों का वर्णन 'असभ्य' नस्ल के लोगों के रूप में किया गया है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि इस प्रकार का भेद–भाव स्वतंत्र भारत के संविधान निर्माण की प्रक्रिया के समय भी किया गया। भारतीय संविधान के पिता तथा शोषित वर्ग के मसिहा, अम्बेडकर का मानना था कि जाति पर आधारित ब्राह्मणवादी हिन्दू समाज भारत की आदिवासी जनता को 'सभ्य' बनाने में असफल रहा इसलिए आदिवासी आज भी बर्बर एवं आंतकित हैं और अकसर अपराधिक गतिविधियों में लिप्त रहते हैं। इसलिए यह उचित होगा कि उन्हें प्रतिनिधित्व के अधिकार से बाहर या वंचित रखा जाए।

यह अचम्भित करने वाली बात है कि एक ऐसा व्यक्ति जो स्वयं शोषित समाज से आता है अपनी ही तरह दूसरे शोषित समाज के बारे में ऐसी धारणा रखता है।

शोषक वर्ग ने हमेशा से अपने आर्थिक शोषण को मान्यता प्रदान करने के लिए सभ्यता को एक हथियार के रूप में इस्तेमाल किया। इस वर्ग द्वारा हमेशा यह दिखाने की कोशिश की गई िकवह आदिवासी समाज के आर्थिक तथा सामाजिक विकास के लिए उन्हें 'सभ्य' बनाने की कोशिश कर रहे हैं। प्राचीन काल से वर्तमान समय तक आदिवासीयों का शोषण जारी रहा बस फर्क सिर्फ इतना है कि शोषण वर्ग ने अपने शोषण को औचित्य प्रदान करने के लिए अलग–अलग कालों में अलग–अलग शब्दों का प्रयोग किया। जहॉं एक ओर वैदिक काल में आदिवासियों को असुर तथा असभ्य बताकर उनकी जमीन जंगल तथा आर्थिक संसाधनों पर कब्जे को जायज ठहराया जाता था तो वहीं दूसरी ओर उपनिवेशिक शासनकाल में तथा आधुनिक पूॅजीवादी

समाज में आदिवासियों को मुख्य–धारा में लाने तथा उन्हें विकसित करने के नाम पर उनके प्राकृतिक संसाधनों का दोहन किया जाता रहा है।

भारत के अन्य क्षेत्रों की तरह आदिवासी भू–भाग में भी औपनिवेशिक शोषण के विरूद्ध विद्रोह हुआ, लेकिन आदिवासी क्षेत्रों में होने वाले विद्रोहों की प्रकृति शेष भारत में होने वाले विद्रोह से भिन्न है। यहाँ पर विद्रोह केवल औपनिवेशिक शासन के विरूद्ध नहीं था गैर– आदिवासी अर्थात् 'दिकुओं' के भी विरूद्ध था। बाहरी शोषण के विरूद्ध आदिवासियों को एकजुट करने में उनकी पहचान की चेतना ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जनजातीय विद्रोह के संदर्भ में यहाँ हम मुख्य रूप से कुछ बड़े आदिवासी विद्रोह जैसे, संथाल विद्रोह, मुण्डा विद्रोह, ताना भगत आन्दोलन तथा भील समाज के आन्दोलन की चर्चा करेंगे। कुछ अन्य छोटे परन्तु राजनैतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण आदिवासी विद्रोह की चर्चा की आवश्यकता भी जरूरी हो जाती है। जैसे– रानी शैडलियों का आन्दोलन।

1845 में छोटा नागपुर में इसाई मिश्नरियों के आने से पूर्व इस क्षेत्र में आदिवासियों का शोषण अपने चरम पर था। 1793 में जमींदारी व्यवस्था लागू करने के कारण इस क्षेत्र में जंगल एवं जमीन पर जमींदारों जो कि बाहर से आए थे का कब्जा लगातार बढ़ रहा था। जमींदारों के अलावा ठेकेदारों तथा महाजनों ने भी कानूनी तथा गैर–कानूनी ढंग से आदिवासी समाज के शोषण में कोई कसर नही छोड़ रखी थी।

जब तक आदिवासी जुल्म सहते रहे, उपनिवेशिक सत्ता ने भी शोषक वर्ग को अपना संरक्षण देते रहे। जिस प्रकार सत्ता ने बाहरी लोगों को कानूनी ढाल प्रदान कर रखा था। इस परिस्थिति ने संघर्ष को अवश्यंभावी बना दिया। लेकिन जिन–जिन इलाकों में आदिवासियों ने हिंसक विद्रोह किया, कानून व्यवस्था को बनाए रखने के लिए अंग्रेजी प्रशासन ने उन क्षेत्रों को अलग प्रशासनिक व्यवस्था के अन्दर ला दिया। इस हिसंक विद्रोह की कड़ी में हम संथाल विद्रोह की चर्चा कर सकते हैं।

3.3.1 संथाल हूल

संथाल हूल अर्थात् संथाल विद्रोह की शुरूआत मौजूदा झारखण्ड राज्य के संथाल परगना क्षेत्र में हुई। विद्रोह का आरम्भ 1855 में हुआ जिसका नेतृत्व दो युवा संथाली नेताओं ने, जो अपने आपको परलौकिक शक्ति अथवा दैवीय ताकत से लैस मानते थे, ने किया। इस विद्रोह का मुख्य कारण जमींदारों तथा महाजनों का शोषण तथा अंग्रेजी प्रशासन द्वारा उनको प्रदान किया गया संरक्षण था।

इस विद्रोह का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण, आदिवासी क्षेत्रों के प्राकृतिक संसाधनों का दोहन था जिसके लिए आधुनिक रेल पटरियां बिछाई जा रही थी। रेल पटरियों के लिए न केवल जंगलों की कटाई शुरू हुई बल्कि गरीब संथाल आदिवासियों को जबरन मजदूरी कराई जा रही थी। तो जहां एक ओर दामिन ए–कोट क्षेत्र में उन पर लगातार राजस्व का भार बढ़ रहा था वहीं दूसरी तरफ जंगलों की कटाई ने उनके आर्थिक स्त्रोत को और भी संकिर्ण कर दिया। इतना ही नही बल्कि रेल नेटवर्क की पूरी प्रक्रिया ने बंधुआ मजदूर बनाने पर मजबूर कर दिया और आदिवासियों से अब बेगार कराया जाने लगा।

संथाल आदिवासियों की इस दयनीय आर्थिक स्थिति का फायदा महाजनों तथा साहूकारों ने लेना शुरू कर दिया। साहूकार संथाल किसानों को मुट्ठी भर अनाज देकर उनकी जमीन पर फसल समेत कब्जा कर लेते थे। हिन्दू व्यापारी जो बंगाल–बिहार के गैर–आदिवासी क्षेत्रों से आते थे लेन–देन के तमाम अवसरों पर मासूम संथाल आदिवासियों को ठगने का कोई मौका नहीं छोड़ते थे। संथाल जब अपने व्यापार की वस्तुओं जैसे– शहद, घी, मक्खन, तथा चावल को जब बेचने हिन्दू व्यापारियों के पास जाते थे तो ये व्यापारी न केवल उन वस्तुओं को सस्ते दामों में खरीदते थे बल्कि माप–तौल में भी घपला करते थे। महाजन, व्यापारी तथा जमींदार संथाल आदिवासियों की जमीन पर कब्जा करने के लिए न्यायिक व्यवस्था का भी पूरा इस्तेमाल करते थे। न्यायालय कानूनी दस्तावेजों के आधार पर फैसला सुनाता था जोकि गलत ढंग से तैयार किये जाते थे। शोषण वर्ग अर्थात् जमींदार, महाजन, साहूकार तथा व्यापारी बहुत चालाकी से संथाल किसानों की जमीन अपने

नाम लिखवा लेते थे और न्यायालय का सहारा लेकर उन्हें उनकी ही जमीन से बेदखल कर देते थे। जब संथालों के पास कुछ नहीं बचा अर्थात् उधार के बदले महाजनों के पास गिरवी रखने के लिए जब संथालों के पास जमीन रही न अनाज तो गरीब संथाल अपने आपको अर्थात् अपने श्रम को महाजनों के पास गिरवी रखने लगे। सूद–ब्याज के इस चक्र में उधार लेने वाले संथाल का पूरा परिवार पुत्र, पुत्री, पत्नी सभी महाजन तथा साहूकारों के पास अनंत काल तक बंधुआ मजदूर बन कर रह जाते थे।

1954–55 में अच्छी फसल होने के बावजूद जब गरीब संथाल किसानों को उनके फसल का उचित दाम नहीं मिला तो उन्होंने तय कर लिया कि अपना हक अब छीन कर लेंगे। अब जरूरत थी बस नतृत्व की जिसे सिद्धू तथा उसके भाई कान्हू ने पूरा किया। इस प्रकार 1855 के संथाल हूल से पहले ही जमीनी तौर पर विद्रोह की मनोवैज्ञानिक परिस्थिति तैयार थी।

स्टीफन फच्स का मानना है कि तमाम शोषणों के बावजूद संथाल आदिवासियों ने हथियारबंद विद्रोह से पूर्व यह कोशिश की कि इन समस्याओं का हल शांतिपूर्ण ढंग से निकल जाए। जब स्थानीय प्रशासन ने उनके शांतिपूर्ण मॉगों को अस्वीकार कर दिया तब संथाल आदिवासियों ने एक और पहल की। संथाल नेतृत्व ने तय किया कि वह शांतिपूर्ण ढंग से अपनी मांगों को लेकर कलकत्ता तक कूच करेंगे। सिद्धू और कान्हू के नेतृत्व में लगभग तीस हजार संथाल आदिवासियों ने यह निर्णय लिया कि वह स्वयं जाकर अपनी शिकायतों के बारे में गवर्नर जनरल से बात करेंगे। जब प्रशासन ने यात्रा के बीच सिद्धू और कान्हू को गिरफ्तार करने की कोशिश की तब आदिवासियों का यह जनसैलाब हिंसक हो गया और इस प्रकार शांतिपूर्ण आन्दोलन को प्रशासन ने अपनी गलती के कारण हिंसक बना दिया। इस हिंसक झड़प में लगभग आठ पुलिसवाले मारे गए। पुलिस–प्रशासन की एक गलती ने शांतिपूर्ण आन्दोलनकारियों को विद्रोही बना दिया और यहीं से संथाल हूल की शुरूआत होती है।

अतीस दासगुप्ता ने अपने लेख 'सम एस्पेक्ट्स ऑफ द संथाल रेबेलियन ऑफ 1855–56' में कान्हू संथाल के बयान का एक हिस्सा प्रस्तुत किया है, जिसमें कान्हू कहते हैं ''जब दरोगा ने मेरे भाई सिद्धू को गिरफ्तार करने की कोशिश की तब मैंने अपनी तलवार निकाली और म्यूनिक मड़ीज का सिर धड़ से अलग कर दिया जबकि दारोगा सिद्धू मारा गया। हमारी सेना ने पाँच और लोगों को मारा जिनका नाम मुझे नही पता और फिर हम भगौड़ी की तरफ वापस चले गए।''

विपिन चन्द्र कहते हैं कि जल्द ही लगभग साठ हजार संथाल आदिवासियों की सेना, जिसमें पुरूष और स्त्री दोनों शामिल थे, तैयार हो गई। उनका हमला शोषण के उन सभी प्रतीकों पर था जिसके माध्यम से गरीब संथाल आदिवासियों का शोषण हो रहा था। उनके हमले का केंद्र मुख्य रूप से पुलिस चौकी, जमींदार तथा महाजन का घर, रेलवे निर्माण स्थल, तथा डाकघर थे। यह सही है कि इस विद्रोह का नेतृत्व संथाल नेताओं के पास था तथा बहुसंख्यक विद्रोही संथाल समुदाय से ही थे परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि यह आन्दोलन विशुद्व रूप से संथाल समुदाय का ही आन्दोलन था। इस विद्रोह में भाग लेने वालों में एक बड़ी संख्या गैर–संथालियों की भी थी। गैर–संथाली समाज के लोग जैसे ग्वाला, लोहार आदि प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों ही रूप में इस विद्रोह का हिस्सा बने और पूरी शक्ति के साथ इस शोषणकारी तथा दमनकारी व्यवस्था को जड़ से उखाड़ फेंकने की कोशिश की।

शुरूआती दौर के सभी आदिवासी विद्रोह की तरह इस विद्रोह के नेतृत्व को भी दैवीय शक्ति के साथ जोड़ा गया। सिद्धू तथा कान्हू दोनों ने अपने पास दैवीय शक्ति होने का दावा किया और कहा कि भगवान ने उनकी रक्षा करने का वचन दिया है। अतः धर्म ने लोगों को एकजुट करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी तथा शोम्पित आदिवासियों को शोषण के विरूद्व लड़ने के लिए शक्ति प्रदान की।

जैसे ही इस विद्रोह की खबर विभिन्न संथाल बहुल क्षेत्रों में पहुँची, स्थानीय संथाल नेताओं तथा जनता ने अपना समर्थन देना शुरू कर दिया। शिघ्र ही इस आग की चपेट में पूरा संथाल परगना आ गया। जमींदार,

महाजन तथा ब्रिटिश बागान मालिक इस हमले का केंद्र थे। इस विद्रोह की प्रबलता का आंकलन करते हुए अंग्रेजी हूकुमत ने यह तय किया कि अगर उन्हें इस क्षेत्र में लम्बे समय तक शासन करना है तो इस आन्दोलन को पूरी तरह से कुचलना होगा। अब प्रशासन ने इस विद्रोह को कुचलने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी। अंग्रेजी हूकुमत की क्रुरता का वर्णन करते हुए हन्टर कहते हैं ''इस जंग में ऐसा कोई भी ब्रिटिश सिपाही नहीं था जो अपने आप पर शर्मिंदा नहीं था। जो कैदी लोग थे वे ज्यादातर घायल लोग थे।''

लेकिन सत्ता के दमन का जवाब संथालों ने पूरी बहादुरी से दिया। इस बहादुरी की उन्हें वही किमत चुकानी पड़ी तथा बड़ी संख्या में संथाल मारे गए। विपरित परिस्थितियों के बावजूद आधुनिक हथियारों से लैस ब्रिटिश सेना का संथालों ने बड़ी बहादुरी से सामना किया। उनकी बहादुरी का जिक्र करते हुए ओ मेलेय ने एक घटना का उदाहरण दिया जिसका वर्णन विपिन चन्द्र ने अपनी किताब 'इण्डियाज स्ट्रगल फॉर इण्डिपेन्डेन्स' में किया है। मेलेय कहते हैं, ''ब्रिटिश सिपाहियों के विरूद्ध लड़ाई के दौरान लगभग 45 संथालों ने एक मिट्टी की बनी झोपड़ी में शरण ली। सिपाही उन पर गोली चलाते रहे और उसका उत्तर उन्होंने अपने तीर से दिया। जब संथाल लड़ाकों की तरफ से जवाबी कार्रवाई बन्द हुई तब ब्रिटिश सिपाही झोपड़ी के अन्दर दाखिल हुए और उन्होंने देखा कि केवल एक ही बूढ़ा संथाल जीवित है। जब एक सिपाही ने उसे आत्मसमर्पण के लिए कहा तब उस बूढ़े संथाल ने अपनी कुल्हाड़ी से उस सिपाही पर हमला किया और उसकी हत्या कर दी।'' अंततः आधुनिक हथियारों से लैस ब्रिटिश सिपाहियों की जीत हुई और इस विद्रोह को पूरी तरह से कुचल दिया गया, लेकिन उस बूढ़े संथाल की बहादुरी ने दिखा दिया कि यह समुदाय अपने अधिकारों की लड़ाई के लिए अपने प्राणों की आहुति देने के लिए तैयार है।

3.3.2 मुण्डा उल्गुलन

विद्वानों के अनुसार छोटा नागपुर क्षेत्र में उपनिवेशवाद–विरोधी भावना का शुरूआत 1793 से होती है। जब स्थायी बन्दोबस्त को इस क्षेत्र में जबरन थोपा गया। अरविन्द पिन्टो कहते हैं कि विनिमय के माध्यम के रूप में पैसे के इस्तेमाल तथा बाजार प्रणाली के विस्तार के कारण आदिवासियों को अपनी जमीन से हॉथ धोना पड़ा। राजस्व वसूली की प्रक्रिया के दौरान जमींदारों के जुल्म ने स्थिति को और भी भयावह बना दिया। कृषिगत संरचना के टूटने के कारण आदिवासी संस्कृति का विघटन होने लगता है, जिसने अंततः छोटा नागपुर क्षेत्र के आदिवासी आन्दोलन को जन्म दिया जिसमें प्रमुख सरदारी लड़ाई तथा बिरसा विद्रोह हैं।

बिरसा आन्दोलन को हम पुनरूत्थानवादी आन्दोलन के रूप में भी देख सकते हैं जहाँ मुण्डा के स्वर्ण युग की याद को मस्तिष्क में ताजा करने के लिए अतीत का महिमामडंन किया गया। नई राजस्व व्यवस्था को उस क्षेत्र में थोपने के कारण आदिवासी समाज का विघटन बहुत तेजी से होने लगता है। भूमि संसाधनों पर सामुदायिक अधिकारों को जमीन के व्यक्तिगत स्वामित्व द्वारा एक वस्तु बनकर रह जाती है। उस सामाजिक आर्थिक संकट को दूर करने के लिए बिरसा ने अपने अनुयायियों को जमींदारों से जमीन छीनने के लिए उत्तेजित करना शुरू कर दिया। इस पृष्ठभूमि में आदिवासियों का यह धार्मिक कर्त्तव्य बन जाता है कि वह दिकुओं के इस दमनकारी व्यवस्था के विरूद्ध जंग छेड़ दें।

बिरसा आन्दोलन जिसकी शुरूआत एक धार्मिक सुधार आन्दोलन के रूप में हुई जल्द ही यह कृषिगत तथा राजनैतिक आन्दोलन का रूप ले लेता है। बिरसा ने आदिवासी जनमानस से खासकर मुण्डा समुदाय के लोगों से आह्वान किया कि वे तमाम बाहरी लोगों, जिसमें जमींदार, महाजन तथा बनिया शामिल हैं, को मुण्डा राज स्थापित करने का वचन दिया। इस खतरे को भॉपते हुए उपनिवेशिक सरकार ने बिरसा मुण्डा को गिरफ्तार कर लिया। नवम्बर 1895 में ढाई वर्ष क कड़ी सजा सुनाई गयी।

1897 में जब यह कारावास से बाहर आये तब ऐसा लगा कि वह अपनी लड़ाई को लेकर और भी ज्यादा प्रतिबद्ध हैं तथा वह अपनी लड़ाई और भी अधिक जुझारू ढंग से लड़ने के लिए तैयार हैं। आदिवासी समाज पर जो बाहरी दमनकारी व्यवस्था थोपी गई थी, उसके विरूद्ध वह विद्रोह की तैयारी में लग गए।

उन्होंने न केवल उपनिवेशिक न्यायिक व्यवस्था की वैद्यता पर सवाल उठाया बल्कि अपने अनुयायियों को यह आदेश दिया कि वे उन सभी बाहरी लोगों पर हमला कर उनकी हत्या कर दें जो आदिवासी समाज मुख्य रूप से मुण्डा आदिवासियों की इस दयनीय हालत के लिए जिम्मेदार है। स्वर्ण युग को स्थापित करने की जरूरत को वह बार–बार अपने अनुयायियों को याद दिलाते थे। आदिवासी आबादी मुख्य रूप से मुण्डा आदिवासी समुदाय के लोग जो 1899 की आकाल से पीड़ित थे, बिरसा का साथ देने के लिए तैयार हो गए।

20वीं सदी के शुरू होते ही अर्थात् जनवरी, 1900 में मुण्डा विद्रोह की शुरूआत हो जाती है। लगभग 300 मुण्डा तीर कमान से लैस खुंटी पुलिस स्टेशन पर हमला कर देते हैं जिसमें कई सिपाही मारे जाते हैं। उसके बाद प्रशासनिक अधिकारियों के घरों को भी आग के हवाले कर दिया जाता है। स्थिति की गंभीरता को देखते हुए सेना की मदद ली जाती है तथा बड़ी संख्या में बिरसा के अनुयायियों को गिरफ्तार कर लिया जाता है। बिरसा की जेल में ही मृत्यु हो जाती है। लगभग 87 लोगों पर आरोप सिद्ध होता है जिसमें दो को फांसी तथा अन्य को कारावास की सजा सुनाई गई।

एल0पी0 माथुर का मानना है कि बिरसा के इस आन्दोलन में सहजवाद तथा पुनरूत्थानवाद की भावना को आसानी से देखा जा सकता है। लेकिन इस महान विद्रोह के नता पर हिन्दू तथा इसाई धर्म के प्रभाव को भी नकारा नही जा सकता है। बिरसा के उपनिवेशवाद विरोधी दृष्टिकोण के कारण कुछ इतिहासकारों ने उन्हें आरंभिक स्वतंत्रता सेनानी तथा एक जुझारू भारतीय देश–भक्त के रूप में देखा जा सकता है। इस विश्लेषण पर अपनी असहमती दर्ज करते हुए स्टीफन फच कहते हैं कि बिरसा केवल उपनिवेशिक शासन को ही आदिवासी समाज का शोषक समझते थे बल्कि उनकी नजर में बनिया, महाजन तथा जमींदार भी उतने ही दमनकारी थे। फंच आगे कहते हैं कि यह विद्रोह मुख्य रूप से मुण्डा समुदाय तक ही सीमित था। अन्य आदिवासी समुदाय के लोगों की उसमें अपने लिए कोई जगह नहीं दिख रही थी।

स्टीफन फॅच की धारणा से अपनी सहमति व्यक्त करते हुए कुमार सुरेश सिंह कहते हैं कि बिरसा विद्रोह अनिवार्य रूप से ब्रिटिश–विरोधी नहीं था। इस आन्दोलन के पीछे मुख्य विचारधारा उस दमनकारी व्यवस्था के विरूद्ध लड़ना था जो आदिवासी समाज के सामाजिक–आर्थिक ताना–बाना को तोड़ रहे थे। अतः यह मुख्य रूप से आत्मरक्षा की लड़ाई थी। बिरसा ने 'स्वर्ण युग' की बात कही जब मुण्डा लोग अपनी जमीन के मालिक थे। उसे समय आदिवासी समाज न केवल ब्रिटिश भारतीय अभिजात्य वर्ग के शोषण से भी मुक्त था।

हांलाकि इस आन्दोलन को पूरी शक्ति के साथ दबा दिया गया लेकिन इसने उपनिवेशिक साम्राज्य को अपनी आर्थिक नीति के बारे में समीक्षा करने पर मजबूर कर दिया। अब प्रशासन को पूरी आर्थिक–राजनीतिक व्यवस्था में सुधार की जरूरत का एहसास हो चुका था। छोटा नागपुर टेनेन्सी एक्ट को हम इस नई सोच के परिणाम के रूप में देख सकते हैं। ए0सी0 मित्तल इस आन्दोलन का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि इस आन्दोलन का बुनियादी कारण कृषिगत, इस्तेमाल किया गया तरीका हिंसात्मक तथा अन्त राजनीतिक रूप में होता है। बिरसा ने कृषिगत समस्याओं पर बल दिया तथा इसे हल करने के लिए राजनैतिक तरीका अपनाने की बात की। राजनैतिक हल के विचार से तात्पर्य मुण्डा साम्राज्य स्थापित करना तथा स्वयं उस साम्राज्य का राजा बनना था। अतः हम कह सकते हैं कि आन्दोलन जिसकी शुरूआत पुनरूत्थानवादी तथा धार्मिक आन्दोलन के रूप में हुई कुछ ही समय में राजनैतिक आन्दोलन का रूप ले लेता है।

इस आन्दोलन के प्रभाव को छोटा नागपुर के आदिवासियों के बीच बढ़ रही राजनैतिक चेतना के रूप में भी देखा जा सकता है। दबे–कुचले आदिवासी समाज के लोग बिरसा को अपनी प्रेरणा के स्त्रोत के रूप में देखने लगे। छोटानागपुर क्षेत्र में शुरू होने वाले ताना भगत आन्दोलन पर हम बहुत स्पष्ट ढंग से बिरसा आन्दोलन का प्रभाव देख सकते हैं। ताना भगत आन्दोलन के गीत में बिरसा की विरासत का जिक्र है। जिस

प्रकार बिरसा ने मुण्डा राज स्थापित करने की बात कही ठीक उसी प्रकार ताना भगत आन्दोलन में भी उरांव राज स्थापित करने की कम्पना दिखती है।

3.3.4 ताना भगत आन्दोलन

ताना भगत आन्दोलन जिसकी शुरूआत 1914 में हुई, आदिवासी राजनीति को इसने एक नया स्वरूप प्रदान किया। इसकी प्रकृति को लेकर विद्वानों में मतभेद हैं। विद्वानों का एक हिस्सा इसे ध का हिस्सा बना। इसी विचार से सहमत होकर अधिकतर विद्वान एवं इतिहासकार ताना भगत ाार्मिक आन्दोलन के रूप में देखता है तो वही कुछ विद्वान इसके राजनीतिक पहलु पर बल देते हैं। आन्दोलन के राजनैतिक स्वरूप को लेकर एक जो बड़ी बहस है वह यह है कि विद्वानों का एक बड़ा हिस्सा इस तथ्य से सहमति रखता है कि ताना भगत शायद पहला ऐसा आदिवासी आन्दोलन है जो राष्ट्रीय आन्दोलन की राजनीति के राष्ट्रीय स्वरूप पर बल देते हुए इसे राष्ट्रीय आन्दोलन का हिस्से के रूप में देखते हैं, परन्तु जब हम इस आन्दोलन से संबधित स्त्रोतों पर नजर डालें तब इस तरह के इतिहास लेखन पर निःसंदेह प्रश्न चिन्ह लग जाता है।

सबसे पहली बात की ताना–भगत आन्दोलन का स्वरूप धार्मिक नहीं शुद्ध रूप में राजनीति था और यह बात उनके मंत्र तथा कविताओं से पता चलती है। धर्म का इस्तेमाल केवल आदिवासी समाज के उराँव समुदाय को एकजुट करने के लिए था। इस आन्दोलन की शुरूआत जातरा उरॉव ने 1914 में की थी कुछ नेताओं के साथ मिलकर राष्ट्रीय आन्दोलन का हिस्सा बन जाते हैं। ताना भगत आन्दोलन का 'राष्ट्रीयकरण' बहुत महत्वपूर्ण है, बावजुद इस तथ्य के कि उरॉव समाज का एक छोटा हिस्सा ही इससे जुड़ता है। यह ध्यान देने वाली बात है कि इस क्षेत्र में गॉधी की यात्रा से पूर्व ही ताना भगत अंग्रेजी कार्यकर्ताओं के साथ मिलकर काम कर रहे थे। अतः हम कह सकते हैं कि गॉधी ने उन्हें आकर्षित नही किया बल्कि लम्बे समय से वे जो उपनिवेशवादी शोषण का सामना कर रहे थे उसके विरोध में वह भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन का हिस्सा बने। उन्हें मुख्य रूप से क्षेत्रीय अथवा स्थानीय कांग्रेसी नेताओं के वादे ने आकर्षित किया जिसमें कहा गया था कि अगर ब्रिटिश शासन का अन्त हो जाएगा तो आदिवासी समाज के लोग जमींदारी शोषण से मुक्त हो जाऐंगे, क्योंकि ब्रिटिश शोषण के संरक्षण के कारण जमींदार इतने शक्तिशाली बन गए हैं। अर्थात् जमींदारों की शक्ति का मुख्य स्त्रोत ब्रिटिश राज ही है। कांग्रेसी कार्यकर्ता आदिवासियों को मुख्य रूप से ताना भगत आन्दोलन से जुड़े आदिवासियों को यह समझाने में सफल हुए कि ब्रिटिश शासन के पतन का अर्थ जमींदारी शोषण का अन्त है।

3.3.5 भील आन्दोलन

भील जनजाति के लोग मुण्डा, संथाल तथा उरॉव से अलग एक बड़े भू–भाग में बिखरे हुए थे। भील मुख्यतः चार प्रदेशों (छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश, राजस्थान तथा गुजरात) के अलग–अलग हिस्सों में रहते हैं, शायद यही कारण है कि उनका आन्दोलन मुण्डा, उरॉव या संथाल जैसे आदिवासी आन्दोलनों की तरह विद्रोह में नहीं बदल पाया। भील समाज के आदिवासियों पर हिन्दू धर्म का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। 19वीं सदी के अंतिम दशक में लसोदिया ने भील जनजाति के बीच सुधार आन्दोलन की शुरूआत की। उसका दावा था कि वह दैवीय शक्तियों से लैस हैं और समाज को शैतानी ताकतों से मुक्त कर देगा। उसके प्रभाव में भील जनजाति की एक बड़ी आबादी ने मदिरा–मांस को त्याग दिया। भील जनजाति के बीच एक आन्दोलन की शुरूआत गोविंदगीरी ने की। इसे हम नाथपंथी आन्दोलन के रूप में भी जानते हैं। भील समाज में अपनी बढ़ती लोकप्रियता को देखकर उन्होंने स्वयं को राजस्थान के डुन्गरपुर जिले का राजा घोषित कर दिया और भील जनजाति के लोगों द्वारा गठित एक सेना तैयार कर ली। उनकी इस राजनैतिक महत्वकांक्षा से भयभीत होकर सुन्त–रामपुर के राजा ने अंग्रेजों के साथ मिलकर नाथपंथी सेना पर आक्रमण कर दिया। 1912 में हुए इस युद्ध में भील सेना बुरी तरह पराजित हुई तथा गोविंदगीरी को उनके अनुयायियों के साथ गिरफ्तार कर लिया

जाता है। यद्धपि इस युद्ध ने नाथपंथी आन्दोलन की राजनैतिक महत्वकांक्षा पर विराम लगा दिया लेकिन सामाजिक–धार्मिक पहचान के रूप में यह संप्रदाय डुन्गरपुर क्षेत्र में मौजूद है।

3.7 असैनिक विद्रोह

जनजातीय विद्रोह की ही तरह असैनिक विद्रोह का भी मुख्य कारण उपनिवेशिक आर्थिक–शोषण व्यवस्था को माना जा सकता है। कुछ विद्रोह जैसे पागलपंथी, भोपला, फैराजी आदि का उदाहरण लेते हुए समझने की कोशिश करेंगे कि किस प्रकार धर्म ने गरिब किसानों को शोषक वर्ग के विरूद्ध संगठित तथा एकत्रित करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

उपनिवेशक राजस्व व्यवस्था का किसी वर्ग पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा तो वह था कृषक वर्ग। नई राजस्व व्यवस्था की हालत को और भी अधिक दयनीय बना दिया। अपने आप को शोषण के इस कुचक्र से बाहर निकालने के लिए किसान कभी अपदस्त राजाओं के तो कभी जमींदारों के अधिन विद्रोह करते थे। कई इलाकों में तो धार्मिक नेताओं ने भी इनका नेतृत्व किया। 1757 से 1857 के बीच कई असैनिक विद्रोह हुए जिसे कैथलीन गफ ''रेस्टोरेटीव रेबेलियन'' कहते हैं। इस तरह के विद्रोह में पूर्व जमींदार तथा अपदस्त शासक किसानों के आर्थिक शिकायतों को राजनैतिक रूप प्रदान कर अपनी खोई हुई सत्ता को दुबारा वापस लेने की कोशिश करते हैं। चैत सिंह का 1778 का विद्रोह, बजीर अली का 1799 का तथा बुंदेला राजपूतों का 1842 का विद्रोह इसी श्रृंखला में आएगा। आगे हम कुछ खास विद्रोह के उदाहरणों के साथ ब्रिटिश राज की दमनकारी नीतियों के विरूद्ध किसानों तथा कमजोर वर्ग के लोगों के गुस्से को समझने की कोशिश करेंगे। इस संदर्भ में हम सबसे पहले भोपला विद्रोह का अध्ययन करेंगे।

3.4.1 भोपला विद्रोह

भोपला विद्रोह की प्रकृति को लेकर विद्वानों के बीच एक बड़ी बहस है। कुछ इतिहासकार इस विद्रोह की मिट्टी के सांप्रदायिकता के बीज ढूंढने की कोशिश करते हैं तो कुछ का मानना है कि यह वर्ग संघर्ष था न कि साम्प्रदायिक विद्रोह। इस विद्रोह को सांप्रदायिकता के चश्मे से देखने का मुख्य कारण यह है कि इसमें भाग लेने वाली ज्यादातर जनता मुसलमान थी, नेतृत्व कुछ उलेमाओं के हाथ में था, मस्जिद लामबंदी के केंद्र के रूप में उभरे तथा हमले का शिकार मुख्य रूप से हिन्दू जमींदार थे। अगर सतही तौर पर देखें तो निःसन्देह यह आन्दोलन एक साम्प्रदायिक आन्दोलन लगता है जिसमें भाग लेने वाली जनता मुसलमान तथा जिस पर हमला किया जा रहा है वे हिन्दू थे। परन्तु अगर हम इस विद्रोह का बारीकी से अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि यह कोई साम्प्रदायिक विद्रोह नहीं बल्कि वर्ग संघर्ष था। उस क्षेत्र में ज्यादातर किसान मुसलमान का हिन्दू के खिलाफ विद्रोह नही बल्कि गरीब शोषित वर्ग के मुसलमानों का हिन्दू जमींदारों तथा उसे संरक्षण देने वाली ब्रिटिश सत्ता के विरूद्ध विद्रोह था।

इस आन्दोलन की शुरूआत 1840 के दशक में केरल के मालाबार क्षेत्र में होती है। भोपला मुख्य रूप से अरब व्यापारियों के वंशज थे जो एक लम्बे समय से उस क्षेत्र में जाकर बस गए थे। 1792 में जब इस्ट इण्डिया कम्पनी की सेना ने टीपू को पराजित कर मालाबार को अपने कब्जे में ले लिया तबसे उस क्षेत्र के आर्थिक तथा सामाजिक संबधों में टकराव शुरू हो गया। अपनी विजय के बाद कम्पनी ने जन्मीज, जो उच्च हिन्दू जाति के थे, को जमींदार घोषित कर जमीन पर पूर्ण स्वामित्व का अधिकार प्रदान कर दिया। इससे पहले कि स्थिति यह थी कि उपज का आधा हिस्सा जमींदार के पास जाता था तथा आधा हिस्सा कृषक के पास। परन्तु नई राजस्व नीति ने क्षेत्र में भूमि संबध को बदल कर रख दिया। अब अगर किसान समय पर लगान न दे तो जमींदार को यह अधिकार है कि वह उसे जमीन से बेदखल कर सकता है। ऐसी परिस्थिति ने किसानों के पास विद्रोह के अलावा और कोई रास्ता नहीं छोड़ा। अपने आपको जमींदार तथा ब्रिटिश गठजोड़ से मुक्त करने के लिए किसानों ने कुछ मुस्लिम नेतृत्व स्वीकार कर विद्रोह का बिगुल बजा दिया। इस विद्रोह का नेतृत्व मुख्य रूप से सय्यद अलबी थंगल, उमर काजी तथा सनाउल्लाह थंगल के पास था। इन नेताओं ने

आर्थिक शोषण को धार्मिक चेतना के साथ जोड़कर विद्रोह को एक नया धार प्रदान किया। यद्यपि ब्रिटिश सत्ता ने अपने आधुनिक शक्तिशाली सेना के बल पर विद्रोह को कुचल दिया, परन्तु किसान आन्दोलन की प्रकृति को एक नया स्वरूप प्रदान किया। हमें ध्यान देना होगा कि गरीब भोपला के हमले का केंद्र हिन्दू जमींदार तथा शोषण व्यवस्था थी न कि आम गरीब हिन्दू। अतः इस आन्दोलन को वर्ग संघर्ष के रूप में देखा जाना चाहिए न कि सांप्रदायिक विद्रोह के रूप में। दूसरे भोपला आन्दोलन की शुरूआत 1919 में तुर्की के खलीफा के सवाल को लेकर होती है। इसका नेतृत्व अली मुसालियार ने किया परन्तु जल्द ही यह आन्दोलन हिंसात्मक विद्रोह के रूप में बदल जाता है। इस बार भी इसके हमले को केंद्र हिंदू–जमींदार तथा ब्रिटिश अधिकारी थे। 1921 के अंत तक सेना के बल पर इस विद्रोह को भी पूरी तरह से दबा दिया जाता है।

3.4.2 फैराजी आन्दोलन

फैराजी आन्दोलन की शुरूआत 19वीं सदी की मध्य में हाजी शरीफतअल्लाह के नेतृत्व में बंगाल में हुई। यहाँ भी धार्मिक पहचान ने जमींदारी शोषण के विरूद्ध गरीब मुस्लिम किसानों को एकजुट करने में महत्तवपूर्ण भूमिका अदा किया। जमींदार तथा बागान मालिकों के विरूद्ध शुरू हुआ यह आन्दोलन उपनिवेशक–शासन विरोधी आन्दोलन का रूप ले लेता है। जहाँ रहमान मलिक तथा एम0ए0 मलिक जैसे विद्वान इसे एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में देखते हैं वहीं पी0एन0चोपड़ा जैसे विद्वान इसके राजनैतिक चरित्र पर बल देते हैं।

हाजी शरीफतअल्लाह ने 'दारूल हरब' की धारणा को सामने रखते हुए कहा कि उपनिवेशिक भारत में जुम्मे की नमाज पढ़ना गैरकानूनी अर्थात् शरियत के विरूद्ध है क्योंकि इस देश की शासन व्यवस्था काफिर अंग्रेजों के हाँथों में है। अतः ब्रिटिश सत्ता के विरूद्ध संघर्ष को धार्मिक मान्यता प्रदान करने की कोशिश की गई है। हाजी शरीफतअल्लाह ने अपने अनुयायियों को आदेश दिया ि कवह अंग्रेजी हूकुमत तथा जमींदारों को लगान देना पूरी तरह से बंद कर दें। ब्रिटिश सत्ता की अवहेलना करते हुए उनके अनुयायियों ने सरकारी परती जमीनों पर कब्जा करना शुरू कर दिया। जमींदारों ने इस आन्दोलन को धार्मिक रूप देना शुरू कर दिया और यह प्रचार करने लगे कि फैराजी तथा उनके नेता बंगाल में इस्लामिक शासन की स्थापना करने की कोशिश कर रहे हैं। अंग्रेजी हूकुमत तथा हिन्दू जमींदार इस आन्दोलन को धार्मिक रंग देने की कोशिश कर रहे थे, ताकि इसके वर्ग चरित्र से लोगों का ध्यान हटाया जाय और हिन्दू गरिब किसानों को इस आन्दोलन का हिस्सा बनने से रोका जा सके। अतः आन्दोलन को धार्मिक रंग देने का मुख्य कारण वर्ग संघर्ष के खतरे को टालना था।

हाजी शरीफतअल्लाह की मृत्यु 1839 में होती है। मृत्यु के बाद आन्दोलन की बागडोर उनके पुत्र दुदु मियां ने संभाली। इनके नेतृत्व में आन्दोलन बंगाल के कई जिलों तक फैल गयी। दुदु मियां अपने पिता हाजी शरीफतअल्लाह से कहीं अधिक राजनैतिक सोच रखते थे। अपनी शक्ति को संगठित करने के लिए दुदु मियां ने अपने प्रभाव वाले क्षेत्रों को प्रशासनिक इकाइयों में बॉट दिया। उन्होंने यह भी आदेश जारी किया कि विवादों के निपटारे के लिए उनके अनुयायी ब्रिटिश न्यायालय की शरण नहीं लेंगे बल्कि विवादों का निपटारा पंचायत के स्तर पर ग्रामीण न्यायालय द्वारा किया जाएगा। इस प्रकार प्रशासन के साथ–साथ न्यायालय व्यवस्था भी दुदु मियां के अधीन चला आता है। हम कह सकते हैं कि उन्होंने एक प्रकार से समानान्तर सरकार की स्थापना कर ली थी। फैराजियों द्वारा चलाए जा रहे 22 न्यायालय केवल ढाका में ही मौजूद थे।

दुदु मियां ने भूमि संबंधों को धर्म के साथ जोड़कर उन्हें और मजबूती प्रदान की। उनका कहना था कि ''जमीन की उपज पर किसानों का हक होता है तथा उस किसी प्रकार के कर या लगान को थोपना कुरान के अनुसार गैर–कानूनी है।'' इस प्रकार दुदु मियां ने कृषक के आर्थिक मुद्दे को धर्म के साथ जोड़कर ब्रिटिश शासन खासकर उपनिवेशिक राजस्व व्यवस्था, जिसमें ब्रिटिश अधिकारी, हिन्दू जमींदार, तथा बागान मालिक सभी शामिल थे, के विरूद्ध अभियान छेड़ दिया। अब ब्रिटिश शासन को समझ में आ चुका था कि केवल मूक

दर्शक बनकर समस्या का हल नहीं निकाला जा सकता है, इसलिए यह तय किया गया कि अगर आन्दोलन के प्रभाव को समाप्त करना है तो इसके लिए दुदु मियां की गिरफ्तारी जरूरी है। दुदु मियां को गिरफ्तार कर लिया जाता है। उनके अनुपस्थिति में भी उनके अनुयायियों ने बागान मालिकों तथा जमींदारों के विरूद्ध संघर्ष जारी रखा। 1862 में उनकी मृत्यु के बाद आन्दोलन अपने पतन की ओर बढ़ने लगा। 70 के दशक में दुदु मियां ने आन्दोलन में नई जान डालने की कोशिश की, परन्तु पूरी तरह से सफल नहीं हो पायी। उनकी मृत्यु के बाद इस आन्दोलन के ज्यादातर नेता ब्रिटिश शासन के समर्थक बन गए और इस प्रकार एक जुझारू वर्ग संघर्ष का अंत हो जाता है।

3.4.3 सन्यासी तथा फकीर आन्दोलन

सन्यासी तथा फकीर आन्दोलन का जन्म ब्रिटिश उपनिवेशिक आर्थिक नीति के विरूद्ध एक संगठित विद्रोह के रूप में होता है। विद्रोह की शुरूआत लगभग 1763 में बंगाल तथा उसकी सीमा से लगे बिहार के कुछ हिस्सों में होता है। सरकारी रिकार्डों के विपरित सर विलियम हन्टर इसे 'किसान विद्रोह' के रूप में देखते हैं। इनका मानना है कि मुगल साम्राज्य के पतन के बाद बेरोजगार हुए सैनिकों तथा भूमिहीन किसानों के पास उपनिवेशिक आर्थिक नीति के प्रकोप से बचने का जब कोई और रास्ता नहीं मिला तो उन्होंने कम्पनी की शासन व्यवस्था के विरूद्ध विद्रोह कर लिया। इसी विद्रोह को ब्रिटिश अधिकारी सन्यांसी विद्रोह के रूप में देखते हैं। वही फकीर आन्दोलन का भी मुख्य कारण आर्थिक था। इन्हें मुगल साम्राज्य के दौर में मदद–ए माश अर्थात् लगान मुक्त जमीन प्रदान की जाती थी। कंपनी के राज में उनका यह विशेषाधिकार समाप्त हो जाता है। अतः कंपनी राज ने दोनों समुदायों, सन्यांसी तथा फकीर को गंभीर रूप से प्रभावित किया जिसकी प्रतिक्रिया के रूप में इन दोनों समुदाय के लागों ने कम्पनी के शासन के विरूद्ध शस्त्र विद्रोह कर दिया। विद्रोह जिसकी शुरूआत 1763 में होती है। 18वीं सदी के अंत तक इसका प्रभाव समाप्त हो जाता है।

3.4.4 तीतू मीर का विद्रोह

धार्मिक पहचान तथा शोषण–विरोधी भावना के गठजोड़ के रूप में उभरने वाला यह एक महत्वपूर्ण विद्रोह था। इसकी शुरूआत बंगाल में तीतू मीर नामक व्यक्ति जो पेशे से एक पहलवान था, के नेतृत्व में होती है। तीतू मीर 24 परगना के रहने वाले थे। अपनी मक्का की यात्रा के दौरान वे सय्यद अहमद राय बरेलवी से मिले। इनसे मिलने के बाद तीतू मीर बहाबी विचारधारा से बहुत अधिक प्रभावित हुए। हक्का से वापस आने के बाद उन्होंने गरीब मुस्लिम किसानों के बीच इस विचारधारा का प्रचार–प्रसार शुरू कर दिया। जल्द ही उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ने लगी। तीतू मीर मुस्लिम किसानों के मुद्दे को पूरी शक्ति के साथ उठाने लगे। इस क्षेत्र की भी सामाजिक संरचना बंगाल के अन्य हिस्सों की ही तरह थी। जहाँ जमींदार मुख्य रूप से हिन्दू समुदाय से थे तथा कृषक मुस्लिम। अतः यह सामाजिक–धार्मिक आन्दोलन जल्द ही राजनैतिक रूप ले लेता है। इस आन्दोलन की गंभीरता को देखते हुए स्थानीय जमींदारों ने तय किया कि इसे पूरी तरह से कुचल देना ही उचित होगा ताकि भविष्य में वर्ग संघर्ष की स्थिति से बचा जा सके। अब जमींदारों ने गरीब मुस्लिम किसानों पर कई तरह के कर लगाने शुरू कर दिए जिसमें सबसे विवादित 'दाढ़ी पर टैक्स' था। किसानों ने भी तीतू मीर के नेतृत्व में परी शक्ति के साथ इस दमनकारी व्यवस्था का विरोध किया। दोनों पक्षों की तरफ से हिंसा का पूरा इस्तेमाल होता है जिसमें जमींदार, बागान मालिक तथा उपनिवेशक सरकार अपनी शक्ति के दम पर 1831 के अन्त तक इस विद्रोह को पूरी तरह से कुचल दिया।

3.8 निष्कर्ष

किसी भी आन्दोलन को उसके सही रूप में समझने के लिए जरूरी है कि उसके चरित्र या उसकी प्रकृति का अध्ययन किया जाए। उपर्युक्त आन्दोलनों के अध्ययन से यह साफ हो जाता है। कि शोषित वर्ग के आन्दोलन का मूल कारण धार्मिक तथा जातीय नहीं बल्कि आर्थिक था। धार्मिक तथा जातीय पहचान ने शोषित

वर्ग को शोषक वर्ग के विरूद्ध लामबंद किया। अतः हम कह सकते हैं कि यह एक प्रकार का वर्ग संघर्ष था। इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि इन आन्दोलनों को हम उपनिवेशवाद–विरोधी आन्दोलन के रूप में तो देख सकते हैं परन्तु राष्ट्रवादी आन्दोलन के रूप में इनका अध्ययन करना एक एतिहासिक भूल होगी। केवल ब्रिटिश सत्ता के विरूद्ध विद्रोह को हम राष्ट्रवाद के साथ नहीं जोड़ सकते। सभी आन्दोलनों के स्थानीय कारण थे और आन्दोलनकारियों का हमला मुख्य रूप से जमींदारों तथा महाजनों के विरूद्ध था। ब्रिटिश सत्ता पर हमले का मुख्य कारण यह था कि उसने इन शोषक वर्ग को संरक्षण प्रदान किया हुआ था। ब्रिटिश राज अधिकतर स्थानों पर जमींदारों तथा महाजनों के माध्यम से ही अपने आर्थिक हितों की पूर्ति में लगा हुआ था। शायद इसलिए ज्यादातर स्थानों पर कमजोर वर्ग के गुस्से का शिकार महाजन तथा जमींदार ही बने न कि अंग्रेजी हुकूमत। अतः हम कह सकते हैं कि ये आन्दोलन उपनिवेशवाद–विरोधी थे न कि राष्ट्रवादी।

3.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. मुण्डा, राम दयाल, द झारखण्ड मूवमेन्ट, कॉपर्रेशन, 2003
2. एक्का विलियम तथा सिन्हा, 'इक्यूमेंट ऑफ झारखण्ड मूवमेन्ट, नई दिल्ली, 2004
3. माथुर, एल0पी0 ट्राइवल रिवोल्ट इन इण्डिया अन्डर ब्रिटिश राज, जयपुर, 2004
4. सरकार, सुमित, 'बियॉन्ड नेशनलिस्ट फ्रेम', नई दिल्ली, 2002
5. मालिक, एस0सी0, 'डिसेन्ट, प्रोटैस्ट, एण्ड रिफार्म इन इण्डियन सिविलाइजेशन,' दिल्ली, 1977
6. शेखर बन्धोपाध्याय, 'फ्रॉम प्लासी टू पार्टीशन', नई दिल्ली, 2004
7. सुमित सरकार, 'मॉडर्न इण्डिया', 1885–1947', दिल्ली, 1983
8. बिपिन चन्द्र, 'आधुनिक भारत का इतिहास ', 2009
9. स्टीफन फच, 'मेसेनिक मूवमेन्टस इन प्रीमिटिव इण्डिया', 1965

3.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. आदिवासी आन्दोलनों की प्रकृति की संक्षिप्त रूप में चर्चा करें।
2. राष्ट्रवादी तथा उपनिवेशिक विरोधी आन्दोलन के बीच क्या अन्तर है?
3. आदिवासी आन्दोलनों में 'पहचान की राजनीति' की भूमिका की चर्चा करें।
4. भील आन्दोलन तथा छोटानागपुर एवं संथाल परगना क्षेत्रों में होने वाले आदिवासी विद्रोह के बीच के अन्तर को समझाएं।
5. भोपला विद्रोह का मुख्य कारण क्या था?

ब्लॉक दो

इकाई एक: 1857 का विद्रोह

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 1857 का विद्रोह एवं इसके कारण

1.4 विद्रोह का विस्तार

1.5 विद्रोह की असफलता एवं परिणाम

1.6 विद्रोह की प्रकृति

1.7 सारांश

1.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.9 सहायक पाठयसामग्री

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

आधुनिक भारतीय इतिहास की कुछेक सबसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं मे से एक घटना 1857 का विद्रोह रहा है। इस ऐतिहासिक घटना का भारतीय इतिहास पर दूरगामी प्रभाव पड़ा। एक ओर इसने भारत में मध्यकाल के अंत की घोषणा कर दी, तो दूसरी ओर औपनिवेशिक सत्ता ने अब अधिक संस्थागत रुप धारण कर लिया। भारत में विदेशी शासन, जिनकी नींव ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा 1757 के प्लासी की पराजय से ही पड़ गयी थी, अब सीधे ब्रिटिश संसद से नियंत्रित होना आरम्भ हुआ। 1857 को अंग्रेज़ प्रशासक और औपनिवेशिक इतिहासकार एक सिपाही विद्रोह से अधिक कुछ भी मानने को तैयार नही थे, जिसके कारण, उनके मतानुसार, भारतीयों की धार्मिक-सांस्कृतिक भावनाओं का आहत होना था। सुअर और गाय की चर्बीयुक्त कारतूसों को कम्पनी राज के विरुद्ध सैनिकों के विद्रोह का मूल कारण माना गया। इस तरह के अधूरे इतिहासलेखन में भारतीयों की राय जानने की कोशिश ही नही की गई। भारतीय आमधारणा में 1857 सदैव ही अंग्रेज़ों के प्रति उनके संघर्ष का पहला गौरवपूर्ण अध्याय ही बना रहा। पिछले 150 वर्षों में 1857 के विद्रोह के कारणों एवं इसकी प्रकृति की जितनी चर्चा इतिहासकारों के मध्य हुई है, उतनी आधुनिक इतिहास के किसी विषय की नही हुई। 1857 के विद्रोह के राजनीतिक-आर्थिक कारणों से आरम्भकर उसमें जनभागीदारी, किसानों की भूमिका को उद्घाटित करने से लेकर आज दलितों, जनजातियों एवं महिलाओं की भागीदारी तक पर गंभीर शोध किये जा रहे हैं। जहाँ हाल के

ऐतिहासिक लेखनों में से एक, विलियम डॉर्लिम्पल ने 1857 के विद्रोह को पुन: 'मुसलमानों का अंग्रेज़ो के विरुद्ध धार्मिक जिहाद' कह कर इसके महत्व को कम करने की कोशिश की है, वहीं अनेक भारतीय इतिहासकारों ने 1857 के दौरान हिन्दुओं और मुसलमानों की बेमिसाल एकता के अनेकों दृष्टांत दिये हैं। इन सारे अध्ययनों का एक अच्छा परिणाम यह भी हुआ है कि 1857 के विद्रोह से सम्बंधित अनेकों दास्तावेज़ खोज लिये गये हैं। अंग्रेज़ी के सरकारी दस्तावेज़ों एवं चिट्ठी-पत्रियों के अलावा उर्दू के अनेक देसी पत्र-पत्रिकाएं, घोषणाएं, पुस्तिकाएं 1857 के इतिहासलेखन के सबसे महत्वपूर्ण स्रोत हैं। फिर भी, 1857 का इतिहास जानने के लिए विद्रोहियों के स्वयं के दास्तावेज़ों का तो लगभग अभाव ही है। इसने 1857 के विद्रोहियों की विचारधारा और उनके संघठन के तरीकों को जान पाना मुश्किल कर दिया है। हाल में उस समय प्रचलित फारसी अखबारों, बंगाली पत्र-पत्रिकाओं के अलावा देसी भाषाओं मे लिखे समकालीन संस्मरणों और लोकस्मृति आदि का इतिहासकारों ने बहुमूल्य उपयोगकर 1857 के विद्रोह के इतिहास के विभिन्न पक्षों को उजागर किया है। इन सब विषयों पर हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगें।

1.2 उद्देश्य

इस ईकाई का उद्देश्य विद्यार्थियों को केवल 1857 के विद्रोह के इतिहास से ही परिचित कराना नहीं बल्कि 1857 के इतिहास पर हुई विभिन्न बहसों से अवगत कराना भी है। इसके अध्धयन के पश्चात आप जान सकेगें कि औपनिवेशिक (मूलत: ब्रिटिश) इतिहासकार क्यों 1857 के विद्रोह को एक धार्मिक संघर्ष के रूप मे ही चित्रित करने का प्रयास करते रहे हैं? 1857 पर राष्ट्रवादी इतिहासलेखन की क्या सीमाएं रहीं हैं? और 1857 के विद्रोह को मार्क्सवादी इतिहासकारों ने किस तरह विश्लेषित किया है? इसके अलावा आप जान पायेंगे कि 1857 के विद्रोह के वास्तविक कारण क्या थे? अर्थात् क्या इनफील्ड राइफल में चर्बीयुक्त कारतूसों का उपयोग इतना गंभीर मामला था कि सैनिको (हिंदू और मुस्लिम) को अपना धर्म ख़तरे मे लगा? अगर ऐसा था तो उन्ही सैनिकों ने विद्रोह के समय इन्ही राइफलों का प्रयोग क्यों किया? इतिहासकारों के विश्लेषण से निकले विभिन्न कारणों को जानने के साथ-साथ, हम 1857 के विद्रोह के विस्तार पर भी चर्चा करेंगे। आरम्भिक इतिहासकारों ने 1857 के सीमित उत्तर-भारतीय चरित्र पर ज़ोर दिया था। बाद के अध्धयनों ने 1857 की विद्रोही विचारधारा के व्यापक प्रसार की चर्चा की है। हम यहॉ हाल में हुए उन शोधों के बारे में भी जानेंगे जिनमें दलितों और जनजातियों की 1857 के विद्रोह में भूमिका का अध्धयन किया गया है। इस ईकाई में हम 1857 के विद्रोह की प्रकृति की व्यापक चर्चा भी करेंगे। यहॉ हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि इतिहासकार विद्रोह को क्यों सैनिक विप्लव से इतर एक किसान संघर्ष और एक व्यापक जनआन्दोलन मानने लगे हैं।

1.3 1857 का विद्रोह एवं इसके कारण

10 मई 1857 को मेरठ में विद्रोह का झंडा बुलन्द कर बंगाल नेटिव इनफैण्ट्री रेजीमेन्ट के सिपाही 11 मई को जब दिल्ली पहुँचे, तब 1857 के महान विद्रोह का आरम्भ हो गया। सिपाहियों ने इससे पहले भी कई बार विद्रोह का झंडा उठाया था। मार्च में कलकत्ता के निकट बैरकपुर की घटना के बाद अप्रैल मे आगरा, इलाहाबाद और अम्बाला मे भी छिटपुट घटनाएं हो चुकी थीं। परंतु मेरठ से सैनिकों का विद्रोह के बाद दिल्ली आगमन महत्वपूर्ण था। इसके पश्चात सैनिकों द्वारा शायर और बूढ़े बादशाह बहादुरशाह 'ज़फर'' को अपना शासक घोषित

करना विद्रोह को एक व्यापक राजनीतिक कार्यवाही बना देता है। यह घटना विद्रोह की चिंगारी के तेज़ी से फैलने का कारण बन गयी। दिल्ली की घटना के एक माह के भीतर ही कानपुर, लखनऊ, बनारस, इलाहाबाद, बरेली, जगदीशपुर और झांसी जैसे गंगा-यमुना दोआब के महत्वपूर्ण शहर 1857 के विद्रोह के बड़े केंद्र बन गये। कानपुर से मराठा पेशवाई के दावेदार नाना साहेब, बरेली के खान बहादुर, जगदीशपुर के कुँवर सिंह, लखनऊ में बेग़म हज़रत महल तथा झांसी में रानी लक्ष्मीबाई आदि ने तुरंत ही बहादुरशाह को अपना बादशाह घोषित कर दिया। इतिहासकार अनिरुद्ध देशपाण्डे का मानना है कि मुग़लों की सुलहकुल (धार्मिक सहिष्णुता) की नीति के कारण ही मुग़लों का भारतीय राजव्यवस्था पर वर्चस्व बना हुआ था। उनका मानना है कि इसी वजह से सैनिको ने बहादुरशाह के नेतृत्व में आस्था प्रकट की। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि विद्रोह निश्चित ही एक आकस्मिक घटना थी, और इसके लिए पहले से कोई योजना नही बनाई गयी थी। हलांकि विद्रोह के कारण आकस्मिक नहीं थे और पिछले 100 वर्षों में भारत में अपनाई गई ब्रिटिश नीति का परिणाम थे, जैसा हम आगे जानेंगे।

1857 के विद्रोह का पहला ऐतिहासिक विवरण देते हुए सर जॉन केय ने देसी लोगों की धार्मिक भावनाओं के आहत होने को विद्रोह का कारण बताया था। उनके अनुसार नारी शिक्षा का आरम्भ, हिन्दु विधवा-पुनर्विवाह कानून, जेल में जाति नियमों का उल्लंघन और अतत: इनफील्ड राइफल के कारतूस में चर्बी का प्रयोग विद्रोह के कारण थे, जिन्होंने धार्मिक भावनाओं को प्रभावित किया था। बिस्वामॉय पती (आगे बी. पती) के अनुसार, "आरम्भ में इसे कलकत्ता की धर्म सभा की साजिश के तौर पर देखा गया, जो अंग्रेज़ों के हमले से हिन्दु धर्म की रक्षा करना चाहता था। आश्चर्यजनक रूप से शीघ्र ही 'धार्मिक षड़यंत्र' का यह विचार 'मुस्लिम साजिश' कहा जाने लगा। यहाँ तक कि मुस्लिम साजिश का यह विचार कमोबेश आजतक बना रहा है।" हाल ही में 'द लास्ट मुग़ल' के लेखक विलियम डॉर्लिम्पल ने 1857 के दास्तावेज़ों का अध्ययन करते हुए इसमें 'जिहाज' और 'मुजाहिद' शब्दों का भरमार में प्रयोग को देखते हुए 1857 के विद्रोह को मुसलमानों द्वारा किये जा रहे धार्मिक युद्ध यानि जिहाद की संज्ञा दी है। 2001 के परिदृश्य में, जब दुनिया अमेरिका मे हुई आतंकी कार्यवाही की दहशत में थी, 1857 को 'मुस्लिम जिहाद' बताना एक अत्यन्त आकर्षक एवं पर्याप्त बिकाऊ विचार था। 1857 में विद्रोहियों की धार्मिक पहचान कितना माने रखती थी, इस पर विचार करते हुए सब्यासाची भट्टाचार्या ने विद्रोहियों मे सहयोग और विरोध के आधार को विभिन्न पहचानों से जोड़ा है। उनके अनुसार स्वमं लोग और दूसरे उन्हें निम्न तरीकों से पहचानते थे – (अ) क्षेत्रीय और भाषाई पहचान: जैसे पुरबिया, तेलिंगा आदि, (ब) व्यावसायिक और वर्गीय एकता: जैसे परम्परागत लेखक या शायर, समसामयिक व्यापारी वर्ग – बनिया, ज़मींदार, उधार देने वाले सूदखोर आदि, (स) शाही दरबार और महल से सम्बंध', (द) धार्मिक समुदाय, जो निश्चत रूप से एक-रूप नहीं थे बल्कि सम्प्रदायों/फ़िरकों में बटे हुए थे। इतिहासकारों नें इस तथ्य की ओर भी ध्यान खींचा है कि मुस्लिम इस विद्रोह में अंग्रेज़ों के विरूद्ध हिंदुओं के साथ मिलकर लड़ रहे थे। हिन्दु-मुस्लिम एकता की जैसी मिसालें 1857 में दिखाई पड़ी वैसी बाद में नहीं मिलतीं। बहरहाल, इतिहासकारों एवं अधिकारियों के इस विचार ने कि 1857 के विद्रोह में मुख्य भूमिका मुसलमानों ने निभाई थी, 1857 के पश्चात की ब्रिटिश नीतियों मे मुस्लिम-विरोध को जन्म दिया और उन्हें सरकारी नौकरियों में नही रखा जाता था। यह स्थिति दो दशक पश्चात केवल तब बदली जब सर सैय्यद अह्मद खान नें अंग्रेज़ों को मुस्लिम राजभक्ति के लिए आश्वस्त कर दिया।

1857 के विद्रोह के कारणों का भारतीयों द्वारा किए गये विश्लेषणों में पहला नाम सर सैय्यद अहमद ख़ान का आता है। उन्होंने 1858 में लिखी अपनी पुस्तक 'अस्बाब बग़ावते हिन्द' में बग़ावत (विद्रोह) के लिए ब्रिटिश नीतियों को ज़िम्मेदार ठहराया। यही नही, वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इसे जनता का विद्रोह कहा। 1857 के विद्रोह पर उनके लेखन को लम्बे समय तक नज़रअंदाज़ ही किया गया। उल्लेखनीय है कि 1947 में भारतीय स्वतंत्रता से पूर्व, इतिहासकार 1857 को सैनिक विद्रोह से अधिक कुछ भी मानने को तैयार नहीं थे। तब वी. डी. सावरकर ने 1907 में पहली बार विद्रोह को 'भारत का पहला स्वातंत्र्य युद्ध' घोषित किया था। बड़े पैमाने पर आज़ादी के पश्चात और 1857 की पहली शताब्दी के आसपास हुए राष्ट्रवादी इतिहासलेखन में भी विद्रोह की प्रकृति पर अंतर्विरोध बना रहा, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। जहाँ तक विद्रोह के कारणों का सवाल है, राष्ट्रवादी इतिहासलेखन ने लगभग एक मत से इसे भारत में 100 वर्ष के ब्रिटिश शासन और इसकी नीतियों का परिणाम माना। राष्ट्रवादी लेखन में रमेश चन्द्र मजुमदार का 1857 पर किया गया विश्लेषण सबसे उल्लेखनीय है। हलांकि, उन्होंने इसे सावरकर की भाँति राष्ट्रवाद की पहली अभिव्यक्ति नहीं माना। परंतु, 1857 के कारणों का उल्लेख करते हुए उन्होंने औपनिवेशिक आर्थिक नीतियों – परम्परागत व्यापार एवं उद्योग का पतन और शोषणकारी कृषि नीति के साथ, भारतीयों को प्रशासन में शामिल न करने की त्रुटिपूर्ण प्रशासनिक नीति एवं मिशनरी कार्यों से उत्पन्न सामाजिक एवं धार्मिक रोष आदि को विद्रोह के कारण माना। एक अन्य राष्ट्रवादी इतिहासकार सुरेंद्र नाथ सेन के अनुसार विद्रोह के लिए विभिन्न कारक कार्य कर रहे थे तथा भारतीय राजे और नवाब अथवा सिपाही अलग-अलग कारणों से विद्रोह में शामिल हुए। कुल मिलाकर राष्ट्रवादी लेखन 1857 के विद्रोह में बड़ी संख्या में किसानों की भागीदारी और इसके जनचरित्र को उजागर करने में विफल ही रहा।

मार्क्सवादी इतिहासकार रजनी पॉम दत्त ने 1940 में लिखते हुए ही 1857 के विद्रोह को व्यापक किसान आन्दोलन की संज्ञा दी थी। हंलाकि, उनका मानना था कि इसका नेतृत्व विघटित हो रही सामंती ताकतों के पास था, जो विदेशी सर्वोच्चता को समाप्त कर अपनी खोई हुई सत्ता पुन: पाना चाहते थे। दत्त का यह विचार कि 1857 का नेतृत्व सामंती शक्तियों के पास था, 1857 पर हाल तक के मार्क्सवादी चिंतन में बना रहा है। मार्क्सवादी इतिहासलेखन परम्परा में 1857 के विद्रोह पर सबसे महत्वपूर्ण योगदान पी. सी. जोशी द्वारा अनुदित पुस्तक 'विद्रोह: 1857' रही है। पी. सी. जोशी ने यह मानने से इंकार किया कि 1857 का नेतृत्व पूरी तरह से सामंती ताकतों के हाथ में था। उनके अनुसार विद्रोही भारतीयों द्वरा बहादुरशाह, नाना साहेब और अवध नवाब के अधीन सत्ता की स्थापना पूर्व-ब्रिटिश सामंती व्यवस्था की पुनर्स्थापना न होकर क्रांतिकारी व्यवस्थाऐं थी जिन पर नई लोकतांत्रिक मुहर लगी थी। आर. सी. मजुमदार ने विद्रोह के दौरान ही ब्रिटिश प्रतिनिधियों के साथ विद्रोही भारतीय सामंती नेतृत्व की बातचीत को उजागर कर सामंती नेतृत्व के उद्देश्यों पर प्रश्नचिन्ह लगाए थे। पी. सी. जोशी ने मजुमदार द्वारा सामंती नेतृत्व को अधिक महत्व दिए जाने की आलोचना की, तथा मौलवी अहमदुल्ला जैसे नेताओं को नज़रअंदाज़ करने का आरोप लगाया, 'जिनपर किसी भी राष्ट्र को नाज़ हो सकता है।' जोशी ने विद्रोह के कारणों के विश्लेषण के लिए सर सैय्यद के समकालीन विवरण और कार्ल मार्क्स के लेखों को महत्व दिया। उन्होंने सैय्यद अहमद के हवाले से बताया कि भारतीय के लिए 'ब्रिटिश प्रशासनिक व्यवस्था भ्रष्ट ही नही विदेशी भी थी।' कार्ल मार्क्स के लेखों के माध्यम से जोशी ने तर्क दिया कि 'ब्रिटिश ने परम्परागत भारतीय हस्तशिल्प एवं व्यापार को नष्ट कर दिया था। उन्होंने अंग्रेज़ अधिकारियों द्वारा किए गये भूराजस्व परिवर्तनों को

विद्रोह का महत्वपूर्ण कारण मानते हुए कहा कि 'कृषि परिवर्तनों ने देशभर में सभी वर्गों और समूहों को प्रभावित किया।' उनके अनुसार किसानो और जमींदारों को एकजुट करने में सुरक्षा और वफादारी जैसे सामंती मूल्यों की भूमिका कहीं अधिक थी। इसके अतिरिक्त, जोशी ने अंग्रेज़ी शासन के भारतीय सम्पत्ति के दोहन को, जो 1857 के समय चल रहा था, को भी विद्रोह का एक कारण माना। जहाँ तक 1857 के धार्मिक कारणों की बात थी, पी. सी. जोशी ने इन पर ज़रुरत से ज़्यादा ज़ोर देने के लिए ब्रिटिश अधिकारियों और अध्येताओं की आलोचना की। उनके अनुसार, 'उन ऐतिहासिक परिस्थितियों में विदेशी शासन के विरुद्ध संघर्ष में भारतीय विचारधारा में परम्परागत धार्मिक-सांस्कृतिक तत्वों का होना लाज़िमी था।' बाद के अध्ययनों ने 1857 के कृषक चरित्र पर काफी ज़ोर दिया है। बिपन चन्द्रा ने कहा कि 'वास्तव में ये सिपाही सैनिक वर्दी मे 'किसान' थे जो अब तक गाँव की मिट्टी से जुड़े थे।' उनके अनुसार, 'यहाँ तक उस समय अवध में शायद ही कोई ऐसा परिवार रहा हो जिसका कोई सदस्य सेना मे न रहा हो।' अत: नई भूराजस्व नीतियों ने सिपाहियों को बहुत प्रभावित किया था। सिपाहियों के विद्रोह ने ग्रामीणों को कुछ हद तक सरकारी भय से मुक्ति दिलाई और संगठित विद्रोह सड़क पर आ गया। इसप्रकार, हम देखते हैं कि मार्क्सवादी इतिहास लेखन ने औपनिवेशिक इतिहास के इस दावे को कि 1857 का विद्रोह धार्मिक कारणों या कारतूसों में चर्बी के प्रयोग जैसे मामूली मुद्दों की वजह से हुआ, गलत साबित कर दिया। मार्क्सवादी इतिहासकार सफलतापूर्वक यह साबित करने मे सफल रहे कि 1857 के विद्रोह के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था और भारतीयों का आर्थिक शोषण था।

1.4 विद्रोह का विस्तार

जिस तरह औपनिवेशिक इतिहासकारों ने 1857 के विद्रोह को 'सैनिको विद्रोह' की संज्ञा देकर जनता में इसके व्यापक प्रसार और समर्थन को नज़रअंदाज़ करने की कोशिश की, वैसे ही उन्होंने इसके सीमित विस्तार का भी बारम्बार उल्लेख किया। औपनिवेशिक इतिहासलेखन की कोशिश यह दिखाने की रही कि 1857 के विद्रोह को सभी वर्गों और समुदायों का समर्थन नहीं था। हाल में, विलियम डार्लिम्पल ने कहा कि सैनिकों के आने से दिल्ली के लोग नाराज़ थे, विशेषकर दिल्ली के बनिया, जिनसे सैनिकों ने जबरदस्ती रसद और धन की वसूली की थी। राष्ट्रवादी इतिहासलेखकों में से आर. सी. मजुमदार ने भी 1857 के विद्रोह की सीमितता पर ज़ोर दिया था। मजुमदार ने सावरकर के नामकरण 'प्रथम राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष' का लगभग मज़ाक उड़ाते हुआ कहा कि '1857 न तो प्रथम, न ही राष्ट्रीय और न ही स्वतंत्रता संघर्ष ही था।' अपने तर्क के पक्ष मे आर. सी. मजुमदार ने अनेकों दृष्टांत भी दिए। उन्होंने कहा कि 1857 के पहले भी कई कृषक और नागरिक संघर्ष हुए थे। 1857 का विद्रोह उत्तर भारत तक सीमित था। यहाँ भी पंजाब और बंगाल में विद्रोह का कोई प्रभाव नहीं था। उत्तर भारत के अनेक सामंत और राजा, जैसे सिंधिया और राजपूत राज्य, अंग्रेज़ों के साथ ही रहे। आर. सी. मजुमदार ने तार्किक ढंग से दिखाया कि विद्रोह में शामिल अनेक भारतीय शासक, जैसे झांसी की रानी लक्ष्मीबाई और बहादुरशाह की बेग़म ज़ीनत महल समझौते के लिए अंग्रेज़ प्रशासकों से बातचीत भी चला रहे थे। 1857 के विद्रोह के सीमित विस्तार को लेकर लगभग इतिहासकारों में सहमति ही बनी रही। सर्वप्रथम पी. सी. जोशी ने इस मत को चुनौती देते हुए कहा कि विद्रोह में उत्तर भारत का अधिकांश भाग शामिल था, जो क्षेत्र में फ्रांस, आस्ट्रिया और जर्मनी के संयुक्त आकार के बराबर था। इस विद्रोही क्षेत्र के बाहर पंजाब, राजपूताना, महाराष्ट्र, हैदराबाद, बिहार के

जनजातीय इलाके और बंगाल आदि में भी सिपाही विद्रोह, स्थानीय विद्रोह और सक्रिय बिट्रिश-विरोधी षडयंत्र हो रहे थे। पी. सी.जोशी द्वारा अनुदित पुस्तक में हिंदी, उर्दू और बंगाली साहित्य में 1857 के विद्रोह पर लिखे साहित्य के माध्यम से विद्रोह की भावना के व्यापक विस्तार की चर्चा थी। बिपन चंद्रा ने भी लिखा कि 'विद्रोह की यह लहर केवल बड़े केंद्रों तक सीमित नही रही। बंगाल की करीब सभी सैनिक छावनियों और बम्बई की कुछ सैनिक छावनियों को भी इसने अपनी लपेट में ले लिया।' इसके पश्चात तो 1857 के विद्रोह पर स्थानीय अध्ययनों की बाढ़ सी आ गई। इन अध्ययनों ने आसाम, झारखण्ड के अलावा कुमाऊँ और हिमाचल जैसे पहाड़ी इलाकों मे भी 1857 के विस्तार पर प्रकाश डाला। हाल के अध्ययनों में किसानों के अलावा जनजातिय समुदायों मे 1857 के विद्रोह की भावना के विस्तार पर शोध किए गये हैं। इरिक स्ट्रोक्स ने अपनी नवीन पुस्तक 'पीज़ेण्ट आर्म्ड' में 1857 के विद्रोह में किसानों की भागीदारी पर व्यापक प्रकाश डाला। वही शशांक सिन्हा ने छोटानागपुर के जनजातिय समुदाय में विद्रोह की भावना का अध्ययन किया है। बद्री नारायण ने दलितों मे 1857 के विद्रोह की चेतना की चर्चा की है। उनके अनुसार दलित बुद्धीजीवियों और नेताओं ने 1857 के विद्रोह में शामिल दलितों को दलित नायकों की भाँति प्रस्तुत किया। इन नायकों में झलकारीबाई, जिनका उल्लेख बृन्दावनलाल वर्मा ने अपने उपन्यास में रानी लक्ष्मीबाई की घरेलु नौकर के रूप में किया था, को दलित नायक की भाँति पेश किया गया। इसीप्रकार ऊदादेवी, जो अवध में बेग़म हज़रत महल की निकट सहयोगी थी, पासी वीरंगना की भाँति देखी गयीं। इसप्रकार दलितों ने 1857 के विद्रोह में अपनी सक्रिय भागीदारी और भूमिका का सफलतापूर्वक उल्लेख किया है। कुल मिलाकर, हम कह सकते हैं कि भले ही विद्रोह राष्ट्रीय स्तर तक विस्तृत नहीं था, परन्तु 1857 के विद्रोह की भावना ने सभी क्षेत्रों और वर्गों के लोगों को व्यापक रूप से प्रभावित किया था।

1.5 विद्रोह की असफलता एवं परिणाम

हम जानते हैं कि 1857 का विद्रोह असफल रहा। इतिहासकारों ने इसकी असफलता के अनेक कारण गिनाएँ हैं। निश्चित रूप से विद्रोह संगठित नहीं था। इरिक स्ट्रोक का मानना है कि 1857 के विद्रोह मे 'असंख्य विद्रोह' शामिल थे। बिपन चंद्रा का मत है कि 'विद्रोह के पूर्व किसी प्रकार की योजना या संगठन का भले ही अभाव रहा हो, लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि विद्रोह शुरु होते ही विद्रोहियों ने संगठन बनाने की कोशिश शुरु कर दी। दिल्ली पर कब्ज़ा होते ही आसपास के सभी राज्यों और राजस्थान के (राजपूत) शासकों को चिट्ठी भेज कर उनके समर्थन की कामना की गई और उन्हें हिस्सा लेने के लिए आमंत्रित किया गया। दिल्ली में एक प्रशासनिक अधिकरण बनाया गया जिसके ज़िम्में राज्य के सभी काम थे। इस अधिकरण के दस सदस्य थे—छह सेना से और चार नागरिक विभागों से। सारे निर्णय बहुमत से लिए जाते थे। अधिकरण बादशाह के नाम पर राजकाज का संचालन करता था।' फिर भी, हमें मानना होगा कि विद्रोही सिपाहियों की कोई एकीकृत कमाण्ड नहीं थी। मुग़ल राजकुमार, जिन्हें आरम्भ में सेना के नेतृत्व की ज़िम्मेदारी दी गई थी, विद्रोह का नेतृत्व करने में पूरी तरह निकम्मे साबित हुए। हलांकि, बाद में सिपाहियों ने अपने नेतृत्व के लिए बख़्त ख़ान को चुना। हंलाकि जनरल बख्त ख़ान ने उत्कृष्ट नेतृत्व का परिचय दिया। परन्तु, निश्चय ही कम्पनी की सेना अधिक सुसंगठित थी। नेतृत्व और संगठन की कमज़ोरियों के साथ-साथ, भारतीय पक्ष तकनीकी रूप से भी कमज़ोर था। इतिहासकारों का मत है कि

नवनिर्मित रेलवे और टेलीग्राफ ने ब्रिटिश सेना को परिवहन और सूचना के द्रुतगामी आवागमन की सुविधा प्रदान की थी। यह सुविधा भारतीय पक्ष को प्राप्त नही थी।

इस सब से अधिक महत्वपूर्ण था विद्रोह में विचारधारा का अभाव। इतिहासकारों का मानना है कि 19वीं सदी के मध्य तक भारत मे राष्ट्रवाद की भावना का विकास नहीं हुआ था। बिपन चंद्रा का मत है कि 'जो चीज़ विद्रोहियों को एक सूत्र में जोड़ती थी, वह थी ब्रिटिश हुकूमत के प्रति घृणा। लेकिन उनके पास न तो राजनीतिक दृष्टि थी और न भविष्य के लिए कोई साफ नक्शा।' किसी स्पष्ट विचारधारा के अभाव में विद्रोहियों ने परम्परागत पहचानों का सहारा लिया जो उन्हें आपस में बांधती थी। सब्यासाची भट्टाचार्य का मत है कि विद्रोही निम्न पहचानों मे संगठित थे – (क) क्षेत्रीय एवं भाषायी पहचान जैसे पुरबिया, तेलिंगा आदि, (ख) व्यापारी, ऋणदाता एवं बनिया, (ग) व्यावसायिक समुदाय जैसे लेखक, कवि तथा दिल्ली कालेज से जुड़े बुद्धीजीवी, (घ) दिल्ली के शाही दरबार और महल से जुड़ाव वाले लोग, और अंतत: (ड़) धार्मिक समुदाय जो निश्चित रूप से समरूप न होकर विभिन्न सम्प्रदायों में बँटे थे। हमें ध्यान रखना चाहिए कि औपनिवेशिक इतिहासकारों ने विद्रोहियों की धार्मिक पहचान को ही महत्व दिया तथा अन्य पहचानों को नज़रअंदाज़ किया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 1857 के विद्रोह जैसी हिन्दु-मुस्लिम एकता भारत में दुर्लभ ही दिखाई पड़ी। इसलिए विद्रोह को धर्मयुद्ध या जिहाद की तरह देखना पूरी तरह से त्रुटिपूर्ण होगा। फिर भी, यह भी सही है कि राष्ट्रवाद के अभाव में विद्रोहियों ने पूर्व-आधुनिक पहचानों के माध्यम से स्वयं को संगठित किया।

लगभग एक वर्ष कुछ अधिक समय के भीतर ही अंग्रेज़ विद्रोह को कुचलने मे सफल हो गये। परन्तु, इसके परिणाम दूरगामी थे। भारत में 1757 के प्लासी युद्ध से शुरु हुआ कम्पनी का राज समाप्त हो गया। इसका स्थान सीधे ब्रिटिश क्राउन के शासन ने ले लिया, जिसका अर्थ था भारत के शासन पर ब्रिटिश पार्लियामेण्ट का सीधा नियंत्रण। भारत में शासन तो गवर्नर जनरल और वायसराय के हाथ में ही रहा, परन्तु ब्रिटेन में भारतीय शासन को नियंत्रित करने के लिए भारत सचिव की अध्यक्षता में एक इंडिया आफिस की स्थापना कर दी गई। भारत सचिव गवर्नर जनरल से सीधा सम्पर्क बनाए रखता था तथा ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था।

1857 के विद्रोह का दूसरा सीधा परिणाम ब्रिटिश नीतियों के परिवर्तन के रूप में दिखाई पड़ा। भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक मामलों में सीधे सरकारी हस्तक्षेप की नीति का त्याग कर दिया गया। भारतीय सामंती वर्गों, विशेषकर जमींनदार, तालुकेदार और भारतीय राजाओं को पर्याप्त छूटें एवँ स्वीधाएँ दे दी गई ताकि ब्रिटिश राज को इन वर्गों का समर्थन पुन: प्राप्त हो जाए। सेना में अंग्रेज़ों और भारतीयों के अनुपात में भी आवश्यक सुधार किए गये। 1857 की पराजय का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम तो यह था कि भारतीय अगले 50-60 वर्षों तक अंग्रेज़ी शासन का आक्रामक विरोध नहीं कर सके।

1.6 विद्रोह की प्रकृति

1857 के विद्रोह के बारे में सबसे विवादित चर्चा इसके स्वरूप को लेकर ही रही है। औपनिवेशिक इतिहासकारों में सर जॉन केय और कर्नल मालेसन का मानना था कि 1857 का विद्रोह एक 'सैनिक विद्रोह' था। बी. पती का मत है कि 'आरम्भिक लेखों एवँ बयानों में, समकालीन साक्ष्यों में महान विद्रोह को औपनिवेशिक दृष्टि से देखा गया था। इसमें सबसे महत्वपूर्ण था इसे एक 'सैनिक विद्रोह' के रूप में देखना। इसका उद्देश्य

औपनिवेशिक विस्तार और शोषण से उत्पन्न समस्याओं को छिपाना और औपनिवेशिक प्रशासकों एवँ 'घरेलू' लोगों को सान्त्वना प्रदान करना था। यहाँ तक की, औपनिवेशिक स्रोतों में महान विद्रोह को 'सिपाही विद्रोह' के रूप में पेश किया गया जो 'बग़ावत' (जनविद्रोह) में विकसित हो गया।' बी. पती के अनुसार यही 'औपनिवेशिक विचार राष्ट्रवादी और बाद में सबअलटर्न इतिहासलेखन मे भी बना रहा।' औपनिवेशिक इतिहासलेखक साम्राज्य के प्रति पूर्वाग्रह रखते थे। सर जॉन केय ने जहाँ ब्रिटिश सैनिकों की वीरता की भूरी-भूरी प्रशंसा की, वही विद्रोही सिपाहियों को तिरस्कार से देखा और उन्हें कायर और बदमाश बताया। कर्नल मालेसन का विवरण तो और भी त्रुटिपूर्ण था। उन्होनें तीन खण्डों का विवरण ब्रिटिश सैनिकों और प्रशासकों से बातचीत के आधार पर लिखा था। फिर भी, अनेक अंग्रेज़ो को 1857 के विद्रोह के मात्र एक सैनिक विद्रोह होने मे विश्वास नहीं था। ब्रिटिश पार्लियामेण्ट मे विपक्ष के नेता डिज़राईली ने पार्लियामेण्ट मे चर्चा करते हुए कहा कि 'वर्तमान भारतीय अव्यवस्था एक सैनिक विद्रोह नहीं बल्कि राष्ट्रीय विद्रोह है।' इसीप्रकार जस्टिन मैककार्टी का मत था कि 'भारतीय प्रायद्वीप के उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी प्रांत में यह भारतीय प्रजातियों का अंग्रेज़ शक्ति के खिलाफ विद्रोह था।' मैकलायड का विचार था कि 'कम से कम अवध के लोगों के संघर्ष को तो स्वतंत्रता का युद्ध मानना चाहिए।' इन विचारों के बावजूद औपनिवेशिक इतिहासलेखन की प्रवृत्ति 1857 को एक 'सैनिक विद्रोह' की भाँति ही देखने की रही। हाल में, विलियम डार्लिम्पल ने कहा कि दिल्ली में विद्रोह एक 'आयातित' घटना थी। मेरठ से आये 300 सिपाहियों ने दिल्ली पर कब्ज़ा कर लिया और बादशाह तथा दिल्लीवालों को निर्देशित किया। हलांकि, डार्लिम्पल ने 1857 को मूलत: एक 'धर्मयुद्ध' की तरह देखा और इसे इस्लाम की जिहाद की विचारधारा से जोड़ दिया, जो हमारे समय में तालिबान और अल कायदा के रूप मे अभिव्यक्त हो रही है। के. सी. यादव ने उनके इस मत का खण्डन करते हुए इसे 'महान गलत व्याख्या' कहा है। यादव ने समकालीन स्रोतों के माध्यम से तर्क दिया कि 'उस समय जिहाद यानि मुस्लिम संघर्ष, हिंदुओं के साथ मिलकर, काफिरों अर्थात अंग्रेज़ो के विरुद्ध हो रहा था, जो उनके दीन और इमान—स्वतंत्रता और इज़्ज़त को नष्ट कर रहे थे।' यादव ने बताया कि विद्रोह के दस्तावेज़ों से पता चलता है कि वास्तव में हिंदुओं ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध जिहाद शब्द का प्रयोग किया। हंलाकि, औपनिवेशिक इतिहासलेखन में 1857 को एक धार्मिक संघर्ष के रूप में देखना भी कोई नया विचार नहीं है। लन्दन टाइम्स के लिए लिखते हुए सर डब्लू. रसेल ने 1857 को 'धर्म का युद्ध और प्रजाति का युद्ध' कहा था। हम ऊपर देख चुके है कि जॉन केय ने 1857 के विद्रोह का मूल कारण धार्मिक भावनाओं का आहत होना माना था। फिर भी, डार्लिम्पल ने 1857 के विद्रोह से सम्बंधित ऐतिहासिक स्रोतों मे 'जिहाद' शब्द के प्रयोग को अपने इतिहास में एक बिल्कुल नया और अनऐतिहासिक अर्थ दियाह है।

1857 के स्वरूप और प्रकृति को लेकर राष्ट्रवादी इतिहासलेखन अतिवाद या असमंजस से ग्रसित दिखाई पड़ता है। आरम्भिक राष्ट्रवादी वी. डी. सावरकर की 'प्रथम राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम' की थीसिस को अधिकतर राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने ख़ारिज कर दिया। 1947 में भारत की आज़ादी के पश्चात, 1857 के शताब्दी वर्ष में राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने विद्रोह के कारणों एवँ स्वरूप पर पुनर्विचार किया। मशहूर इतिहासकार आर. सी. मजुमदार, जिन्हें पहले सरकार द्वारा गठित कमेटी में रखा गया था जिसे 1857 का इतिहास लिखना था, ने सरकारी प्रयासों से अलग 'द सिपॉय म्युटिनी एण्ड द रिवोल्ट ऑफ 1857' नाम से 1857 का इतिहास लिखा। जैसा कि पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट था, मजुमदार ने 1857 को मूलत: एक सैनिक विद्रोह और भारत्तीय राजाओं का विद्रोह

ही माना। मुग़ल बादशाह बहादुरशाह, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई और नाना साहेब के बारे में उनकी राय थी कि वे सभी अपने व्यक्तिगत लाभ और परम्परागत अधिकारों के लिए लड़ रहे थे। भारतीय शासकों के दस्तावेज़ों के आधार पर मजुमदार ने दिखाया कि ये शासक विद्रोह के दौरान अंग्रेज़ों से बातचीत भी कर रहे थे, ताकि ब्रिटिश प्रशासन से कोई समझौता किया जा सके। अत: मजुमदार ने विद्रोह को स्वाधीनता संघर्ष मानने से इंकार कर दिया। हलांकि, आर. सी. मजुमदार ने औपनिवेशिक इतिहासकारों के इस विचार को चुनौती दी कि विद्रोह के कारण धार्मिक थे। उन्होंने भारत में 100 साल के कम्पनी शासन तथा इसकी नीतियों को विद्रोह के लिए ज़िम्मेदार माना। 1857 के विद्रोह के सरकारी इतिहासकार सुरेंद्रनाथ सेन ने भी इसे पहला स्वाधीनता संघर्ष तो नहीं माना, परन्तु माना कि कम से कम अवध में तो इसने राष्ट्रीय स्वरूप धारण कर लिया था। उन्होंने यह भी कहा कि अंग्रेज़ों का विरोध करने के लिए ज़मीनदार और किसान एक साथ आ गये। सेन ने भी इस विचार को पूरी तरह ख़ारिज कर दिया कि विद्रोही धार्मिक भावनाओं के आहत होने से नाराज़ थे। एस. एन. सेन के इतिहास की मुख्य विशेषता भारत के विभिन्न क्षेत्रों में इसके प्रभाव एवँ प्रसार को रेखांकित करना था। फिर भी, सेन का इतिहास 1857 को 'राष्ट्रीय विद्रोह' बनाम 'सैनिक विद्रोह' की संज्ञा देने के सवाल पर असमंजस मे रहा और इस प्रश्न को हल न कर सका। के. सी. यादव का मत है कि 'विद्रोह के ब्रिटिश विश्लेषण का 1857 के इतिहासलेखन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। न केवल मामूली बल्कि एस. एन. सेन और आर. सी. मजुमदार जैसे महान इतिहासकार भी ब्रिटिश प्रभाव मे कार्य करते रहे और 1857 का विश्वसनीय इतिहास लिखने में विफल रहे।' स्वतंत्र रूप से लिखने वाले दो राष्ट्रवादी इतिहासकारों—के. के. दत्ता और एस. बी. चौधरी के साथ ये दुविधा नहीं रही। इन इतिहासकारों का मानना था कि 1857 का आरम्भ तो एक 'सिपाही विद्रोह' के रूप में हुआ, परन्तु शीघ्र ही इसने 'जनविद्रोह' का रूप धारण कर लिया। 1857 के विद्रोह पर राष्ट्रवादी इतिहासलेखन का सबसे बड़ा योगदान औपनिवेशिक अभिलेखागार (बाद में राष्ट्रीय अभिलेखागार) में मौजूद दस्तावेज़ों का समुचित उपयोग करना और देश के अलग अलग भागों मे बिखरे दस्तावेज़ों को एकत्र करना था।

मार्क्सवादी विचारकों एवँ इतिहासकारों में 1857 व्यापक कौतुहल और संतुलित विवेचना की चुनौती बना रहा है। पी. सी. जोशी ने कार्ल मार्क्स के 31 जुलाई 1857 के न्युयार्क ट्रिब्यून को भेजे लेख का उल्लेख करते हुए दावा किया है कि मार्क्स ने इसे 'राष्ट्रीय विद्रोह' कहा था। बी. पती ने भी कहा कि 'मार्क्स और एंजेल से लेकर आर. पी. दत्त तक, यह मार्क्सवादी लेखन की परम्परा की विरासत ही है जो 1857 मे लोगों के व्यापक रोष को औपनिवेशिक शोषण से जोड़ती है।' राष्ट्रवादी इतिहासलेखन से पूर्व ही 1940 में 'इंडिया टुडे' नामक ग्रण्थ लिखते हुए, रजनी पॉमे दत्त (आगे आर. पी. दत्त) ने 1857 को एक 'विशाल किसान विद्रोह' कहा था। हलांकि, दत्त का मानना था कि 1857 के विद्रोह का नेतृत्व 'विघटित होती सामंती ताकतों' के पास था जो विदेशी प्रभुत्व को समाप्त कर अपने विशेषाधिकार पुन: पाना चाहते थे। मार्क्सवादी परम्परा में 1957 में लिखी गई और पी. सी. जोशी द्वारा संपादित 'रेबेलियन 1857' विद्रोह पर एक प्रमाणिक और नवीन शोध साबित हुई। सिपाही विद्रोह या राष्ट्रीय विद्रोह के सवाल को उठाते हुए जोशी ने बताया कि इस सवाल का जन्म ब्रिटिश प्रशासकों और लेखकों के मध्य ही सबसे पहले हुआ। दरअसल 1857 के विद्रोह के तुरंत बाद ही ब्रिटिश इस विषय पर चर्चा कर रहे थे कि विद्रोह को सैनिक विद्रोह माना जाये या व्यापक राष्ट्रीय संघर्ष। पी. सी. जोशी ने तर्क दिया कि इस विद्रोह के चरित्र का निर्धारण इसमें शामिल राजनीतिक, आर्थिक और विचारधारात्मक मुद्दों के विश्लेषण के आधार पर ही

किया जा सकता है। विद्रोह के कारणों का विश्लेषण करते हुए जोशी ने तर्क दिया कि ब्रिटिश शासकों की राजनीतिक एवं आर्थिक नीतियों ने भारतीय शासकों से लेकर ग़रीब किसान और शिल्पकारों सभी को राज के विरुद्ध कर दिया। जोशी ने कहा कि 1857 के दौरान भारतीय शासकों के एक वर्ग के हित और राष्ट्रीय हित एकसमान रूप से ब्रिटिश शासन के विरुद्ध हो गये, और उन्होंने राष्ट्रीय विद्रोह में सक्रिय हिस्सा लिया। जोशी ने आर. सी. मजुमदार और एस. एन. सेन द्वारा विद्रोही नेतृत्व की इस आलोचना, कि भारतीय शासक वर्ग अपने हितों के लिए संघर्ष कर रहा था, से सहमति नहीं जतायी। उनका मानना था कि भारतीय सामंतों के एक वर्ग ने देशभक्ति की भावना से प्रभावित होकर भी जनविद्रोह में भाग लिया। इसप्रकार पी. सी. जोशी ने 1857 को राष्ट्रीय विद्रोह और जनविद्रोह की संज्ञा दी। हम जानते हैं कि 1857 के विद्रोह को अंग्रेज़ों द्वारा एक 'मुस्लिम षड़यंत्र' के रूप में भी देखा गया था। पी. सी. जोशी संपादित पुस्तक में इस पर विचार करते हुए के. एम. अशरफ ने हमारा ध्यान फ़राज़ी और वहाबी आंदोलनों में मौजूद उपनिवेशवाद-विरोधी भावना की ओर दिलाया। उन्होंने उत्तर भारत में विद्रोह में बड़ी संख्या में वहाबियों की उपस्थिति को रेखांकित किया। अशरफ का मत है कि वहाबियों का ब्रिटिश विरोध जगज़ाहिर था, अत: 1857 के विद्रोह को 'मुस्लिम षड़यंत्र' मानना उचित नहीं होगा।

1857 के शताब्दी वर्ष में हुए उपरोक्त वर्णित राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी अध्ययन वैसे तो औपनिवेशिक अध्ययनों से काफ़ी आगे जाकर विद्रोह का सर्वांगीण विश्लेषण कर पाए, फिर भी, इनकी अपनी सीमाएँ थीं। ये अध्ययन उन सवालों में उलझे रहे, जो औपनिवेशिक इतिहास ने खड़े किये थे। औपनिवेशिक इतिहासलेखन का सबसे अहम विचार था कि 1857 का विद्रोह एक सैनिक विद्रोह था जो गाय और सुअर की चर्बीयुक्त कारतूसों के प्रयोग के कारण सैनिकों की धार्मिक भावनाओं के आहत होने से हुआ। राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी इतिहासकार 1857 के विद्रोह के कारणों पर तो औपनिवेशिक इतिहास को चुनौती दे पाए, परन्तु इसकी प्रकृति पर वे एकमत नहीं थे। 1857 के विद्रोह की प्रकृति के सवाल को न सुलझा पाने के फलस्वरूप ये इतिहासकार दूसरे महत्वपूर्ण प्रश्नों पर ध्यान नहीं दे पाए।

1857 के शताब्दी वर्ष के पश्चात इस विद्रोह पर कई महत्वपूर्ण शोध हुए, जिन्होंने विद्रोह के विविध पहलुओं को प्रकाशित किया है। ऐसा एक अध्ययन इरिक स्ट्रोक्स ने किया। 1857 के विद्रोह पर अपना मत देते हुए स्ट्रोक्स ने कहा कि 'यह एक विद्रोह नहीं था बल्कि 1857 में 'असंख्य विद्रोह' हो रहे थे।' जाति को विश्लेषण की एक महत्वपूर्ण कुंजी मानते हुए उन्होंने ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों का विभिन्न जातियों पर प्रभाव का अध्ययन किया। उनका मानना था कि विद्रोह में लामबंदी जातीय आधार पर हुई और ग्रामीणों ने उच्च जाति के नेतृत्व का अनुसरण किया। अत: ग्रामीणों को संगठित करने में गाँव के शक्तिशाली अभिजात वर्ग की महत्वपूर्ण भूमिका रही। जहाँ-जहाँ गावों में ब्रिटिश प्रशासन कमज़ोर था वहाँ-वहाँ पुराने अभिजात वर्गों ने विद्रोह में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसप्रकार, इरिक स्ट्रोक्स ने 1857 के ग्रामीण विद्रोह में उच्च वर्गों की भूमिका पर ज़रूरत से ज़्यादा ध्यान दिया और किसानों की महत्वपूर्ण भूमिका को नज़रअंदाज़ किया।

रूद्रांशु मुखर्जी ने 1857 के विद्रोह में किसानों की भूमिका पर प्रकाश डाला है। मुखर्जी ने विद्रोह के केन्द्र अवध में तालुकेदारों/ज़मींदारों और किसानों के सम्बंधों का अध्ययन किया और दावा किया कि तालुकेदारों के विरोध को शक्ति किसानों से मिली। उन्होंने परम्परागत कृषि-सम्बंधों में जमींदार-किसान की एक-दूसरे पर निर्भरता की बात की है। मुखर्जी ने तर्क दिया कि 1857 के विद्रोह को किसानों और आम लोगों का व्यापक समर्थन

हासिल था। उन्होंने बताया कि अवध में लगभग ¾ जनसंख्या विद्रोह में शामिल थी। इसप्रकार रूद्रांशु मुखर्जी ने विद्रोह के अभिजात चरित्र के विचार को चुनौती दी है। उन्होंनें स्रोंतों के माध्यम से दिखाया कि जहाँ तालुकेदार अंग्रेज़ों के साथ थे वहाँ भी किसानों ने विद्रोह में भाग लिया। सिपाहियों को मुखर्जी ने 'वर्दी में किसान' की संज्ञा दी। इस आधार पर मुखर्जी ने दावा किया कि किसानों ने मातहत या सबअल्टर्न की भूमिका नहीं निभाई, बल्कि अवध में तो विद्रोह में उन्होंने ही मुख्य भूमिका निभाई। मुखर्जी ने 1857 को किसान विद्रोह एवं लोकप्रिय विद्रोह माना। ताप्ती राय ने बुंदेलखण्ड में विद्रोह का अध्ययन करते हुए इसे लोकप्रिय आंदोलन की संज्ञा दी।

गौतम भद्रा ने छोटानागपुर के इलाके में कोल जनजाति की 1857 में भूमिका का अध्ययन किया। उन्होंने बताया कि इन क्षेत्रों में विद्रोह का आरम्भ तो रामगढ़ बटालियन से हुआ, परन्तु शीघ्र ही विद्रोह का नेतृत्व गुनू नामक एक जनजातिय कोल के हाथ में आ गया। कालांतर में विद्रोह में कोल जनजाति ने ही मुख्य भूमिका निभाई। भद्रा के अनुसार 'रामगढ़ बटालियन का विद्रोह वास्तव में लोकप्रिय कोल विद्रोह' में तबदील हो गया। के. एस. सिंह ने विभिन्न जनजातीय इलाकों में जनजातीयों की 1857 में भागीदारी का अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि 1857 के जनजातीय विद्रोहों में पर्याप्त विभिन्नताएँ थीं। जनजातीय लोग मूलत: अपने परम्परागत अधिकारों और खोई हुई शक्ति के लिए लड़ रहे थे। इस संघर्ष में उन्होंने आन्तरिक शोषण के प्रतीक सूदखोर और व्यापारियों के विरुद्ध भी लड़ाई लड़ी। इन सभी इतिहासकारों ने 1857 के विद्रोह के लोकप्रिय चरित्र की बात की है। एक अन्य इतिहासकार रजत रे ने 1857 के विद्रोह की लोकचेतना का अध्ययन किया है। इन नवीन अध्ययनों ने विद्रोह के स्वरूप और इसमें जनभागीदारी के अनेक नये पहलुओं को रेखांकित किया है।

1.7 सारांश

इस प्रकार हम पाते हैं कि 1857 का विद्रोह इतिहासकारों के मध्य व्यापक शोध और अध्ययन का विषय रहा है। 1857 के विद्रोह को लेकर मुख्य बहस दो बिंदुओं पर केंद्रित रही है—एक, विद्रोह के कारण क्या थे; दूसरा, इस विद्रोह को कैसे देखा जाए। विद्रोह के कारणों को लेकर अधिकतर इतिहासकारों ने माना कि ब्रिटिश राजनीतिक, आर्थिक एवँ सांस्कृतिक नीतियाँ ही व्यापक भारतीयों रोष और ब्रिटिश विरोध के लिए ज़िम्मेदार थीं। जहाँ तक विद्रोह की प्रकृति का सवाल था, इतिहासकारों के मध्य यह व्यापक बहस और शोध का विषय रहा। हाल के अध्ययनों ने विद्रोह के कृषक और लोकप्रिय चरित्र पर प्रकाश डाला है। इन अध्ययनों के अनुसार इसे एक कृषक विद्रोह और एक जनविद्रोह माना जा सकता है। विभिन्न स्थानीय इलाकों में विद्रोह के अध्ययनों ने जहाँ इसके व्यापक प्रसार पर प्रकाश डाला है, वही विभिन्न वर्गों और समुदायों की विद्रोह में भूमिका के अध्ययनों ने 1857 के व्यापक वर्गीय चरित्र को उजागर किया है। 1857 की 150वीं वर्षगांठ पर हुए अध्ययनों ने विद्रोह पर नये शोधों के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया है। उड़ीसा और आंध्र जैसे विद्रोह के इलाके से बाहर के क्षेत्रों में 1857 के प्रभाव का अध्ययन किया गया है। आदि-द्रविड़ आंदोलनों में 1857 के विद्रोह चेतना के प्रसार का अध्ययन। जनजातीयों के अलावा दलितों एवँ महिलाओं की 1857 में भागीदारी पर अध्ययन के रास्ते तेजी से खुल गये हैं। 1857 में तवायफों की भूमिका का अध्ययन हुआ है, जिन्होंने सूचनाएं पहुँचाने में महती भूमिका अदा की। भारतीय ही नहीं अपितु अंग्रेज़ महिलाओं को भी 1857 में किन परिस्थियों का सामना करना पड़ा, यह सवाल जेण्डर

अध्ययन की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण हैं। हाल में विद्रोहियों के लेखों और दूसरे दस्तावेज़ों को खोजकर इनके अध्ययन किए गये है, जो दिखाते हैं कि विद्रोही पुरानी सामंती व्यवस्था को ही पुनर्स्थापित नही कर रहे थे।

1.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. बिपन चंद्रा और अन्य, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष (दिल्ली: हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, 1998)
2. बिस्वामॉय पती, संपादक, द ग्रेट रिबेलियन ऑफ 1857 इन इंडिया (लंदन: राउटलेज, 2010)
3. पी. सी. जोशी, संपादक, रेबेलियन 1857 (नई दिल्ली: नेशनल बुक ट्रस्ट, 2007)
4. आर. सी. मजुमदार, द सिपॉय म्युटिनी एण्ड द रिवोल्ट ऑफ 1857 (कलकत्ता: फर्मा के. एल. मुखोपाध्याय, 1957)
5. सब्यासाची भट्टाचार्य, संपादक, रिथिन्किंग 1857 (दिल्ली: ओरिएण्ट ब्लैकस्वान, 2007)

1.9 सहायक पाठयसामग्री

1. इरिक स्ट्रोक्स, द पीज़ेण्ट आर्म्ड: द इंडियन रिवोल्ट ऑफ 1857 (न्यू यार्क: आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1986)
2. क्रिस्पिन बेट्स, सीरीज़ संपादक, म्युटिनी एट द मार्जिन्स (सात खण्डों में) (नई दिल्ली: सेज पब्लिकेशन, 2013)
3. रुद्रांशु मुखर्जी, अवध इन रिवोल्ट 1857-1858 (दिल्ली: ओरिएण्ट ब्लैकस्वान, 2002)

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. 1857 के विद्रोह के कारणएवं परिणामों पर चर्चा कीजिए।
2. 1857 के विद्रोह की प्रकृति पर चर्चा कीजिए। क्या यह सैनिकविद्रोह था।

आंग्ल–अफगान संबंध

2.1. प्रस्तावना
2.2. उद्देश्य
2.3. अफगानिस्तान
2.4.1. प्रथम आंग्ल – अफगान युद्ध (1839–42 ई0)
2.4.2. लार्ड लारेन्स की अफगान नीति – (1864–69)
2.4.3. लार्ड मेयो की अफगान नीति
2.4.4. लार्ड नार्थब्रुक की अफगान नीति
2.4.5. लार्ड लिटन की अफगान नीति
2.5.1. द्वितीय आंग्ल – अफगान युद्ध (1878–80 ई0)
2.5.2. लार्ड रिपन की अफगान नीति
2.5.3. अफगानिस्तान के एकीकरण की समस्या :
2.6.1. तृतीय आंग्ल – अफगान युद्ध (अप्रैल–मई – 1919 ई0)
2.7. सारांश
2.8. संदर्भ ग्रंथ सूची
2.9. निबन्धात्मक प्रश्न

2.1. प्रस्तावना

ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति सर्वविधित थी। हम यह भी जानते है कि भारत को जीतने में अंग्रेजों ने किस प्रकार से बंगाल के संसाधनों का उपयोग किया। इस ईकाई में हम लोग इस बात पर अध्ययन करेंगे की किस प्रकार से ब्रिटिश उपनिवेशवाद का अपनी विशेषता के अनुरूप सतत् प्रसार होता रहा और एक उपनिवेश की सम्पदा का उपयोग दूसरे उपनिवेश पर प्रसार एवं नियंत्रण को सुदृढ़ीकरण करने में किया गया। इस संबंध में प्रसिद्ध इतिहासकार आर. सी. मजूमदार लिखते है कि – ''भारत की पूर्वोत्तर सीमा की राजनीति प्रायः भारत के ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा, गृह सरकार की अनुमति या उसके बिना संचालित की गई, जबकि पश्चिमोत्तर (अफगानिस्तान) सीमा नीति का संचालन केवल ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति के हक में हुआ''। इस कारण ईस्ट इंडिया कम्पनी के कुछ सुसंगत भागों का यहाँ संक्षिप्त विवरण करना उपयोगी हो सकता है।

2.2. उद्देश्य

इस ईकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान सकेंगे कि –

- अंग्रेजों के साम्राज्यवादी नीति के बारे में।
- भारत से बाहर अंग्रेजी प्रसार के सामान्य कारणों पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- उन क्षेत्रों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे जिन पर अंग्रेजों न प्रत्यक्ष अधिकार तो नहीं किया फिर भी उन पर अपना पर्याप्त प्रभाव कायम रख सकें।

2.3. अफगानिस्तान

अफगानिस्तान की भौगोलिक स्थिति भारत के मध्येनजर रखते हुए बहुत महत्वपूर्ण थी। अफगानिस्तान पश्चिम व मध्य एशिया से भारत आने वाले मुख्य व्यापारिक मार्ग के बीच स्थित था। इस पर यूरोप के दो प्रमुख साम्राज्यवादी राष्ट्र इंग्लैण्ड और रूस दोनों की नजर थी। शक्तिशाली मुगल बादशाहों के पतन के पश्चात् भारत पर अफगानिस्तान से कई आक्रमण हुए। उनमें से अहमदशाह अब्दाली का आक्रमण सबसे प्रमुख आक्रमण था। सन् 1793 ई0 में जमाँ शाह के समय में एक बार पुनः भारत पर अफगान आक्रमण का खतरा बढ़ गया था। जमाँ शाह के बाद अफगानिस्तान में अशांति फैल गई। अफगानिस्तान

के पूर्व में सिख्खों के तथा पश्चिम में फारस के ताकतवर राज्य थे। ये दोनों राज्य मौका मिलते ही राज्य विस्तार करने लगते थे।

1826 ई0 में अफगानिस्तान का शासक दोस्त मोहम्मद बना। इस बीच असंतुष्ट शासक शाह शुजा भागकर भारत में शरण ली तथा रणजीत सिंह के साथ मिलकर काबूल पर अधिकार करने की योजना बनाने लगा। इस स्थिति का अंग्रेजों ने अपने लिए राजनीतिक फायदा उठाने की कोशिश शुरू कर दी।

2.4.1. प्रथम आंग्ल – अफगान युद्ध (1839–1842 ई0)

अफगानिस्तान के तत्कालीन शासक जमानशाह के गद्दी से हटाये जाने के कारण 1800 ई0 में अफगानिस्तान की आन्तरिक स्थिति निरन्तर खराब होती गयी। राजगद्दी प्राप्त करने हेतु आपसी संघर्ष चरम सीमा पर पहुँच गयी। इसी आपसी संघर्ष से विजयी होकर 1826 ई0 में दोस्त मुहम्मद अफगानिस्तान का शासक बना। दोस्त मुहम्मद यद्यपि अफगानिस्तान का शासक बन गया परन्तु उसकी कठिनाईयाँ समाप्त नहीं हुई थी। हुमायूँ की भांति इसे भी आन्तरिक कलह, भाईयों का अधिकार एवं सीमाओं पर वाह्य आक्रमण के खतरे मंडराते रहे।

इसी बीच यूरोप में पूर्वी समस्या विकराल रूप अख्तियार करता जा रहा था। अंग्रेजों को रूस से भय हो गया। इस समय पामस्टेन जैसा साम्राज्यवादी ईग्लैण्ड की विदेश नीति का निर्धारक था। इस कारण उस तत्कालीन गवर्नर जनरल आकलैंड को आगाह भी किया गया था।

काबुल का शासक दोस्त मुहम्मद चारों ओर से खतरों से घिरा था। बल्ख में विद्रोह हो गया था। कंधार में उसका भाई प्रतिरोध कर रहा था। रणजीत सिंह पेशावर पर अधिकार कर चुके थे। तथा शाह शुजा अंग्रेजों की समस्या से पुनः सिंहासन को प्राप्त करने उचित अवसर की ताक में था। पीछे से हेरात पर फारस की सेना घेरा डाल चुकी थी। ऐसी परिस्थिति में वह आँकलैण्ड से मित्रता प्राप्त कर पेशावर प्राप्त करने का इच्छुक था। परन्तु आँकलैण्ड की अदुरदर्शिता पूर्ण नीति के कारण दोस्त मुहम्मद को रूस तथा फारस की तरफ झुकाव होने को बाध्य कर दिया। वैसे कालान्तर में फारस द्वारा हिरात का घेरा हटा लेने और रूसी प्रतिनिधियों के फारस और अफगानिस्तान से चले जाने के उपरान्त अंग्रेजों की भारत पर आक्रमण का कोई भय नही रहा। बावजूद इसके लॉर्ड आँकलैण्ड उस समय तक दोस्त मुहम्मद को गद्दी से हटाकर शाहशुजा को अफगानिस्तान का अमीर बनाने का निर्णय ले चुका था। इस कार्य को पूरा करने के लिए अंग्रेज रणजीत सिंह और शाहशुजा में जून 1838 ई0 में त्रिदलीय सन्धि हुई।

1 अक्टूबर, 1838 ई0 को भारत सरकार की ओर से एक घोषणा–पत्र पढ़ा गया जिसमें भावी आंग्ल – अफगान युद्ध की खाका खीचीं गई। जिस घोषणा–पत्र में मनगढ़न्त आरोप लगाये गये, जो पूर्णतः झूठ थी। वास्तव में अंग्रेजों के पास युद्ध का कोई कारण नहीं था। आकलैण्ड ने अपना मूल उद्देश्य तो 8 नवम्बर, 1838 के आदेश–पत्र में बताया कि अफगानिस्तान पर आक्रमण इस कारण आवश्यक है कि अफगानिस्तान में एक विरोधी अमीर को हटाकर एक मित्र को गद्दी पर बैठाया जाय जिससे हमारी उत्तर–पश्चिमी सीमाओं की सुरक्षा हो सके। इस कारण अफगानिस्तान पर 1839 ई0 में आक्रमण कर दिया गया। अफगानिस्तान पर आक्रमण करने वाली सेना को 'सिन्धु की सेना' (Army of the Indus) पुकारा गया।

सर जान कीन को इसका सेनापति बनाया गया। मैकनाटन को शाहशुजा का मुख्य सलाहकार और अंग्रेज प्रतिनिधि बनाकर भेजा गया। अगस्त में दोस्त मुहम्मद काबुल से भाग गया और 7 अगस्त को शाहशुजा ने काबुल में प्रवेश किया। दोस्त मुहम्मद के आत्मसमर्पण के पश्चात् उसे पकड़कर कलकत्ता भेज दिया गया। प्रारम्भिक तौर पर लगा कि अंग्रेजों की नीतियां सफल हो गयी। परन्तु कुछ दिनों पश्चात् दोस्त मुहम्मद के पुत्र अकबर खाँ के नेतृत्व में काबुल में विद्रोह फैलती चली गयी। जिसमें कई अंग्रेज अफसर तथा सैनिक मारे गए। अन्ततः 11 दिसम्बर को मैकनाटन ने अफगानों से एक अपमानजनक संधि कर ली जिसके अनुसार निश्चित किया गया कि –

(i) अंग्रेज अफगानिस्तान से वापस चले जाएंगे।

(ii) दोस्त मुहम्मद तथा अफगानी कैदियों को छोड़ देगें।

(iii) शाहशुजा पेंशन लेकर अफगानिस्तान में या अंग्रेजों के साथ रह सकता है।

(iv) चार अंग्रेज ऑफिसर अफगानों की सुरक्षा करने के दृष्टिकोण से दे दिये जाएंगे।

इस संधि की शर्ते अंग्रेजों के लिए बहुत ही अपमानजनक थी। बावजूद इसके अंग्रेजों ने अफगानों के बीच फूट डालने की कोशिश की जिससे अफगानी और भी क्रोधित हो उठे। जिसके परिणाम स्वरूप मैकनाटन की हत्या कर दी गई। अन्ततः तत्कालीन सेनापति एलफिन्स्टन को पुरानी संधि की शर्तों को मानते हुए 1 जनवरी, 1842 ई0 को (एक नई संधि) नई शर्तों को भी माननी पड़ी जिसके अनुसार –

(i) अंग्रेज अपनी सारी तोपें और बारुद अफगानों को दे देंगे।

(ii) खजाने का सारा धन अंग्रेजों को दे दिया जाएगा।

(iii) अंग्रेज बतौर मुआवजा अफगानों को 14 लाख रुपया भी देंगे।

इस संधि पर हस्ताक्षर करने के पश्चात् ही अंग्रेजों को काबुल से जलालाबाद जाने की आज्ञा मिली।

28 फरवरी, 1842 ई0 को लार्ड आंकलैण्ड की जगह लार्ड ऐलनबरो को भारत का गवर्नर जनरल नियुक्त किया गया। हालांकि जनरल पोलक और नौट ने किसी प्रकार अंग्रेजों की नाक बचाते हुए एक बार पुनः काबुल, कन्धार और गजनी में अपना झण्डा फहराया। इतना ही नहीं युद्ध पश्चात् गजनी से सोमनाथ के मंदिर के तथाकथित दरवाजे को लेकर अंग्रेजी सेना भारत वापस लौट आयी।

लेकिन इसमें संदेह नहीं है कि प्रथम आंग्ल–अफगान युद्ध से कोई भी लाभ नहीं हुआ था। अंग्रेजों का मुख्य उद्देश्य अफगानिस्तान में एक मित्र शासक को गद्दी पर बैठाना था। इस उद्देश्य की पूर्ति अंग्रेज नहीं कर सके। शाहशुजा का अफगानों ने कत्ल कर दिया था और जब युद्ध के पश्चात् अंग्रेजों ने दोस्त मुहम्मद को छोड़ दिया तब वह पुनः अफगानिस्तान चला गया और वहाँ का शासक बन गया। उसने मृत्युपर्यन्त 1863 ई0 तक वहाँ का शासन किया। इस प्रकार अंग्रेजों ने बिना किसी राजनीतिक या सैनिक उद्देश्य की पूर्ति किये हुए वहाँ पर अपना धन और अपनी सेना को नष्ट किया।

2.4.2. लार्ड लारेन्स की अफगान नीति – (1864–69)

प्रथम अफगान युद्ध के विनाश लीला एवं लार्ड आंकलैण्ड की नीति की विफलता का ब्रिटिश नीति निर्धारकों पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसके बाद भारत के तत्कालीन वायसराय सर जान लारेन्स (1864–1869 ई0) ने हस्तक्षेप न करने की नीति का पालन किया अर्थात् सीमित उत्तरदायित्व की नीति थी। जिसके तहत् अफगानिस्तान को रूसी साम्राज्य तथा भारत के अंग्रेजी साम्राज्य के मध्य एक बफर या तटस्थ राज्य के रूप में रखा जाय। साथ ही अफगानिस्तान के उत्तराधिकार की लड़ाई में हस्तक्षेप नही किया जाए। चाहे योग्य हो या अयोग्य जो भी अफगानिस्तान की गद्दी पर बैठे अमीर से मित्रतापूर्ण संबंध रखे जाये। उसे धन, अस्त्र–शस्त्र से सहायता प्रदान की जाये जिससे वह रूस के प्रभाव में न जाये। इस नीति को सर जान लारेन्स की 'शानदार अर्कमण्यता' की नीति (Policy of Masterly Inactivity) कहते है। और लारेन्स के उत्तराधिकारी वायसरायों – लार्ड मेयो तथा नार्थ ब्रुक ने भी इसी नीति का अनुसरण किया।

अपनी इस नीति के कारण वश लारेन्स को बार–बार के परिवर्तनों को स्वीकार करना पड़ा। इससे अजीब स्थिति बन गयी। 1864 ई0 में उसने शेरअली को अफगानिस्तान का अमीर स्वीकार किया। 1866 ई0 में उसने अफजल को काबुल का अमीर स्वीकार किया और शेरअली को कान्धार तथा हेरात का अमीर स्वीकार किया। इसके बाद जब अफजल ने कान्धार पर अधिकार कर लिया तो उसने अफजल को काबुल और कान्धार का अमीर और शेरअली को हेरात का अमीर स्वीकार किया। अन्त में जब शेरअली सफल हो गया तो उसे पूरे अफगानिस्तान का अमीर स्वीकार किया। तथा उसे काफी मात्रा में उपहार स्वरूप धन एवं अस्त्र–शस्त्र दिए। इस प्रकार सर जान लारेन्स की नीति वस्तुस्थिति के परिवर्तन के साथ बदलती रहती थी।

सर जान लारेन्स की नीति के पक्ष तथा विपक्ष में विद्वानों ने मत व्यक्त किए है। इस संदर्भ में राबर्टस लिखता है कि – ''उसकी निष्क्रियता चाहे वह शानदार रही हो या नहीं तर्कमुक्त थी और सुविचारित थी। केवल थोड़े से लोग ही उसके सही होने में संदेह करेंगे।

2.4.3. लार्ड मेयो की अफगान नीति (1869–1872 ई0)

लार्ड मेयो ने भी लारेन्स की नीति को ही आगे बढ़ाया। उसने मार्च 1869 ई0 में शेर अली अम्बाला से भेंट भी की। इस भेंट में शेर अली चाहता था लार्ड मेयो अफगानिस्तान को पर्याप्त सुरक्षा के आश्वासन के साथ–साथ उसके उत्तराधिकारी को राजगद्दी पर बिठाने में मदद करें। परन्तु इस भेंट में मेयो ने भारत सरकार की नीति को स्पष्ट कर दिया। उसने शेर अली को बताया कि वह भी पूर्व की भांति लारेन्स की नीति पर चलेगा। वह अफगानिस्तान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा तथा उसने अफगानिस्तान को नैतिक समर्थन का वचन दिया और धन तथा शस्त्रों की सहायता का आश्वासन भी दिया। इतना ही नहीं अफगानिस्तान मामलों को लेकर लार्ड मेयो के पहल पर ही रूस ने हस्तक्षेप न करने का आश्वासन दिया।

2.4.4. लार्ड नार्थब्रुक की अफगान नीति (1872–1876 ई0)

लार्ड नार्थब्रुक, अण्डमान में लार्ड मेयो की हत्या के बाद 1873 ई0 में भारत का वायसराय बना। लार्ड नार्थब्रुक भी मेयो और लारेन्स की भांति शानदार निष्क्रियता की नीति को ही पालन किया। परन्तु इस समय शेरअली, नार्थब्रुक से अफगानिस्तान से बचाव हेतु एक मजबुत रक्षा संबंधी संधि करना चाहता था। जिसे नार्थब्रुक ने टाल–मटोल करने की नीति अपनायी। जिस कारण शेर अली ने वायसराय द्वारा भेजी गयी 5000 राइफलों को तो रख लिया परन्तु उसने दस लाख रुपये लेने से इन्कार कर दिया। वस्तुतः शेर अली का अंग्रेजों पर से विश्वास उठने लगा था। इसी समय सीस्तान के मामले से भी अमीर अंग्रेजों से नाराज हो गया।

इसी समय इंग्लैण्ड में सत्ता परिवर्तन हो गया। नार्थब्रुक ने तत्कालीन भारत मंत्री सेलिसबरी की नीति का विरोध किया। जब उसने देखा कि सत्ता पथ अग्रगामी नीति को थोपना चाहते है तो उसने 1876 ई0 में त्यागपत्र दे दिया और चेतावनी दी कि इस नीति से युद्ध हो जाएगा।

2.4.5. लार्ड लिटन की अफगान नीति (1876–1880 ई0)

ब्रिटिश प्रधानमंत्री डिजरायली ने लार्ड लिटन को 1876 ई0 में भारत का वायसराय नियुक्त किया। उसे आदेश दिया गया था कि वह अफगानिस्तान में अंग्रेजों के लिए शक्तिशाली स्थिति प्राप्त करे। इस प्रकार टोरी दल ने लारेन्स की निष्क्रियता की नीति को त्याग कर अग्रगामी नीति को अपनाया।

द्वितीय अफगान–युद्ध को आरम्भ करने का उत्तरदायित्व पूर्णतया अंग्रेजों पर था। लिटन के समर्थकों का कहना है कि शेर अली ने रूसी राजदूत को स्वीकार करके अंग्रेजों को चुनौती दी थी और उसी की सलाह से अंग्रेज राजदूत को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। इस कारण अफगानिस्तान में बढ़ते हुए रूसी प्रभाव को रोकने के लिए लिटन के पास युद्ध के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं रह गया था। यह भी उस समय के ऐतिहासिक तथ्यों से स्पष्ट है कि अमीर ने अन्त तक रूस से कोई सन्धि नहीं की थी। अमीर ने अंग्रेज राजदूत को काबुल जाने से इसलिए नहीं रोका था कि वह रूस के प्रभाव में था, बल्कि इसलिए रोका था कि प्रथम अफगान–युद्ध का उदाहरण उसके सामने उपस्थित था। वह जानता था कि अफगान इसे कभी पसन्द नहीं करेंगे बल्कि उसे भी शंका की दृष्टि से देखेंगे। इस आधार पर वह लिटन के समय में ही नहीं बल्कि लॉरेन्स, मेयो तथा नॉर्थब्रुक के समय में सन्धि की माँग करते हुए भी अंग्रेज राजदूत को काबुल में रखने के लिए तैयार न था।

2.5.1. द्वितीय आंग्ल–अफगान युद्ध (1878–1880 ई0)

युद्ध की घोषणा होते ही अंग्रेज–सेना ने तीन ओर से अफगानिस्तान पर आक्रमण किया। एक सेना सर सेमुअल ब्राउन के नेतृत्व में खैबर के दर्रे से, दूसरी मेजर जनरल रॉबर्ट्स के नेतृत्व में खुर्रम की घाटी से और तीसरी सेना जनरल स्टुअर्ट के नेतृत्व में क्वेटा होती हुई बोलन के दर्रे से भेजी गयी। कन्धार पर सरलता से अधिकार कर लिया गया। शेर अली रूसी तुर्किस्तान भाग गया और वहीं 1879 में उसकी मृत्यु हुई। उसके पुत्र याकूब खाँ ने अंग्रेजों से सन्धि की बातचीत की और 26 मई, 1879 को गंडमक की सन्धि हो गयी। इस सन्धि के अनुसार –

(i) याकूब खाँ को अफगानिस्तान का शासक स्वीकार किया गया।

(ii) उसने अंग्रेजों को खैबर और मिशनी के दर्रे तथा खुर्रम, पिशीन और सीबी के जिले दे दिये।

(iii) उसने अपनी विदेश–नीति का संचालन अंग्रेजी की सलाह से करना स्वीकार किया।

(iv) उसने एक अंग्रेज राजदूत काबुल में रखना स्वीकार किया।

(v) अंग्रेजों ने विदेशी आक्रमण से अमीर की सुरक्षा करना तथा उसे छह लाख रुपया प्रति वर्ष सहायता के रूप में देना स्वीकार किया।

वैसे अंग्रेजों के आक्रमण से अफगानों में भीषण रोष था। वे याकूब खाँ जैसे दुर्बल व्यक्ति को अमीर स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। 3 सितम्बर, 1879 को उन्होंने ब्रिटिश राजदूत केवेग्नरी की हत्या कर दी। याकूब खाँ भाग कर अंग्रेजों की शरण में आ गया। उसे बन्दी बनाकर कलकत्ता भेज दिया गया। जनरल राबर्टस ने काबुल पर अधिकार कर लिया। अंग्रेजों की नीति अब अफगानिस्तान को छोटे–छोटे टुकड़ों में बाँटना था। यह नीति सफल नहीं हुई। दोस्त मुहम्मद का एक पौत्र, जो तुर्किस्तान में रह रहा था, काबुल आया और अमीर पद के लिए दावा प्रस्तुत किया। इस बीच इंग्लैण्ड में लिटन की नीति की बहुत निन्दा हुई। चुनावों में डिजरायली की सरकार पराजित हो गयी। उदारपार्टी का नेता ग्लेड्स्टन प्रधानमन्त्री बना जो अग्रगामी नीति का विरोधी था। नवीन सरकार बनते ही लिटन ने त्यागपत्र दे दिया। उसके उत्तराधिकारी लार्ड रिपन ने अब्दुर्रहमान को अमीर स्वीकार कर लिया और अंग्रेजी सेना को वापस बुला लिया।

नये अमीर अब्दुर्रहमान ने पिशीन और सिबी के जिले अंग्रेजों के पास रहने दिये। उसने स्वीकार किया कि वह अंग्रेजों के परामर्श के बिना किसी विदेशी शक्ति से सन्धि नहीं करेगा। अंग्रेजों ने उसे 12 लाख रुपया वार्षिक देना स्वीकार किया। लिटन की नीति पूर्ण रूप से असफल हो चुकी थी और अग्रगामी नीति को त्याग दिया गया था।

2.5.2. लार्ड रिपन की अफगान नीति

1880 ई0 में लिटन के स्थान पर लार्ड रिपन को भारत का वायसराय बनाया गया चूकि लिटन की असफल अफगान नीति का ब्रिटिश चुनावों पर गहरा प्रभाव पड़ा। कन्जरवेटिव पार्टी (टोरी पार्टी) की पराजय हुई। लिबरल पार्टी को जनता का समर्थन मिला और ग्लेड्स्टन प्रधानमन्त्री बना। हार्टिगटन भारत मन्त्री नियुक्त हुआ। लिटन ने त्यागपत्र दे दिया। उसके स्थान पर ग्लेड्स्टन ने उदार रिपन को वायसराय नियुक्त किया। ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ने अग्रगामी नीति की निन्दा की और रिपन को आदेश दिया गया कि जहाँ तक सम्भव हो सके युद्ध के पहले की स्थिति पुनर्स्थापित की जाये और शान्तिपूर्ण समझौता किया जाये।

रिपन की नीति – भारत आने के बाद रिपन को स्पष्ट हो गया कि लिटन की नीति ने स्थिति में इतना परिवर्तन कर दिया था कि लारेन्स की अहस्तक्षेप की नीति का पालन नहीं किया जा सकता था। अतः उसने अहस्तक्षेप तथा हस्तक्षेप दोनों नीतियों का मार्ग अपनाया क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों में मध्यम मार्ग ही व्यावहारिक था। उसने स्थिति सुधारने के लिए निम्नलिखित व्यवस्था की –

(i) उत्तराधिकार के मामले में रिपन ने लिटन की नीति स्वीकार करते हुए अब्दुर्रहमान को अफगानिस्तान का अमीर स्वीकार कर लिया।

(ii) अमीर ने वचन दिया कि वह भारत सरकार के अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति से सम्बन्ध नहीं रखेगा।

(iii) भारत सरकार ने उसे अकारण आक्रमण से रक्षा करने तथा आर्थिक सहायता देने का वचन दिया।

(iv) काबुल में ब्रिटिश राजदूत रखने की व्यवस्था नहीं की गयी क्योंकि रिपन ने इसे आवश्यक नहीं समझा।

(v) रिपन का विचार था कि सैनिक दृष्टि से पीछे हटने से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होगी। इसलिए उसने पिशिन और सीबी पर ब्रिटिश अधिकार बनाये रखा। अब्दुर्रहमान ने इन दोनों स्थानों पर ब्रिटिश अधिकार को स्वीकार कर लिया।

इंग्लैण्ड में ग्लेड्स्टन सरकार ने वचन दिया था कि पिशीन और सीबी अमीर को वापस दे दिये जायेंगे। लेकिन उसने इन स्थानों को अधिकार में रखना आवश्यक समझता था। अन्त में ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल को रिपन की नीति स्वीकार करनी पड़ी।

2.5.3. अफगानिस्तान के एकीकरण की समस्या

काबुल पर अधिकार करने के बाद लिटन ने अफगानिस्तान को तीन हिस्सों – काबुल, कांधार, हेरात में विभाजित करने का निर्णय किया था। याकूब खाँ को काबुल का, शेर अली खाँ को कंधार का अमीर स्वीकार किया गया। लिटन हेरात के बारे में फारस के शाह से बात कर रहा था। इसके बाद अब्दुर्रहमान के आने से स्थिति बदल गयी। लिटन के जाने के बाद रिपन की नीति थी कि अफगानिस्तान को एक शक्तिशाली बफर राज्य बनाया जाये। इसके लिए अफगानिस्तान का एकीकरण आवश्यक था। उसके लिए रिपन को अवसर उस समय प्राप्त हुआ जब अयूबखाँ ने कांधार पर आक्रमण किया। अंग्रेजी सेना की रक्षा के लिए जनरल राबर्टस काबुल से कांधार आया और अयूबखाँ को उसने पराजित किया। अयूबखाँ हेरात भाग गया। रिपन ने कांधार अब्दुर्रहमान को दे दिया और शेर अली को 5000 रुपये माशिक की पेन्शन दे दी गयी। काबुल से कांधार आने में राबर्टस को अमीर ने पूरा सहयोग दिया था। इससे स्पष्ट हो गया कि अमीर अंग्रेजों से मित्रता रखना चाहता था। कांधार वापस मिलने से अमीर को अंग्रेजों पर विश्वास हो गया। इस प्रकार रिपन ने सभी समस्याओं को हल करने में सफलता प्राप्त की। बाद में अयूबखाँ को पराजित करके अब्दर्रहमान ने आनी योग्यता भी प्रमाणित कर दी। उसकी सत्ता को दृढ़ करने के लिए रिपन ने उसे 12 लाख रुपया प्रतिवर्ष देना स्वीकार किया।

रिपन ने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। अग्रगामी तथा पृष्ठगामी के मध्य में चलना ही व्यवहारिक राजनीति थी। उसने क्वेटा और गिलगिट से सेनाओं को नहीं हटाया। उसने पिशिन और सीबी के जिलों को वापस नहीं किया। उसने अमीर की विदेश नीति पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया। लेकिन लारेन्स की तरह उसने अमीर से कोई सन्धि नहीं की और न उत्तराधिकार के युद्ध में हस्तक्षेप किया। उसने अमीर को सैनिक तथा आर्थिक सहायता का वचन तो दिया लेकिन लारेन्स की तरह उसने काबुल में अंग्रेज राजदूत नहीं नियुक्त किया और केवल मुस्लिम राजदूत रखा।

दिलीप कुमार घोष ने रिपन की नीति का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि उसकी नीति लारेन्स से अधिक मिलती थी। डॉ. विश्वर प्रसाद का भी यही निष्कर्ष है कि रिपन का समझौता लारेन्स की नीति के ढ़ाचे का अनुसरण करता था।

1884 में रिपन भारत से गया। उसके जाने के कुछ समय पूर्व रूस न मध्य एशिया के मर्व नामक स्थान पर अधिकार करके भारत सरकार के लिए नई समस्या उत्पन्न कर दी थी। लारेन्स के समान रिपन का दृष्टिकोण था कि इस समस्या को ब्रिटिश सरकार रूस से बातचीत करके हल करे। लारेन्स के समान वह भी चाहता था कि अफगानिस्तान को उत्तरी सीमा का निर्धारण करना अधिक उचित था।

2.6.1 तृतीय आंग्ल – अफगान युद्ध (अप्रैल–मई – 1919 ई0)

द्वितीय अफगान–युद्ध के पश्चात् भी ब्रिटेन को रूस के पूर्व की ओर बढ़ने का खतरा समाप्त नहीं हुआ। दोनों राज्यों में शंका और सन्देह के कारण उपस्थित होते रहे। 1885 में रूस के पंजदेह पर अधिकार कर लेने से एक बार गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गयी, परन्तु जब रूस ने जुलफिकार का दर्रा अफगानिस्तान को दे दिया तो झगड़ा समाप्त हो गया। अन्त में, 1895 में और बाद में 1907 में ब्रिटेन और रूस के समझौते द्वारा रूस और ब्रिटेन के झगड़ों का सभी स्थानों पर निर्णय कर लिया गया। इस प्रकार भारत पर रूस के आक्रमण की समस्या समाप्त हो गयी। तृतीय अफगान–युद्ध का कारण अमीर हबीबुल्ला का दुस्साहस था। प्रथम महायुद्ध के समय में जर्मनी द्वारा भड़काये जाने पर उसने भारत की सीमा पर आक्रमण किया जिसमें उसे सफलता नहीं मिली। 1921 में अफगानिस्तान से एक सन्धि करके मित्रता कर ली गयी। उसके पश्चात् अंग्रेजों के लिए अफगानिस्तान की तरफ से कोई समस्या नहीं खड़ी हुई।

इस प्रकार अंग्रेजों ने समय–समय पर आवश्यकतानुसार पड़ोसी राज्यों व देशों के साथ युद्ध किए और उनमें निश्चित सफलता हासिल कर ब्रिटिश साम्राज्य को मजबूत बनाया।

2.7. सारांश

निष्कर्षत, हम यह कह सकते है कि आंग्ल – अफगान संबंध हमेशा उतार – चढ़ाव लिए रहा। हालांकि अंग्रेजों की अदूरदर्शिता पूर्ण नीति एवं दुस्साहसिक कूटनीति के कारण युद्ध पर विशाल धनराशि व्यय हुई तथा असंख्य सैनिक वीरगति को प्राप्त हुए। अंग्रेज भारतीय साम्राज्य के चारों ओर वे प्रभावित क्षेत्रों का घेरा स्थापित करना चाहते थे। इस कारण वहा भी आंग्ल – अफगान संबंध प्रभावित होते रहे। जिसका चरमोत्कर्ष के रूप में हमारे सामने तीन युद्ध आते है।

2.8. संदर्भ – ग्रंथ

(1) बी. डी. महाजन – आधुनिक भारत का इतिहास
(2) वी. एल. ग्रोवर – आधुनिक भारत का इतिहास
(3) डॉ. संजीव जैन – आधुनिक भारत का आर्थिक एवं राजनैतिक इतिहास
(4) डॉ. एस. आर. वर्मा – भारत का इतिहास
(5) डॉ. ए. के. मित्तल – आधुनिक भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास
(6) आर. एल. शुक्ल – आधुनिक भारत का इतिहास
(7) हरीश कुमार खत्री – आधुनिक भारत का इतिहास
(8) पी. एल. गौतम – आधुनिक भारत
(9) एल. पी. शर्मा – आधुनिक भारत
(10) पुखराज जैन – स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास

2.9. अभ्यासार्थ प्रश्न

(1) आंग्ल – अफगान संबंधों पर प्रकाश डालें?
(2) आंग्ल – अफगान युद्धों के कारणों एवं परिणामों की विवेचना करें?
(3) लार्ड लिटन की अफगान नीति की समीक्षा करें?
(4) लार्ड लारेन्स से रिपन के बीच अंग्रेजों की अफगान नीति की विवेचना करें?
(5) शानदार अकर्मण्यता की नीति क्या थी? इसका महत्व बताइए?
(6) क्या लार्ड मेयो और लार्ड नार्थब्रुक ने लारेन्स की नीति का पालन किया था। क्यों?

ब्लाक दो

इकाई तीनः औपनिवेशिक भारत–प्रशासनिक संरचना

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 केंद्रीय प्रशासन

- 3.3.1 सरकार का स्वरूप
- 3.3.2 रेग्यूलटिंग एक्ट (1773 ई0–1784 ई0)
- 3.3.3 पिट्स इण्डिया एक्ट (1784 ई0)
- 3.3.4 अन्य एक्ट

3.4 प्रान्तीय प्रशासन

- 3.4.1 द्वैध शासन

3.5 राजस्व प्रशासन

- 3.5.1 मालगुजारी की नीति
- 3.5.2 स्थायी/इस्तमरारी बंदोबस्त
- 3.5.3 रैय्यतवाड़ी बंदोबस्त
- 3.5.4 महालवाड़ी बन्दोबस्त

3.6 ब्रिटिश भारत में प्रशासनिक गठन

- 3.6.1 नागरिक सेवा
- 3.6.2 सेना
- 3.6.3 पुलिस व्यस्था
- 3.6.4 न्यायिक प्रशासन
- 3.6.5 कानून का शासन
- 3.6.6 कानून के सम्मुख समानता

3.7 1858 ई0 के बाद प्रशासनिक परिवर्तन

3.8 प्रशासन सम्बन्धी नीतिया

- 3.8.1 फूट डालो राज करो नीति
- 3.8.2 शिक्षित भारतीयों के प्रति शत्रुता
- 3.8.3 श्रम सम्बन्धी कानून

3.9 निष्कर्ष

3.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

3.11 सन्दर्भ–ग्रन्थ

3.1 प्रस्तावना

भारत के विशाल साम्राज्य में प्रशासन तथा नियंत्रण हेतु ईस्ट इण्डिया कम्पनी को कई तरीके ईजाद करने पड़े। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सौ वर्षों के शासन के दौरान विभिन्न गर्वनर जनरलों ने एक सुदृढ़ प्रशासनिक ढांचा तैयार करने का प्रयास किया। फलतः प्रशासनिक गतिशीलता बनी रही। इस दौरान अनेक प्रशासनिक प्रयोग किए गए एवं नए–नए कानून बनाए गए। परन्तु कम्पनी ने अपना मुख्य उद्देश्य कभी नहीं छोड़ा। कम्पनी के मुख्य उद्देश्य थे– कम्पनी के मुनाफे में बढ़ोत्तरी, भारत पर अधिकार को ब्रिटेन के लिए लाभप्रद बनाना। भारत सरकार का प्रशासनिक ढांचा इन्हीं लक्ष्यों को पूरा करने के उद्देश्य से निर्मित तथा विकसित किया गया। इस प्रकार मुख्य दबाव कानून और व्यवस्था को बनाये रखने पर दिया जाता था ताकि बिना व्यवधान के भारत के साथ व्यापार किया जा सके और देश के संसाधनों का दोहन किया जा सके।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान सकेंगे कि–:

- ब्रिटिशकालीन भारत की प्रशासनिक संरचना एवं सवरूप
- विभिन्न अधिनियम एवं उसका कार्यान्वयन
- ब्रिटिश कालीन लगान व्यवस्था– स्थाई बंदोबस्त, महालवारी तथा रैय्यतवाड़ी व्यवस्था।
- ब्रिटिश नीतियो में परिवर्तन एवं आर्थिक दोहन
- 1857 ई0 के विद्रोह के पश्चात् सेनाएं एवं प्रशासनिक परिवर्तन

3.3 केंद्रीय प्रशासन

3.3.1 सरकार का स्वरूप

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों ने 1765 ई0 में जब बंगाल पर नियंत्रण कर लिया तो इसके प्रशासनिक ढाँचे में कोई नया परिवर्तन करने का उनका नाममात्र इरादा भी नहीं था। वह अपने लाभकारी व्यापार को बढ़ाने के इच्छुक थे। वह कर वसूली कर उसको इंग्लैण्ड भेजने की इच्छा रखते थे। 1765 ई0 से 1772 ई0 तक दोनों सरकारें एक साथ काम कर रही थी। भारतीय अधिकारियों को पहले की तरह काम करने की अनुमति थी। लेकिन वे ऐसा ब्रिटिश गर्वनर तथा अधिकारियों की देख–रेख में ही कर सकते थे। जहाँ भारतीय अधिकारियों के पास अधिकार ना होकर दायित्व थे। वहीं कम्पनी के अधिकारियों के पूर्ण अधिकार थे किन्तु दायित्व नहीं थे। दोनों ही तरफ अधिकारी भ्रष्ट और दुराचारी व्यक्ति थे। 1772 ई0 में कम्पनी ने दोहरी शासन व्यवस्था समाप्त कर दी और बंगाल के शासन में अपने अधिकारी नियुक्त कर दिए। इस समय तक केवल ईस्ट इण्डिया कम्पनी ही थी जिसका सर्वोच्च अधिकारी भारत से हजारों मील की दूरी पर रहने के बावजूद करोड़ों लोगों के ऊपर इसने राजनीतिक आधिपत्य कायम कर लिया था। इस असामान्य स्थिति के कारण ब्रिटिश सरकार के आगे अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गइ। ईस्ट इण्डिया कम्पनी और उसके साम्राज्य का ब्रिटेन में बैठे कम्पनी के अधिकारीगण हजारों मील दूर से किस तरह नियंत्रण करें। बंगाल, मद्रास और बम्बई में बिखरे हुए कम्पनी के अधिकार क्षेत्रों के लिए भारत में एक ही नियंत्रण केंद्र किस प्रकार स्थापित किया जाए।

पहली समस्या सबसे खतरनाक व महत्वपूर्ण थी। बंगाल के भारी संसाधान कम्पनी के हाथों में आने से उसका लोभ, लालच इतना बढ़ा कि उसके मालिकों ने फौरन ही लाभांश दर बढ़ाकर 1767 ई0 में दस प्रतिशत कर दी थी। कम्पनी के अंग्रेज सेवक ने अपनी स्थिति का लाभ उठाकर गैरकानूनी और असमान व्यापार तथा भारतीय शासकों और जमींदारों से जबरदस्ती रिश्वत और तोहफे वसूल करके तेजी से धन कमाया था। इन लाभांश की ऊंची दरों और उसके अधिकारियों द्वारा भारी सम्पत्ति लेकर स्वदेश लौटने ने ब्रिटिश समाज के दूसरे वर्गों में ईर्ष्या की आग भड़का दी। ब्रिटेन के अन्य व्यापारी उद्यमियों का उभरता वर्ग सभी उस लाभकारी भारतीय व्यापार और भार की विशाल सम्पत्ति में हिस्सा चाहते थे। जिसका अभी तक कम्पनी और उसके सेवक ही उपयोग कर रहे थे। इसलिए इस व्यापार पर कम्पनी के एकाधिकार को तोड़ने के लिए अत्यधिक़ कोशिश की तथा बंगाल में कम्पनी के शासन पर हमला किया। इन अधिकारियों का 'नवाब' कहकर मजाक बनाया। 1767 ई0 में संसद ने एक कानून बनाकर कम्पनी के लिए ब्रिटिश खजाने में प्रति 4 वर्ष में चार लाख पौंड देना अनिवार्य बना दिया।

इस तरह ब्रिटिश राज्य तथ कम्पनी अधिकारियों के पारस्परिक सम्बन्धों का पुनर्गठन आवश्यक हो गया। जहाँ कम्पनी के अनेक शक्तिशाली शत्रु थे तो वहीं शक्तिशाली मित्र जैसे मित्र सम्राट जार्ज तृतीय उसके संरक्षक भी थे। यह तय किया गया कि कम्पनी के भारतीय प्रशासन की बुनियादी नीतियों पर ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण रहेगा ताकि भारत में ब्रिटिश शासन को ब्रिटेन के उच्च वर्गों के सामूहिक हित में चलाया जा सके। साथ ही पूर्व के साथ व्यापार पर कम्पनी का एकाधिकार बना रहेगा तथा भारत में अपने अधिकारी नियुक्त करने का उसका बहुमूल्यक हक भी उसी के हाथों में रहेगा।

3.3.2: रेग्यूलेटिंग एक्ट (1773–1784 ई0)

केंद्रीय नियंत्रण स्थापित करने हेतु कम्पनी व ब्रिटिश सरकार में संतुलन बनाने के लिए ब्रिटिश संसद ने एक प्रवर समिति और एक गुप्त समिति नियुक्त कर अन्त में महत्वपूर्ण विनियमन अधिनियम पारित किया। इसी अधिनियम ने स्वामी समिति के संगठन में परिवर्तन किया। पहले 500 पौंड के साझेदारों को मतदान का अधिकार प्राप्त था किन्तु अब 1000 पौंड के साझेदारों के भी मतदान अधिकार दिया गया। निदेशक समिति के संगठन में परिवर्तन कर समिति के सदस्यों की अवधि एक वर्ष से बढ़ाकर चार वर्ष कर दी गई तथा प्रत्येक वर्ष एक चौथाई सदस्यों के स्थान पर नए सदस्यों के निर्वाचन की व्यवस्था की गई। इस विनियमन अधिनियमन द्वारा भारत में केंद्रीय कार्यकारिणी का निर्माण किया गया। बंगाल का गर्वनर ब्रिटिश भारत का गर्वनर जनरल कहलाने लगा तथा मद्रास और बम्बई के गर्वनर उसके अधीन कर दिए गये। प्रथम गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स बनाए गए। गर्वनर जनरल को निर्णयात्मक मत देने का अधिकार तथा बंगाल, बिहार और उड़ीसा का शासन भार, राजस्व प्रबन्ध तथा सैनिक शक्ति गर्वनर जनरल तथा उसकी समिति को सौंप दिये गए। कलकत्ता में सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई। इसमें एक प्रधान न्यायाधीश तथा तीन सहायक न्यायाधीश थे।

यह अधिनियम 1784 ई0 तक लागू रहा। किन्तु यह दोषपूर्ण व अनिर्णायक सिद्ध हुआ। गर्वनर जनरल और पार्षदों के बीच बराबर नोकझोंक व निदेशको में अनियंत्रण होने लगा।

3.3.3: पिट्स इण्डिया एक्ट (1784 ई0)

रेग्यूलटिंग एक्टके दोषों तथा ब्रिटिश राजनीति के उतार–चढ़ाव के कारण 1784 ई0 में एक और कानून बनाना पड़ा जिसे पिट्स इण्डिया एक्ट कहा जाता है। इस कानून के अनुसार

भारत में शासन, सेना तथा राजस्व सम्बन्धी कार्यों पर नियंत्रण रखने के लिए 6 कमिश्नरों की एक समिति बनाई गई। जिसका नाम नियंत्रण समिति रख गया। इस कानून ने भारत के शासन को गर्वनर जनरल तथा तीन सदस्यों वाली एक कौंसिल के हाथों में दे दिया ताकि अगर एक का समर्थन भी गर्वनर जनरल को प्राप्त हो तो वह अपनी बात को मनवा सकें। इसे कानून ने बम्बई और मद्रास प्रेसिडेंसियों को युद्ध, कूटनीति और राजस्व मामलों में स्पष्ट बंगाल के अधीन कर दिया तथा इसी कानून के साथ ईस्ट इण्डिया कम्पनी ब्रिटेन की राष्ट्रीय नीति का एक साधन बन गई। भारत में ब्रिटिश अधिकारियों को नियुक्त करने तथा सेवा मुक्त करने का लाभदायी अधिकार डायरेक्टरों के हाथों में बना रहा।

3.3.4: अन्य एक्ट

पिट्स के इण्डिया एक्ट ने यह सामान्य ढांचा तो निर्धारित कर दिया जिसमें भारत की सरकार 1857 ई0 तक चलाई गई, पर बाद में कानूनों में अनेक ऐसे महत्वपूर्ण परिवर्तन किए जिनसे कम्पनी की शक्तियों और विशेषाधिकारों में धीरे–धीरे कमी आई। 1776 ई0 में गर्वनर जनरल को यह अधिकार दे दिया गया कि वह भारतीय साम्राज्य की शांति, सुरक्षा या उसके हितों को प्रभावित करने वाले महत्वपूर्ण प्रश्नों पर अपनी राय ठुकरा सके।

1793 ई0 में चार्टर एक्ट द्वारा भारत का गर्वनर जनरल स्वयं मद्रास और बम्बई जाकर बंगाल के गर्वनर जनरल की तरह अपने अधिकारों का प्रयोग कर सकता था। 1813 ई0 चार्टर एक्ट ने भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार का उन्मूलन कर दिया तथा इसके प्रदेशों पर सम्राट का नियंत्रण स्थापित किया। 1833 ई0 के चार्टर एक्टके तहत कम्पनी की व्यापारिक गतिविधियां उन्मूलित होकर सीधे सम्राट के अधीन एक प्रशासनिक निकाय बन गयी। अब कानून बनाने का अधिकार गर्वनर व उसकी परिषद को था। 1853 ई0 चार्टर एक्टके तहत निदेशकों की संख्या घटाकर 18 की दी गयी। इसमें पहले तो तीन बाद में छः की नियुक्ति सम्राट द्वारा होती थी। लोकसेवा में बहाली के लिए उसकी प्रतियोगिता परीक्षा का आयोजन किया जाने लगा। केंद्रीय तथा प्रांतीय पार्षदों की नियुक्ति में सम्राट की अनुमति आवश्यक कर दी गई।

भारत सरकार के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन इसके विधायी कार्य में किया गया। गर्वनर जनरल की सहमति के बिना कोई कानून पारित नहीं हो सकता था। विधि निर्माण के उद्देश्य से परिषद का विस्तार किया गया। इसमें 6 और सदस्य नियुक्त किए गए जो विधि पार्षद कहलाते थे। इसमें चार प्रांतीय सरकार (बंगाल, बम्बई, मद्रास और पश्चिमोत्तर प्रांत) के मनोनीत सदस्य मुख्य न्यायाधीश और सर्वोच्च न्यायालय का एक सहायक न्यायाधीश होता था। भारतीय कानूनों के संहिताकरण के लिए लंदन में एक विधि आयोग की स्थापना की गई। इसने दंड संहिता, फौजदारी व्यवहार संहिता और दीवानी व्यवहार संहिता का निर्माण किया।

इस प्रकार विभिन्न चार्टर अधिनियमों द्वारा नार्थ के विनियमन अधिनियम और पिट्स इण्डिया एक्टका विस्तार किया गया। जिसका मुख्य उद्देश्य सत्ता का हस्तान्तरण कम्पनी से सम्राट के अधीन करना था। 1857 ई0 की क्रांति ने कम्पनी शासन को अवश्यम्भावी कर दिया। 1858 ई0 में ब्रिटिश संसद में भारत के लिए बेहतर शासन का विधेयक पारित किया गया। जिसने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का अन्त कर दिया।

3.4 प्रांतीय प्रशासन

3.4.1: द्वैध शासन

प्रांतीय प्रशासन 1765 ई0 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त हो गई। किन्तु 1772 ई0 तक राजस्व वसूली का भार दो नाइब दीवान बंगाल में रजा खाँ और बिहार में सितान राम को दिया गया। जो राजस्व वसूली होती थी उसमें कम्पनी 26 लाख रूपए मुगल सम्राट शाहआलम और 32 लाख रूपए बंगाल के नवाब को देती थी। बंगाल का नवाब इसी से प्रशासन और अपना खर्च चलाता था इस शासन को द्वैध शासन कहा गया जिसकी स्थापना रार्बट क्लाइव ने की।

यह शासन कम्पनी और बंगाल के लोगों हेतु बड़ा विपत्तिजनक साबित हुआ। कम्पनी के नौकर और नाइब दीवान मालामाल हो गए। कम्पनी के अधिकारी द्वैध शासन के दोषों से परिचित थे तथा 1772 ई0 में उन्होंने वारेन हेस्टिंग्स को बंगाल का गर्वनर जनरल नियुक्त किया तथा प्रशासन में सुधार लाने के पूर्ण अधिकार दिए गए। हेस्टिंग्स ने द्वैध शासन का उन्मूलन किया। अब कम्पनी दीवान का काम स्वयं करने लगी। अपने कर्मचारियों द्वारा राजसव की वसूली करने लगी। हेस्टिंग्स ने दीवान के पदों का उन्मूलन कर दिया। नवाब को दी जाने वाली वार्षिक धनराशि 26 लाख रूपए से घटाकर 16 लाख कर दी। इन सब कारणों से नवाब के हाथ से सत्ता निकलकर कम्पनी के हाथों में आ गई। अब मुर्शिदाबाद के स्थान पर कलकत्ता प्रशासन का केंद्र बन गया।

हेस्टिंग्स प्रशासनिक पद्धति के निर्माण में जुट गया। यह कार्य कठिन था क्योंकि अभी तक कम्पनी की प्रशासनिक मशीनरी केवल व्यापारिक कार्य के लिए थी। अब इसका समायोजन बिल्कुल एक भिन्न उद्देश्य के लिए था। लोगों की भाषा उनके कानून और रीति–रिवाज से भी अंग्रेज परिचित नहीं थे। बीस वर्षों (1772–1793ई0) तक कम्पनी अधिकारी विभिन्न प्रशासनिक प्रणालियों के निर्माण में लगे रहे। अनेक प्रयोगों के बाद कुछ निश्चित प्रशासनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया। जिनसे आंग्ल–भारतीय प्रशासन की ठोस नींव रखी गई।

3.4: राजस्व प्रशासन

राजस्व के मुख्य स्त्रोत का (क) भू–राजस्व (ख) नमक और अफीम व्यापार का एकाधिकार एवं (ग) सीमा शुल्क, चुंगी उत्पाद इत्यादि थे। इनमें से भू–राजस्व बड़ा महत्वपूर्ण था। 1792 ई0 तक दो नाइब दीवान भू–राजस्व वसूल करते थे। 1772 ई0 में इन पदों का उन्मूलन कर एक राजस्व पार्षद का गठन किया। भूमि की सार्वजनिक नीलामी होने लगी और भू–राजस्व का निर्धारण पाँच वर्ष के लिए किया जाने लगा। प्रत्येक जिले में एक अंग्रेज कलैक्टर और एक भारतीय दीवान की नियुक्ति हुई जो राजस्व प्रशासन का पर्यवेक्षण करते थे।

राजस्व वसूली की यह पद्धति दोषपूर्ण थी। नीलामी के वक्त सिद्धांतहीन सट्टेबाजी ऊँची बोली द्वारा जमींदारों को राजस्व वसूली के काम से छुट्टी दे देता था। वसूली निर्ममतापूर्वक करता तथा रैय्यतों को तरह–तरह की पीड़ा देता था। 1790 ई0 तक भू–राजस्व का एक वर्षीय प्रबन्ध बना रहा। यह एक अस्थाई व्यवस्था थी। इस सम्बन्ध में भूमि स्वामित्व के प्रश्न में समस्या जटिल हो गई। इस सम्बन्ध में अंग्रेजों ने निम्न नीतियाँ लागू की जिससे उनका शासन में स्पष्ट प्रभाव बने रहे।

3.5.1: मालगुजारी की नीति

आयात के लिए भारतीय दस्तकारों के तथा दूसरे माल खरीदने, पूरे भारत का विजय खर्च उठाने, ब्रिटिश शासन को मजबूत करने तथा आवश्यक आर्थिक और प्रशासकीय खर्च उठाने के लिए कम्पनी को भारतीय राजस्व की आवश्यकता थी। इसका अर्थ था कि भारतीय किसानों

के लिए करों के बोझ में भारी बढ़ोत्तरी। एक लम्बे समय से भारत के शासक खेतिहर पैदावार का एक भाग जमीन की मालगुजारी के रूप में लेते आए थे। यह या तो कर्मचारियों की सहायता से सीधे–सीधे ली जाती थी या अप्रत्यक्ष रूप से बिचौलियों जैसे जमींदारों, मालगुजारों आदि के माध्यम से ली जाती थी। ये लोग काश्तकार से मालगुजारी वसूल करते और उसका एक भाग अपने कमीशन के रूप में रख लेते थे।

3.5.2: इस्तमरारी/स्थायी बंदोबस्त

1765 ई0 में बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त कर ली थी। आरम्भ में उसने इस पुरानी प्रणाली को जारी रखने का प्रयास किया हालांकि जमा की जाने की रकम बढ़ा दी थी। यह वही समय था जब स्थायी रूप से मालगुजारी की एक निश्चित रकम निर्धारित करने का विचार सामने आया। लम्बे समय बाद लॉर्ड कॉर्नवालिस ने 1793 ई0 में बंगाल और बिहार में इस्तमरारी बंदोबस्त की प्रथा का प्रारम्भ किया। इसकी दो विशेषताएँ थी। पहली, जमींदार और मालगुजार भूस्वामी बन गये। उन्हें अब रैय्यतों से मालगुजारी की वसूली के लिए सरकार के ऐजेंट का ही काम नहीं करना था बल्कि अब वे अपनी जमींदारी के इलाके की सारी जमीन के मालिक बन गए। वास्तव में बंगाल तथा बिहार के बटाईदारों को अब पूरी तरह जमींदारों की दया पर छोड़ दिया गया। ऐसा करने का कारण यह था कि जमींदार कम्पनी की मालगुजारी सम्बन्धी बेहिसाब माँगे समय पर पूरी कर सकें। दूसरे, जमींदारों को किसानों से मिलने वाले लगान का 10/11 भाग राज्य को देना पड़ता था और वे केवल 1/11 भाग आने पास रख सकते थे। लेकिन मालगुजारी की जो रकम उन्हें देनी थी, वह हमेशा के लिए निश्चित कर दी गई थी। ऐसा नहीं करने पर उनकी जमीनें बेच दी जाती थी।

आरम्भ में मालगुजारी की रकमों का निर्धारण मनमाने ढंग से और जमींदारों से परामर्श के बिना किया गया। इसके पीछे अधिकारियों का उद्देश्य अधिकतम धन कमाना था। 1765 ई0–1766 ई0 और 1793 ई0 के बीच मालगुजारी सम्बन्धी मांग लगभग दुगुनी होने से एक परिणाम हुआ कि 1794 ई0 और 1807 ई0 के बीच जमींदारों की लगभग आधी जमीन बेच दी गई।

बाद में अधिकारी और गैर अधिकारी सभी ने आमतौर पर यह माना कि 1793 ई0 के पहले बंगाल और बिहार के जमींदारों के पास जमीन के अधिकांश भाग पर मालिकाना हक नहीं था। तब प्रश्न यह उठता है कि फिर अंग्रेजों ने उन्हें मालिकों के रूप में क्यों स्वीकार किया। इस पर इतिहासकारों का विचार है कि जमींदारों को जमीनों के मालिक मानने का निर्णय मूलतः राजनीतिक, आर्थिक, वित्तीय और प्रशासकीय कारणों से प्रेरित था। इसके तीन कारण थे। पहला कारण, चतुराई भरी राजविद्या अर्थात् अंग्रेज अधिकारी यह बात समझ रहे थे कि वह भारत में विदेशी हैं इसलिए उनका शासन तब तक अस्थायित्व का मारा रहेगा जब तक कि वे अपने और भारतीय जनता के बीच मध्यस्थों का काम करने वाले स्थानीय समर्थकों क सहारा नहीं लेते। वास्तव में, यह सही साबित हुई क्योंकि स्वाधीनता के उभरते हुए आंदोलन का विरोध करते हुए जमींदारों ने एक वर्ग के रूप में विदेशी सरकार का समर्थन किया। दूसरा विचार वित्तीय सुरक्षा का था। इस्तमरारी बंदोबस्त के कारण एक स्थायी आय की जमानत मिल गई। इसने कम्पनी की आय को बहुत अधिक बढ़ा दिया। क्योंकि अब मालगुजारी की ऐसी दरें निर्धारित की गई जैसी दरें पहले कभी नहीं थी। तीसरा आशा की गई कि इस्तमरारी बंदोबस्त के कारण खेतिहर उत्पादन बढ़ा सकेगा। चूंकि यह तय था कि जमींदार की आय बढ़ने पर भी भविष्य में मालगुजारी

नहीं बढ़ाई जाएगी। इसलिए जमींदारों को इस बात की प्रेरणा मिली कि वे खेती का क्षेत्रफल ब्रिटेन के भू–स्वामी की तरह बढ़ा रहे थे। पूरे भारत में एक अन्य प्रकार का जमींदार वर्ग पैद हुआ।

3.5.3: रैय्यतवड़ी व्यवस्था

हेस्टिंग्स के सलाहकार टामस मुनरो की सलाह में 1820 ई0 में यह व्यवस्था लागू हुई। दक्षिणी और दक्षिण पश्चिमी भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना से जमीन के बंदोबस्त की नई समस्याएँ उठीं। अधिकारियों का मत था कि इन क्षेत्रों में बड़ी जागीरों वाले वह जमींदार नहीं है। जिनके साथ मालगुजारी के बंदोबस्त किए जा सके। रीड और मुनरों के नेतृत्व में मद्रास के अनेक अधिकारियों ने यह सिफारिश की कि सीधे वास्तविक काश्तकारों के साथ बंदोबस्त किया जाए। रैय्यतवारी की इस प्रथा में काश्तकार जमीन के जिस टुकड़े को जोतता था। उसका मालिक मान लिया जाता था। शर्त थी कि वह उस जमीन की मालगुजारी देता रहे। रैय्यतवारी बंदोबस्त ने कृषक स्वामित्व की किसी प्रथा को जन्म नहीं दिया। किसानों ने भी जल्द ही देख लिया कि अनेक जमींदारों की जगह एक दानवाकर जमींदार अर्थात् राज्य ने ली है। वे सरकार की बटाईदार मात्र है। मालगुजारी ना देने पर उनकी जमीनें बेच दी जाएंगी। वास्तव में सरकार ने आगे चलकर मालगुजारी को कोई कर न होकर लगाने का दावा किया। जमीन पर रैय्यत के मालिकाना हक को तीन अन्य कारणों ने भी समाप्त किया। अधिकांश क्षेत्रों में मालगुजारी अधिक थी। सरकार ने जब जी चाहे मालगुजारी बढ़ाने का अधिकार अपने हाथ में रखा। अगर रैय्यत की फसल सूखी या बाढ़ से थोड़ी बहुत या पूरी तरह नष्ट हो जाए तो भी उसे मालगुजारी देनी पड़ती थी।

3.5.4: महालवारी प्रथा

गंगा के दोआब में पश्चिमोत्तर प्रांत में मध्य भारत के कुछ भागों में और पंजाब में जमींदारी प्रथा का एक संशोधित रूप लागू किया गया जिसे महालवारी प्रथा कहा जाता है। इस व्यवस्था में मालगुजारी का बंदोबस्त अलग–अलग गांवों या जागीरों (महलों) के आधार पर उन जमींदारों या उन परिवारों के मुखिया के साथ किया गया जो सामूहिक रूप से गांव या महल का भू–स्वामी होने का दावा करते थे। महालवारी क्षेत्रों में भी मालगुजारी का समय–समय पर पुनर्निर्धारण किया जाता था।

जमींदारी तथा रैय्यतवारी दोनों प्रथाएं देश की परम्परागत भूमि प्रथाओं से मूलतः भिन्न थी। पूरे देश में अब भूमि को बेचने, गिरवी रखने और हस्तांतरित की जा सकने वाली वस्तु बना दिया गया। ऐसा नहीं करने पर सरकार के लिए काश्तकार से मालगुजारी वसूल कर सकना बहुत कठिन होता क्योंकि काश्तकार के पास रकम अदा करने के लिए कोई बचत या कोई वस्तु होती थी। जमीन को आसानी से खरीदा और बेचा जा सकने वाला एक माल बनाकर अंग्रेजों ने देश में प्रचलित भूमि–प्रथाओं में एक बुनियादी परिवर्तन कर दिया। भारतीय ग्रामों का स्थायित्व और उनकी निरंतर का ढांचा चरमरा उठा।

3.6: ब्रिटिश भारत में प्रशासनिक गठन

यह विदित है कि 1784 ई0 तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भारतीय प्रशासन को अपने नियंत्रण में ले लिया था और उसका राजस्व प्रशासन ब्रिटिश आवश्यकताओं को लेकर निर्धारित किया गया था। अब कम्पनी ने अपने नव प्राप्त उपनिवेश की शासन व्यवस्था को पुराने तौर

तरीकों से नहीं चलाना था, इस प्रकार वह एक ऐसे संगठन का निर्माण चाहती थी। जिससे उपनिवेश की शासन व्यवस्था का संचालन हो। नए क्षेत्रों में सत्ता का विस्तार, नयी समस्याएँ तथा आवश्यकताएँ, नए अनुभवों और विचारों के फलस्वरूप उन्नीसवीं सदी में प्रशासनिक व्यवस्था में अधिक परिवर्तन हुए किन्तु इस दौरान साम्राज्यवाद के व्यापक उद्देश्यों को नहीं भुलाया गया।

भारत में ब्रिटिश प्रशासन तीन खम्भों पर टिका हुआ था। वे नागरिक सेवा (सिविल सर्विस), सेना और पुलिस थे। ब्रिटिश भारत के प्रशासन का मुख्य लक्ष्य कानून और व्यवस्था को बनाए रखना तथा ब्रिटिश शासन को स्थायी बनाना था। उन्होंने भारत में अपना नियंत्रण बनाए रखने के लिए जन समर्थन के बदले शक्ति का सहारा लिया।

3.6.1: नागरिक सेवा

नागरिक सेवा का जन्मदाता लॉर्ड कार्नवालिस था। वह 1786 ई0 में भारत का गर्वनर जनरल बनकर आया और उसने महसूस किया कि, कम्पनी कर्मचारी तब तक ईमानदारी और कुशलतापूर्वक काम नहीं कर सकते थे जब तक कि पर्याप्त वेतन नहीं मिलता। इसलिए उसने निजी व्यापार तथा अफसरों द्वारा नजराने के खिलाफ सख्त कानून बनाए। साथ ही कर्मचारियों के वेतन भी बढ़ाए। उसने यह भी निर्धारित किया कि नागरिक सेवा में पदोन्नति वरिष्ठता के आधार पर होगी। जिससे उसके सदस्य बाहरी प्रभाव से मुक्त रहें। लार्ड वेलेजली ने नागरिक सेवा में आने वाले युवा लोगों के प्रशिक्षण के लिए कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज खोला। 1853 ई0 तक नागरिक सेवा में सारी नियुक्तियाँ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के निदेशक करते रहे। किन्तु इस विशेषाधिकार की समाप्ति 1853 ई0 के चार्टर एक्ट में खो बैठे। अब यह प्रतियोगी परीक्षाओं के द्वारा नियुक्ति का कानून बना दिया गया।

कार्नवालिस के जमाने से ही भारतीय नागरिक सेवा की एक खास विशेषता थी। भारतीयों को बड़ी सख्ती से पूरी तरह अलग रखना। 1793 ई0 में यह व्यवस्था की गई थी कि प्रशासन में 500 पौंड सालाना से अधिक वेतन के पद में केवल अंग्रेज ही नियुक्त हो सकते हैं। अंग्रेजों की नीति का अनुसरण क्यों किया ? इसके पीछे कई कारक थे। सर्वप्रथम उन्हें विश्वास था कि ब्रिटिश विचारों, संस्थानों और व्यवहारों पर आधारित कोई भी प्रशासन केवल अंग्रेज कार्यकर्ताओं द्वारा ही स्थापित किया जा सकता है। वस्तुतः इन नियुक्तियों को करने के अधिकार को लेकर कम्पनी और ब्रिटिश मंत्रिमण्डल के बीच बहुत विवाद भी हुए। ऐसी स्थिति में अंग्रेज भारतवासियों को इन जगह पर कैसे आने देते। मगर छोटे पदो के लिए भारतवासियों को बड़ी संख्या में भर्ती किया गया क्योंकि वे अंग्रेजों की अपेक्षा कम वेतन पर तथा आसानी से उपलब्ध थे।

इस प्रकार भारतीय सेवा (इंडियन सिविल सर्विस) धीरे–धीरे दुनिया की एक अत्यंत कुशल और शक्तिशाली सेवा के रूप में विकसित हो गई। इसके सदस्यों को यह विश्वास हो गया कि भारत में शासन का उन्हें दैवीय अधिकार मिल गया है। इस सेवा को बहुधा "इस्पात का चौखता" कहा गया है जिसके भारत में ब्रिटिश शासन का पोषण किया और लम्बी अवधि तक बनाए रखा। कालक्रम से भारतीय जीवन में जो कुछ भी प्रगतिशील और उन्नत बातें थी। उनकी यह विरोधी बन गई और इस प्रकार वह उदीयमान भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के हमले का निशाना बनी।

3.6.2 सेना

भारत में ब्रिटिश राज के दूसरे महत्वपूर्ण स्तम्भ के रूप में सेना थी। अंग्रेजी भारतीय सेना का निर्माण 1748 ई0 में आरम्भ हुआ। उस समय मेजर स्ट्रिंजर लॉरेंस ने मद्रास में भारतीय

सैनिकों की एक छोटी टुकड़ी का निर्माण किया। इसी कारण मेजर स्ट्रिंजर लॉरेंस ने अंग्रेजी भारतीय सेना का भी विस्तार किया। इस सेना में तीन प्रकार के सैनिक थे– (1) अंग्रेज सैनिक (2) भारतीय सैनिक (3) बादशाह सैनिक। पहले दो प्रकार के सैनिक कम्पनी द्वारा भर्ती होते थे। तीसरा प्रकार 'ब्रिटिश क्राउन' द्वारा भर्ती होता था। प्रारम्भ में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास की अंग्रेज सरकारों की सेनाएं पृथक थी। प्रत्येक का कमाण्डर–ए–चीफ एक–दूसरे से पृथक और स्वतंत्र होता था। परन्तु बाद में बंगाल की सेना केंद्रीय सरकार की सेना मानी गयी तथा उसका कमाण्ड–इन–चीफ भारत की अंग्रेजी सेना का प्रधान हो गया।

अंग्रेजों ने प्रारम्भ से ही भारतीय और अंग्रेजी सेना में भेद किया। उनकी तनख्वाहों, भत्तों, सुविधाओं में काफी अंतर था। एक भारतीय को इस सेना से ऊँचा प्राप्त होने वाला पद सूबेदार का था। 1857 ई0 के विद्रोह की असफलता के उपरांत सेना में अंग्रेज पदाधिकारियों की संख्या में वृद्धि की गयी। बंगाल की सेना में यह अनुपात 2:1 का रखा गया अर्थात् प्रत्येक दो भारतीय सैनिकों के अनुपात में एक अंग्रेज सैनिक अवश्य रखा गया। बम्बई और मद्रास में यह 5:2 रखा गया। श्रेष्ठ शस्त्र जैसे तोपखाना और 20 वीं सदी में टैंक अंग्रेजों के लिए सुरक्षित किया गया। विद्रोह के पश्चात् आपस में विभाजित करके संतुलन बनाये रखने की नीति का पालन किया गया। इसके लिए सैनिकों की भर्ती जाति क्षेत्र और धर्म के भेदों के आधार पर की गयी और इसे बढ़ावा दिया गया। यह सब कुछ इसलिए किया गया ताकि भारतीय सेना अंग्रेजी सेना की सेवा निष्ठापूर्वक करें, विरोध न करें। लार्ड कर्जन के समय में किचनर परीक्षा को सैनिक प्रशिक्षण में शामिल कर सेना की युद्ध क्षमता को बढ़ाया गया।

भारतीय सेना एक श्रेष्ठ सेना सिद्ध हुई। इस सेना ने वफादारी से अपने देश व विदेश में भी अंग्रेजों के हितों हेतु संघर्ष किया। भारत को स्वतंत्रता प्राप्त होने में अंग्रेजों द्वारा भारतीय सेना की वफादारी खो देना भी एक प्रमुख कारण था। आजाद हिन्द फौज का अंग्रेजों से संघर्ष और 1946 ई0 में भारतीय नौ सेना के विद्रोह ने अंग्रेजों को सबक दिया था कि अब वे भारतीय सेना की वफादारी पर निर्भर नहीं रह सकते थे। जो भारत में उनके शासन की सुरक्षा का मुख्य आधार थी। भारतीय सैनिकों के अपने विदेशी मालिकों के प्रति अधिक वफादार बने रहने के विभिन्न कारण थे। प्रथम राष्ट्रीयता का अभाव था। यह देश हमारा है जो विदेशियों का गुलाम है। यह विचार भारतीय सैनिकों में स्वतंत्रता प्राप्ति तक भी पूर्णतः नहीं आ पाया था। द्वितीय भारतीय सैनिकों की सांस्कृतिक परम्परा यह रही थी कि जो उनको वेतन देता है उसके प्रति वफादार रहना उनका कर्तव्य है, इस कारण भारतीय सैनिकों का आदर्श 'नमक हराम' होने का नहीं अपितु 'नमक हलाल' होने का रहा। भारतीय सैनिकों की इस सरल प्रकृति का अंग्रेजों ने भरपूर लाभ उठाया।

3.6.3 पुलिस व्यवस्था

सर्वप्रथम वारेन हेस्टिंग्स ने फौजीदारी और थानेदारों की नियुक्ति करके पुलिस व्यवस्था को आरम्भ करने का प्रयत्न किया। किन्तु 1781 ई0 में उसने इस विचार को त्याग दिया। परन्तु उत्तराधिकारी गर्वनर जनरल कार्नवालिस ने जमींदारों को पुलिस के अधिकारों एवं उत्तरदायित्वों से मुक्त करा दिया और एक पृथक पुलिस विभाग की स्थापना की और उनकी सहायता के लिए प्रत्येक थाने में 15 से 20 सिपाहियों की नियुक्ति भी की। दरोगाओं की नियुक्ति जिलाधीशों को नियंत्रण में रखा गया। लेकिन कार्नवालिस के ये प्रयत्न शांति तथा व्यवस्था बनाये रखने में असफल हुए। इसका मुख्य कारण यह रहा कि दरोगा अधिकांशतः भ्रष्टाचारी सिद्ध हुए और

पुलिसकर्मियों की संख्या बहुत कम रही। पुलिस व्यवस्था को सर्वप्रथम 1843 ई0 में सिंध में सर चार्ल्स नैपियर ने स्थापित कियां। उसने मजिस्ट्रेटों और पुलिस सुपरिन्टेण्डेंट के कार्यों को अलग–अलग किया। लार्ड कर्जन के समय में भी 1902 ई0 एण्ड्रयूज फ्रेजर की अध्यक्षता में एक पुलिस आयोग की नियुक्ति की। गुप्तचर व्यवस्था (सी0आई0डी0) कर पहली बार स्थापना की गयी। 1903 ई0 में पुलिस आयोग ने अपनी रिपोर्ट दी और सिफारिश की पुलिस के उच्च अधिकारियों की भर्ती प्रत्यक्ष हो सिपाहियों और अफसरों की पर्याप्त शिक्षा के लिए विशेष प्रकार के प्रशिक्षण स्कूल खोले जायें। प्रांतीय पुलिस की संख्या बढ़ायी जाए, लार्ड कर्जन ने इन सभी सिफारिशों को स्वीकार किया।

भारतीय पुलिस की भूमिका जनसाधारण के जीवन ओर सम्मान की सुरक्षा करने में प्रायः नगण्य रही। उसका मुख्य कार्य ब्रिटिश की सेवा करना रहा और इस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व उसका मुख्य कार्य स्वतंत्रता–आंदोलन को दबाना ही रहा।

3.6.4 न्यायिक प्रशासन

दीवानी और फौजदारी कचहरियों के श्रेणीबद्ध संगठन के जरिए न्याय प्रदान करने की एक नई व्यवस्था हेतु नींव अंग्रेजों ने रखी। इस व्यवस्था को वारेन हेस्टिंग्स ने आरम्भ किया मगर कार्नवालिस ने 1793 ई0 में इसे और सुदृढ़ बनाया। हर जिले में एक दीवानी अदालत कायम की गई। जिसका प्रमुख जिला जज होता था जो नागरिक सेवा का सदस्य होता था। जिला अदालतों के फैसले के खिलाफ अपील पहले दीवानी अपील की चार प्रांतीय अदालतों में हो सकती थी तथा आखिरी सुनवाई सदर दीवानी अदालत ही कर सकतीथी। फौजदारी मुकदमों का निपटारा करने के लिए कार्नवालिस ने बंगाल मे प्रेसिडेंसी को चार डिविजनों में बांट दिया। उसने उनमें से हर एक में एक क्षेत्रीय न्यायालय (कार्ट ऑफ सर्किट) स्थापित किया। जिनके प्रधान नागरिक सेवा के लोग होते थे। फौजदारी अदालतों ने मुस्लिम फौजदारी कानून को संशोधित किया और कम सख्त रूप से लागू किया। जिससे शरीर के अंगों को काटने या इस प्रकार की अन्य सजाएं देने की मनाही कर दी गई।

अधिनियम तथा पुराने कानूनों को संहिताबद्ध करने की प्रक्रियाओं के द्वारा अंग्रेजों ने कानूनों की एक नई प्रणाली लागू की। उन्होंने रेग्युलेशन लागू किए। तत्कालीन कानूनों को संहिताबद्ध किया और उन्हें बहुधा न्यायिक व्याख्याओं द्वारा व्यवस्थित कर आधुनिक बनाया। 1833 ई0 के चार्टर एक्ट के कानून बनाने के सारे अख्तियार काउंसिल की सहमति से गर्वनर जनरल को दे दिए। इन सबका अर्थ था कि अब भारतीय उत्तरोत्तर मानव–निर्मित कानूनों के तहत रहेंगे जो अच्छे–बुरे कुछ भी हो सकते हैं।

3.6.5 कानून का शासन

अंग्रेजों ने कानून के शासन की आधुनिक अवधारणा को लागू किया। इसका तात्पर्य था कि उनका प्रशासन कम से कम सैद्धांतिक रूप से कानूनों के अनुसार बनाया जाएगा न कि शासक की सनक या व्यैक्तिक इच्छा के अनुसार, बेशक व्यवहार में अफसरशाही और पुलिस मनमानी अख्तियार थे और उन्होंने जनता के अधिकारों और स्वतंत्रताओं में हस्तक्षेप किया। कानून का शासन कुछ हद तक व्यक्ति व्यैक्तिक स्वतंत्रता की गारंटी थी। यह उचित है कि भारत के पिछले शासक आमतौर से रीति–रिवाज से बंधे होते थे। दूसरी ओर ब्रिटिश शासन के अंतर्गत प्रशासन मुख्य रू‍प से कानूनों के आधार पर न्यायालयों द्वारा उनकी की गई व्याख्या के अनुसार

चलाया जाता था। मगर एक विदेशी राज के अंतर्गत यह अवश्यम्भावी था, विदेशी स्वभावतः लोकतांत्रिक या स्वतंत्रवादी नहीं हो सकता।

3.6.6 कानून के सम्मुख समानता

इसका अर्थ कानून की निगाहों में सारे मनुष्य बराबर हैं। पहले न्यायप्रणाली जाति के भेदभावों का ख्याल करती थी। एक ही अपराध के लिए एक गैर–ब्राह्मण की अपेक्षा एक ब्राह्मण को हल्का दंड दिया जाता था। इसी प्रकार जमींदारों व सामतों को आम आदमी के मुकाबले कम दंड दिया जाता था। किन्तु अब दीन–हीन लोग भी न्यायालय जा सकते थे।

मगर कानून के सम्मुख समानता का एक अपवाद भी था। अपवाद यह था कि यूरोपवासियों और उनके वंशजों के लिए अलग–अलग अंग्रेज अधिकारियों, सैनिक अधिकारियों ने भारतीयों के साथ अहंकारी क्रूर व्यवहार कियां लेकिन उनके खिलाफ मुकदमों के अप्रत्यक्ष और अनुचित संरक्षण दिया गया।

व्यवहार में एक अन्य प्रकार की कानूनी समानता उभर कर आई। न्याय काफी महंगा हो गया क्योंकि कोर्ट फीस का भुगतान तथा वकील करने पड़ते थे तथा गवाहों के खर्च को पूर्ण करना होता था। इसके विपरीत अंग्रेजी राज्य के पहले की न्याय प्रणाली प्रगतिशील थी। कानून के समक्ष समानता के प्रशासकीय सिद्धांतों, विवेकपूर्ण और मानवोचित मानव निर्मित कानूनों पर आधारित थी तथापि वह कुछ अन्य दृष्टियों से खराब भी उतनी ही थी। वस्तुतः विदेशियों के शासन में देशियों को उचित न्याय मिलना आसान नहीं था।

3.7 1858 ई0 के बाद प्रशासनिक परिवर्तन

1857 ई0 के विद्रोह ने भारत में ब्रिटिश प्रशासन को गहरा धक्का दिया और उनका पुनगर्ठन अनिवार्य बना दिया। 19 वीं सदी के उत्तरार्द्ध में औद्योगिक क्रांति का प्रसार उपनिवेशों और अर्धउपनिवेशों के लिए प्रतियोगिता कड़ी व तीखी हो गई। क्योंकि नई औपनिवेशिक विजयों के क्षेत्र कम होते गए। ब्रिटेन को अब विश्व पूंजीवाद में अपनी प्रमुख स्थिति कायम करने के लिए सामना करना पड़ा रहा था। 1850 ई0 के बाद रेलवे हेतु भारत सरकार को दिए गए ऋणों के रूप में बहुत अधिक ब्रिटिश पूंजी लगी थी। इस ब्रिटिश पूंजी को आर्थिक और राजनीतिक खतरों से सुरक्षित बनाने के लिए आवश्यक था कि भारत में ब्रिटिश शासन को और ठोस बनाया जाए, परिणामस्वरूप साम्राज्यवादी नियंत्रण को अधिक सख्त बनाया गया जिससे कि साम्राज्यवादी विचारधारा भी मजबूती से स्थापित हो सके।

1858 ई0 में ब्रिटिश संसद द्वार पारित एक कानून ने शासन का अधिकार ईस्ट इण्डिया कम्पनी से लेकर ब्रिटिश सम्राट को दे दिया। अब सत्ता डायरेक्टरों और बोर्ड ऑफ स्टेट को दे दिया गया तथा उसकी सहायता हेतु काउंसिल नियुक्त कर दी गई। 1861 ई0 में इंडियन काउंसिल एक्ट में गर्वनर जनरल की काउंसिल बनाने के लिए उसे इंपीरियल लेजिस्लेटिव काउंसिल नाम दिया गया। यह मात्र एक सलाहकार समिति थी। इसका कार्यकारिणी में कोई नियंत्रण नहीं था। इसमें भारतीय सदस्यों की संख्या कम थी। वे भी भारतीय जनता द्वारा निर्वाचित न होकर गर्वनर द्वारा नामजद होते थे।

1892 ई0 के इण्डिया काउंसिल एक्ट द्वारा केन्द्र और प्रांतों की व्यवस्थापिका–सभाओं के सदस्यों की संख्या में कुछ वृद्धि की गई। उनकी योग्यता में कुछ कमी की गई जिससे मतदाताओं की संख्या में वृद्धि की गयी। 1909 ई0 के एक्ट द्वारा उदार निरंकुशता को पूर्णता प्रदान कर व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों में पुनः वृद्धि की गई। परन्तु इस कानून द्वारा की

'बाँटों राज करो की नीति' के परिपालन हेतु "पृथक निर्वाचन प्रणाली" को भारत में आरम्भ किया गया। सन् 1919 ई0 के भारत सरकार कानून की मुख्य विशेषता प्रांतों में द्वैध शासन की स्थापना था। जिसके द्वारा केन्द्र और प्रांतों को अधिकारों अलग किया। तत्पश्चात प्रांतीय विषयों को दो भागों में विभाजित किया–सुरक्षित तथा हस्तान्तरित। हस्तान्तरित को विभाजित करके उसके विषयों को शासन के लिए भारतीय मंत्रियों का दिया गया। 1935 ई0 के भारत सरकार कानून द्वारा द्वैध शासन केंद्र पर स्थापित किया गया और प्रांतीय प्रशासन की स्थाापना की गई। इस प्रकार 1947 ई0 के भारतीय स्वतंत्रता कानून से पहले अंग्रेजों ने भारत में एक उत्तरदायी सरकार की स्थापना की थी परन्तु यह अंग्रेजों की मेहरबानी का परिणाम न होकर, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की प्रगति का परिणाम था।

3.8 प्रशासन सम्बन्धी नीतिया

भारत के प्रति अंग्रेजों का दृष्टिकोण तथा उनकी नीतिया 1857 ई0 के विद्रोह उपरांत अत्यधिक दयनीय हो गयी। अब वे समझकर प्रतिक्रियावादी नीतिया अपनाने लगे। अंग्रेजों द्वारा निम्नलिखित नीतियां अपनाई गई–:

3.8.1: फूट डालो राज करो की नीति

1858 ई0 के बाद उन्होंने जनता के खिलाफ राजाओं के, एक प्रांत को दूसरे प्रांत के खिलाफ एक जाति को दूसरी जाति के खिलाफ, सबसे अधिक मुसलमानों के विरूद्ध हिन्दुओं को खड़ा करके इस नीति को जारी रखने का फैसला किया। 1870 ई0 के बाद यह नीति उलट दी गई। उच्च और मध्यमवर्गीय मुसलमानों को राष्ट्रवादी आंदोलन के खिलाफ खड़ा करने की कोशिश की गई।

3.8.2: शिक्षित भारतीयों के प्रति शत्रुता

1857 के विद्रोह में शिक्षित भारतीयों के भाग लेने से इनकार करने पर अनेक अंग्रेज अधिकारियों ने उनकी प्रशंसा की थी। किन्तु यह दृष्टिकोण पल भर तक ही रहा। इसका कारण यह था कि उनमें अनेक लोग आधुनिक ज्ञान का उपयोग कर ब्रिटिश साम्राज्यवादी चरित्र का विश्लेषण कर रहे थे। इसलिए जब वह जनता को राष्ट्रवादी आंदोलन हेतु संगठित करने लगे और 1885 ई0 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की तो अधिकारी उच्च शिक्षा के पक्के दुश्मन बन बैठे। ऐसी प्रगति ब्रिटिश साम्राज्यवाद के बुनियादी हितों के खिलाफ थी। इसलिए प्रेस एक्ट (1876 ई0) आदि भारत के विकास को राकने हेतु लाया गया।

3.8.3: श्रम सम्बन्धी कानून

19 वीं सदी में आधुनिक कारखानों और बागानों के मजदूरों की हालत बहुत बुरी थी। प्रतिदिन 12 से 16 घंटों तक काम करना पड़ता और सप्ताह में एक दिन की छुट्टी भी न मिलती, मजदूरी प्रतिमाह 4 से 20 रूपया थी। कारखाने में लोगों की अधिकता, हवा की न्यूनता के कारण आए दिन दुर्घटनाएं होती रहती थी। ब्रिटेन के उद्योगपति भारत में मजदूरी कम होने के डर तथा भारतीय बाजारों में जल्द ही प्रतियोगिता के डर से, सरकार पर फैक्ट्री कानून बनाने का दबाव डाल रहे थे। 1881 ई0 में प्रथम इण्डियन फैक्ट्री कानून बनाया गया। जिसके तहत 7 वर्ष से कम के बच्चों के न लेने, महीने की चार छुट्टियों, 7–12 वर्ष तक के बच्चों को प्रतिदिन 9 घंटे से अधिक काम न लेने का प्रावधान रखा गया। चाय व कॉफी बगानों के मजदूरों को कोई सहायता नहीं दी गई। भारत सरकार ने इनकी सहायता हेतु 1863, 1865, 1870, 1873 , 1882 में दण्ड

कानून बनाए। कोई मजदूरर किसी भी काम के समझौते में दस्तखत के पश्चात् कार्य करने से मना नहीं कर सकता था।

इस प्रकार, सभी कानूनों के लचीलेपन के कारण औसतन मजदूरों को पूरा वस्त्र, भोजन तथा बुनियादी सुविधाएँ भी उपलब्ध नहीं होती थी।

3.9: निष्कर्ष

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अंग्रेजी प्रशासन का मुख्य लक्ष्य भारत में अधिकाधिक धन का दोहन करना था। वे प्रशासन को सुचारू रखकर और शान्ति का माहौल बनाए रखकर अपने हित की पूर्ति कर रहे थे। भारत में विशाल साम्राज्य विस्तार के पश्चात् प्रशासनिक और भू–लगान व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन किए गए। भारतीय नागरिकों पर पूरी तरह अंकुश रखा गया तथा उन्हें आर्थिक रूप से अपंग बना दिया गया। व्यापार एवं कुटीर उद्योग नष्ट हो गए। कारीगर, किसान, मजदूर एवं आम आदमी अकाल एवं भुखमरी का शिकार होता रहा परन्तु उनके कल्याण हेतु कोई कार्य नहीं किये गए। अतः अंग्रेजों की नीतियों ने भारतीयों को बाध्य किया कि वे समय–समय पर अपनी आवाज को प्रशासन तक पहुँचाने हेतु विद्रोह का सहारा लें। इसके लिए काफी हद तक अंग्रेजी प्रशासन की दोषपूर्ण नीतियां जिम्मेदारी थी।

3.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. अंग्रेजों के प्रशासनिक ढांचे पर एक उल्लेख लिखिए।
2. अंग्रेजों की भू–लगान व्यवस्था का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।
3. 1857 ई0 के क्रान्ति के पश्चात् अंग्रेजी प्रशासनिक व्यवस्था में क्या परिवर्तन हुए।
4. अंग्रेजों द्वारा न्याय के क्षेत्र में क्या सुधार किये गए। उल्लेख की कीजिए।
5. अंग्रेजों के शासन की दोषपूर्ण नीतियों का उल्लेख कीजिए।
6. ब्रिटिश प्रशासन साम्राज्यवादी व्यवस्था का पोषक था। वर्णन कीजिए।

3.11 सन्दर्भ–ग्रन्थ

1. एल0 पी0 शर्मा–आधुनिक भारत
2. प्रताप सिंह– आधुनिक भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास
3. ए0 के0 मित्तल– आधुनिक भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास
4. मणिकांत सिंह–भारतीय इतिहास
5. दीनानाथ वर्मा–आधुनिक भारत
6. बी0 एल0 ग्रोवर– आधुनिक भारत का इतिहास

ब्लॉक तीन

इकाई एक: क्राउन का भारत के प्रशासन पर नियन्त्रण: केन्द्रीय, प्रान्तीय एवं जनपद प्रशासन

1.1.प्रस्तावना

1.2.उद्देश्य

1.3 नवीन प्रशासनिक ढाँचा: केन्द्रीय प्रशासन

1.3.1 1858 का भारत सरकार अधिनियम

1.3.2 रानी विक्टोरिया की घोषणा

1.3.3 गृह सरकार के स्वरूप में परिवर्तन

1.3.4 भारत सचिव तथा भारत सचिवालय

1.3.5 भारत सरकार

1.3.6 सेना का पुनर्गठन

1.4 प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण

1.4.1 प्रान्तीय प्रशासन

1.4.2 वित्तीय विकेन्द्रीकरण

1.4.3 स्थानीय प्रशासन

1.5 क्राउन के अधीन आर्थिक नीतियां एवं प्रशासन

1.6 जानपद सेवाएं या लोक सेवाएं

1.6.1 1858ई० के पूर्व लोक सेवाएं

1.6.2 1858ई० के पश्चात लोक सेवाएं

1.6.3 1918ई० से 1947ई० तक लोक सेवाएं

1.7 भारतीय रियासतों से सम्बंध

1.8 सारांश

1.9 तकनीकी शब्दावली

1.10 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

भारत मे शक्ति संघर्ष का युग 1858 ई० में समाप्त हो गया। इसके बाद ब्रिटिश प्रशासकों के समक्ष नई चुनौतियां थीं, और यह आशा थी कि ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश पार्लियामेन्ट भारत के प्रशासन को नई दिशा दे सकेंगे। 1858 ई० के बाद प्रशासन पर जोर भी दिया गया। प्रत्येक गवर्नर जनरल शासन को सुदृढ़ करने में व्यस्त रहा। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय प्रशासन के ढाँचे को सुधारने और सँवारने के प्रयत्न भी किये गये, कानूनों को अपनाया गया, सांविधानिक परिवर्तनों पर विचार हुआ और प्रशासनिक सेवा को सशक्त बनाया गया।

इस इकाई में आपको यह बताया जायेगा कि 1857 के विप्लव के बाद भारत-स्थित ब्रिटिश सरकार के सम्मुख किस प्रकार के प्रश्न उपस्थित हुए और प्रशासकों ने उन प्रश्नों का समाधान करते समय किस प्रकार की नीतियां अपनायीं, केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा भारतीय लोक सेवा तथा सैन्य व्यवस्था में किस प्रकार के परिवर्तन किये गये।

इस इकाई में आपको यह भी बताया जायेगा कि किस प्रकार 1858 ई० में ब्रिटिश संसद ने सत्ता-हस्तान्तरण अधिनियम पारित कर भारत की सत्ता कंपनी के हाथ से लेकर ब्रिटिश क्राउन को सौंप दी। महारानी विक्टोरिया की घोषणा के बारे में बताया जायेगा। आप यह भी जानेंगे कि 1861 के अधिनियम के बाद प्रशासन में भारतीयों का सहयोग लिया जाने लगा, भारतीय सेना का पुनर्गठन किया गया, देशी रियासतों के प्रति नीति में परिवर्तन किया गया। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह समझने के योग्य हो जायेंगे कि वास्तव में कंपनी के हाथों से क्राउन के हाथों में सत्ता का परिवर्तन, सिर्फ नियंत्रण का परिवर्तन था, वस्तुत: नीतियों में परिवर्तन नहीं था। इस इकाई का उद्देश्य क्राउन द्वारा भारत के प्रशासन में किये गये प्रशासनिक परिवर्तनों का अध्ययन करना है।

1.2 इकाई प्राप्ति के उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित विषयों के बारे में जानने योग्य हो जायेंगे-

- 1858 के पश्चात भारत में सुधारों और परिवर्तनों की प्रारम्भ हुई प्रक्रिया के विषय में।
- 1861 के अधिनियम के पश्चात भारतीयों को भी संवैधानिक कार्यों में भागीदार बनाया जाने लगा । भारतीयों में यह उम्मीद जगी कि कंपनी के अत्याचारी शासन से मुक्ति मिलेगी।यद्यपि ये सुधार भारतीयों की उम्मीदों पर खरे नहीं उतर सके।
- ब्रिटिश क्राउन के नियंत्रण में भारत के केन्द्रीय एवं प्रान्तीय प्रशासनिक ढाँचे में हुए परिवर्तनों के विषय में।
- भारतीय लोक-सेवाओं के क्रमिक विकास के विषय में।

1.3 नवीन प्रशासनिक ढाँचा: केन्द्रीय प्रशासन

1858 ई० तक जिस प्रकार की संवैधानिक और प्रशासकीय व्यवस्था भारत में विकसित हुई थी उसमें परस्पर ऐसे विरोधी लक्षण प्रकट होने लगे थे जिनसे यह भली भाँति दिखाई देने लगा था कि यह प्रणाली उसी रूप

में अधिक समय तक नहीं चल सकेगी। इतने विशाल साम्राज्य का प्रशासन करने के लिये उस व्यवस्था में सुधार करने की जरूरत थी जिसका आरंभ रेग्युलेटिंग ऐक्ट तथा पिट के अधिनियम से हुआ था। सम्राट के नाम पर इस साम्राज्य को संगठित किया गया था, किन्तु वास्तव में सत्ता कंपनी के हाथ में थी। पिछले कुछ दशकों से यह महसूस किया जा रहा था कि ब्रिटिश क्राउन व्यावहारिक रूप में सत्ता संभाले। यद्यपि कंपनी का स्वरूप 1858 तक बहुत बदल चुका था। 1813 एवं 1833 के चार्टर अधिनियमों के द्वारा कंपनी के व्यापारिक अधिकारों को छीन लिया गया। ब्रिटिश जनमत भी कंपनी के शासन के विरुद्ध होता जा रहा था। अंतत: 1857 के विप्लव का ब्रिटिश नीति पर निर्णायक प्रभाव पड़ा। अगस्त 1858 में जो विधेयक पारित हुआ उसके अनुसार ईस्ट इन्डिया कंपनी खत्म कर दी गई। संवैधानिक इतिहास में एक उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ। एक युग समाप्त हुआ और दूसरे युग का सूत्रपात हुआ। भारतीय प्रशासन सीधे ब्रिटिश 'क्राउन' के हाथों में सौंप दिया गया। जिसका अर्थ यह हुआ कि ब्रिटिश सरकार ने संचालन का उत्तरदायित्व सँभाला।

मूल प्रश्न यह था कि क्या ब्रिटिश प्रशासन अपनी साम्राज्यवादी विशेषताओं से ऊपर उठ सकेगा अथवा नहीं। अंग्रेजों ने यह अनुभव कर लिया था कि लंबे समय तक भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को बनाये रखने के लिये एक सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित शासन की आवश्यकता थी। किन्तु 1858 के बाद के दशकों में ब्रिटिश प्रशासक परिस्थितियों के अनुसार जनहित में कार्य नहीं कर सके। क्रान्ति के बाद भारत और ब्रिटेन के संबंधों में जो भय और आशंका का वातावरण उत्पन्न हो गया था, वह कई दशकों तक भारत के प्रशासकों को प्रभावित करता रहा।

इंग्लैंड में सभी राजनीतिक विचारों वाले गुट इस परिणाम पर पहुँचे कि ईस्ट इंडिया कंपनी की आर्थिक एवं प्रशासनिक नीतियां ही भारतीय समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों में अशान्ति फैलाने के लिये उत्तरदायी थीं जिससे 1857 का विप्लव हुआ। अंग्रेजी सरकार भयभीत हो गई और उन्होंने कम्पनी के राज को समाप्त करने तथा भारतीय प्रशासन को क्राउन के अधीन ले लेने का निर्णय लिया।

1.3.1 1858 **का भारत सरकार अधिनियम**

1858 ई० के भारतीय अधिनियम का भारत के संवैधानिक एवं राजनैतिक इतिहास में अत्यधिक महत्व है क्योंकि यही वह अधिनियम है जिसे पारित कर अंग्रेजी संसद ने भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाया।

- समस्त प्रदेश, प्रशासन तथा कर, कंपनी के हाथों से हटा कर '**ब्रिटिश क्राउन'** के अधीन कर दिया। इस अधिनियम में यह कहा गया कि भारत का प्रशासन अंग्रेजी साम्राज्ञी के नाम से चलाया जायेगा।
- भारत के सर्वोच्च प्रशासनिक अधिकारी गवर्नर-जनरल का पदनाम '**गवर्नर जनरल तथा वायसराय'** कर दिया गया। वायसराय भारत में ब्रिटिश क्राउन के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता था।

- कंपनी के नियंत्रण मंडल (Board of Control) तथा निदेशकों (Directors) के पदों को समाप्त कर दिया गया तथा उसके स्थान पर '**भारत सचिव'**(Secretary of state of India) के पद का सृजन किया गया। जिसका कार्यालय लंदन में था।

1858 ई० के ऐक्ट का विस्तृत अध्ययन करने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि इस अधिनियम द्वारा स्थापित परिवर्तन केवल औपचारिक तथा नाममात्र के थे। इनसे कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ। भारत सचिव वस्तुत: बोर्ड आफ कन्ट्रोल के अध्यक्ष का दूसरा नाम था।

नोट: विद्यार्थियों को चाहिये कि वे विभिन्न अधिनियमों जैसे 1858,1861.1892 1909,1919 तथा 1935 के विषय में विस्तृत जानकारी करने हेतु भारत के संवैधानिक इतिहास की पुस्तकों का अध्ययन करें। उक्त अधिनियमों के अध्ययन से प्रशासनिक परिवर्तनों को समझना सुगम हो जायेगा।

1.3.2 रानी विक्टोरिया की घोषणा

ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया की घोषणा भारत के इतिहास में एक महत्वपूर्ण सीमा-रेखा है। भारत को ब्रिटिश ताज के अधिकार में लेने की प्रसन्नता में एक समारोह का अयोजन किया गया। 1 नवम्बर 1858 को लार्ड केनिंग ने इलाहाबाद में एक दरबार का आयोजन कर इसमें घोषणा को पढ़ा। विक्टोरिया ने भारतीय राजाओं, मुखियों तथा जनता के नाम एक घोषणा की कि अब उसने भारतीय प्रशासन, जो पहले कंपनी ट्रस्ट के रूप में चला रही थी अपने हाथ में ले लिया है। इसी घोषणापत्र में लार्ड केनिंग के लिये वायसराय की उपाधि का भी प्रयोग किया गया। इस घोषणा पत्र में वर्णित आश्वासन दो प्रकार के थे, कुछ पिछली नीतियों से संबंधित थे और कुछ आगामी काल में अपनायी जाने वाली नीतियों के संबंन्ध में थे। इस घोषणा-पत्र में निम्नलिखित प्रमुख बातें कही गयी थीं-

- भारतीय रियासतों को आश्वासन दिया गया कि ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ किये गये उनके समझौतों व संधियों को ब्रिटिश सरकार भी मानेगी।
- बिना भेद-भाव व पक्षपात के योग्यता के आधार पर शासन के उच्च पदों पर भी भारतीयों को नियुक्त किया जायेगा।
- भारत संबन्धी कानूनों का निर्माण करते समय भारत की परम्पराओं का ध्यान रखा जायेगा।
- भारतीयों के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया जायेगा।
- आंतरिक शान्ति स्थापना के पश्चात भारत में उद्योगों की वृद्धि, लोकहित तथा सार्वजनिक कार्यों का निर्माण तथा प्रशासन का संचालन समस्त निवासियों के लाभ के लिये किया जायेगा।

यह घोषणा 1917ई० तक भारतीय प्रशासन का आधार बनी रही। इस घोषणा-पत्र को सामान्य जन की भाषा में अनुवाद करके संपूर्ण भारत में वितरित करवाया गया। घोषणा में महारानी ने राजकीय सेवाओं में निष्पक्षता, आंतरिक प्रशासन में शांति स्थापना तथा देशी नरेशों एवं कृषकों के लाभ के लिये व्यापक आश्वासन दिये। किन्तु इन विशाल वायदों का समुचित उल्लंघन आजादी तक देखने को मिला। आर० सी० मजूमदार का मत है कि-"ये वायदे संभवत: भारतीय जनता को धोखा देने के लिये किये गये।"

भारत में क्राउन की स्थिति को और भी सुदृढ़ करने के लिये एक अन्य प्रगति 1876 में हुई जब अंग्रेजी संसद ने एक अधिनियम द्वारा रानी विक्टोरिया को **'कैसर-ए-हिन्द'** या **'भारत की साम्राज्ञी'** की उपाधि धारण करने की अनुमति दी। इस के उपरान्त यह प्रथा बन गई कि अंग्रेज़ सम्राट और सम्राज्ञियों के नाम के साथ 'भारत के सम्राट' अथवा 'भारत की साम्राज्ञी' की उपाधि का प्रयोग होने लगा।

महारानी विक्टोरिया कालीन शुद्ध चाँदी का यह रूपया भारत पर ब्रिटिश क्राउन की संप्रभुता का प्रतीक है।

1.3.3 गृह सरकार के स्वरूप में परिवर्तन

1858 के अधिनियम द्वारा जो परिवर्तन हुए उनका संबंध ब्रिटेन-स्थित उस व्यवस्था से था जो भारत सरकार का नियंत्रण करती थी चुंकि अंग्रेज़ हमेशा ब्रिटेन को ही अपना घर मानते रहे इस कारण वे ब्रिटेन में स्थित नियंत्रण करने वाली सरकार को **'गृह सरकार'** कहकर पुकारते थे। धीरे-धीरे यह शब्द प्रचलित हो गया और ब्रिटेन से भारत पर नियंत्रण करने वाले सभी अधिकारियों और संस्थाओं को गृह सरकार कहा जाने लगा। 1858 के अधिनियम द्वारा केवल गृह सरकार में ही परिवर्तन हुए।

1.3.4 भारत सचिव तथा भारत सचिवालय

1858 के अधिनियम के अनुसार भारत सचिव, भारत से संबन्धित सभी विषयों में क्राउन का संवैधानिक परामर्शदाता बन गया। भारत सचिव की सहायता के लिये 15 सदस्यों की एक **'भारत परिषद'** का गठन किया गया। जिसके सदस्यों की नियुक्ति आरंभ में आजीवन और बाद में 10-15 वर्षों की अवधि के लिये की जाती थी। जिसमें से आठ सदस्य साम्राज्ञी द्वारा नियुक्त(मनोनीत) किये जाते थे। इस के कार्यालय को **'भारत सचिवालय'** अथवा **'इंडिया आफिस'** कहते थे। भारत सचिव भारतीय प्रगति का लेखा-जोखा प्रत्येक वर्ष इंग्लैंड की संसद में

प्रस्तुत करता था। परिषद को भिन्न-भिन्न समितियों में बाँटा जाता था, जिसमें एक सचिव, एक सहायक अवर सचिव तथा अन्य लिपिक होते थे। भारत सचिवालय के अन्य विभाग थे-महालेखाकार का विभाग, रजिस्ट्रार का विभाग, अभिलेखों का अधीक्षक, निधि निदेशक, चिकित्सा बोर्ड एवं कानूनी सलाहकार। यहाँ आपको यह जान लेना आवश्यक है कि इन सभी कार्यालयों के व्यय,पेन्शन तथा अन्य भत्तों का बोझ भारत सरकार उठाती थी जबकि यह आफिस लंदन में स्थित था।

1.3.5 भारत सरकार

1858 के अधिनियम द्वारा भारत के प्रशासन में अधिक परिवर्तन नहीं किये गये। भारत के प्रशासन का संचालन पूर्व में गवर्नर जनरल द्वारा होता था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है गवर्नर-जनरल क्योंकि अब क्राउन का प्रतिनिधि था अतएव उसे 'वायसराय' कहा जाने लगा। यद्यपि इस उपाधि का कोई संवैधानिक प्राविधान नहीं था परन्तु जन साधारण प्राय: इसका प्रयोग करने लगा। वायसराय का वेतन 2.5 लाख रूपये प्रतिवर्ष निश्चित किया गया। इस सन्दर्भ में आप यह समझ लिजिये कि 1858 के पूर्व भारतीय प्रशासन में काफी स्वतन्त्रता थी। संचालक समिति अथवा बोर्ड आफ कन्ट्रोल की स्वीकृति बहुधा औपचारिक होती थी।

1861ई० के भारत परिषद अधिनियम द्वारा भारतीय प्रशासन के संबंध में अनेक परिवर्तन किये गये। गवर्नर जनरल के कार्यकारी परिषद के सदस्यों की संख्या 4 निश्चित की गई थी ।पांचवा सदस्य 1861 में नियुक्त हुआ तथा छठां 1874 में।कार्य परिषद का काम सुचारु रूप से चलाने के लिये वायसराय को नियम बनाने का अधिकार था। वैधानिक कानूनों को पास करने के लिये गवर्नर जनरल की कार्यकारी परिषद होती थी' जिनकी संख्या विभिन्न अधिनियमों द्वारा बढ़ाकर 16 से अधिक कर दी गई, किन्तु वास्तविक शक्ति केवल गवर्नर जनरल के पास ही रही। वायसराय अकेला कोई कानून नहीं बना सकता था। कार्यपालिका को सुचारू रूप से चलाने हेतु केनिंग ने 1861 के अधिनियम में विभाग पद्धति (Portfolio System)प्रारम्भ किया तथा परिषद के सद्स्यों को पृथक-पृथक विभाग सौंपे गये। वायसराय को प्रान्तों के गवर्नर नियुक्त करने का अधिकार दिया गया। उसे किसी भी प्रान्त की सीमा घटाने बढ़ाने या विभाजित करने का अधिकार था।1861ई०के अधिनियम द्वारा कार्यपालिका की दृष्टि से महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये तथा भारतीय प्रशासनिक प्रणाली की जो रूपरेखा तैयार की गई वह थोड़े फेर-बदल के साथ ब्रिटिश शासन की समाप्ति तक चलती रही।

जहां तक भारत सचिव एवं गवर्नर जनरल के परस्पर संबंधों का प्रश्न था, भारत सचिव प्राय: मुगल बादशाहों की भाँति व्यवहार करते थे। यह लार्ड मेयो के इस कथन से समझा जा सकता है-**"नियम यह है कि भारत के मामलों में अन्तिम निर्णय तथा निदेशन, केवल गृह सरकार के पास है न कि संसद तथा क्राउन द्वारा स्थापित और नियुक्त किये गये भारतीय प्रशासन के पास।"** इस संबंध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि गवर्नर जनरल और भारत सचिव द्वारा भारत पर नियंत्रण व्यक्तिगत योग्यताओं और क्षमताओं पर काफी घटता बढ़ता रहता था।

आर्थिक एवं साम्राज्यवादी हितों के प्रश्न पर इंग्लैंड में व्यापारी, उद्योगपति एवं अन्य वर्ग बहुत जागरूक रहते थे। अक्सर इंग्लैंड एवं भारत के हितों में परस्पर विरोध भी होता था किन्तु ऐसी स्थिति में सदा ही इंग्लैंड के हितों को प्रधानता दी जाती थी। 1870 में जब स्वेज नहर खुल गई, और भारत तथा इंग्लैंड के बीच सीधी तार लाइन बिछा दी गई एवं भाप के जहाज चलने लगे तो भारत सचिव का भारतीय मामलों पर नियंत्रण और भी बढ़ गया तथा गवर्नर जनरल की शक्तियां कम होती गई।

1.3.6 सेना का पुनर्गठन

1857 के विद्रोह में अंग्रेजी राज की नींव हिल गई थी। अत: उसके बाद भविष्य में इस तरह की घटनाओं की पुनरावृत्ति न हो इस बात को ध्यान में रखकर सेना के पुनर्गठन पर अत्यधिक जोर दिया गया। तत्कालीन पंजाब के मुख्य आयुक्त सर जान लारेन्स जिसने विपल्व में दिल्ली विजित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी, का यह मानना था कि विद्रोह का मुख्य कारण था-सैनिकों का आपसी भ्रातृभाव तथा समानता की भावना। इस दोष को दूर करने के लिये हमें भारतीयों के अनुपात में यूरोपीय सेना की भर्ती करनी होगी तथा भारतीय सेना का जातीय आधार पर विभाजन करना चाहिये।

एक अन्य तथ्य जो सेना के विषय में उभरा, वह यह था कि 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इंग्लैंड विश्व की सबसे बड़ी साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में उभर रहा था तथा फ्रांस, जर्मनी, रूस, इटली जैसी अन्य साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध युद्ध करने के लिये बाधित हो गया। इसलिये भारतीय सेना को और भी सुदृढ़ किया गया ताकि वह भारतीय सीमाओं की रक्षा कर सके तथा संसार में अंग्रेजी साम्राज्य के प्रसार तथा रक्षा करने में अपना योगदान कर सके। इस विचार के साथ सेना में निम्न परिवर्तन किये गये-

- सर्वप्रथम ईस्ट इंडिया कंपनी की यूरोपीय सेना अंग्रेजी सेना में सम्मिलित कर ली गई। बंगाल, मद्रास तथा बंबई का तोपखाना, शाही तोपखाने और शाही इंजीनियरों में मिला लिये गये। अंग्रेजी सेना के पदाधिकारी तथा सैनिक, भारत में सेवा करने तथा अनुभव प्राप्त करने के लिये नियमित रूप से भेजे जाने लगे।
- यूरोपीय सैनिकों की संख्या जो 1857 से पूर्व 45000 थी अब 65000 कर दी गई तथा भारतीय सैनिकों की संख्या 238000 से घटाकर 140000 कर दी गई।
- बंगाल में यूरोपीय सैनिकों का भारतीय सैनिकों से 1:2 का अनुपात रखा गया जब कि मद्रास तथा बम्बई में यह अनुपात 2:5 का रखा गया।
- भारतीय सेना में एक नवीन जातिवाद, लड़ाकू तथा गैर लड़ाकू जातियों का आरम्भ किया गया। पंजाब, नेपाल तथा उत्तर-पश्चिम प्रान्तों की मुख्य जातियों को लड़ाकू मानकर उनके जवानों को बंगाल बिहार पूर्वी उत्तर प्रदेश के जवानों से अधिक अच्छा मानकर बहुसंख्या में भर्ती किया गया।

- ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा हेतु 'बाँटो और राज्य करो' की नीति का प्रारम्भ सेना में किया गया। सैनिकों में प्रादेशिक निष्ठा की भावना को बढ़ावा दिया गया ताकि ये लोग राष्ट्र भावना से प्रेरित होकर एक न हो सकें। सेना में रेजीमेंटों का गठन किया गया।
- तोपखाना एवं सिगनल्स जैसे विभागों में भारतीयों की संख्या बहुत कम रखी गई।

इस पुनर्गठन के फलस्वरूप रक्षा व्यय बहुत बढ़ गया और समस्त केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों की कुल आय का 25-30 प्रतिशत धन रक्षा पर व्यय होने लगा। इस अत्यधिक रक्षा व्यय के कारण भारत सरकार को ऋण लेना पड़ता था।1904 में भारतीय सेना का खर्च भारतीय राजस्व का लगभग 52 प्रतिशत हो गया। वस्तुत: ब्रिटेन के साम्राज्यवादी उपयोग के लिये गठित सेना के खर्चे का भारतीय राजस्व पर बहुत बड़ा बोझ था।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. लघु उत्तरीय प्रश्न
   i. ब्रिटिश ताज ने किस अधिनियम के पश्चात भारत कि सत्ता ईस्ट इंडिया कंपनी से अपने हाथों मे ले ली?
   ii. सेना के गठन में 'बाँटो और राज करो' की नीति क्यों लाई गई?
   iii. 1857 की क्रान्ति के बाद भारत स्थित सेना में यूरोपियनों कि संख्या कितनी बढ़ा दी गई?
2. निम्न लिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये:
   (क) 1858 ई० का भारत सरकार अधिनियम
   (ख) महारानी विक्टोरिया का घोषणा-पत्र
   (ग) विप्लव के बाद सेना मे यूरोपियनों कि संख्या भारतीयों के अनुपात में क्यों बढ़ा दी गई?
   (घ) 1861 के अधिनियम के पश्चात भारत सरकार के स्वरूप में कौन-कौन से परिवर्तन हुए?
3. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दिजिये:
   A. 1858 ई० के अधिनियम की प्रमुख धाराओं का वर्णन किजिये।
   B. 1858 के पश्चात भारतीय सैन्य व्यवस्था में मुख्य रूप से कौन से परिवर्तन किये गये?
   C. क्राउन के नियंत्रण के बाद 'गृह सरकार' के स्वरूप में क्या परिवर्तन आया?

1.4 प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण

1.4.1 प्रांतीय प्रशासन

1818 के पूर्व ब्रिटिश भारत बंगाल, मद्रास तथा बंबई तीन प्रान्तों में विभाजित था जिन्हें प्रेसीडेंसी कहते थे। ये एक-दूसरे से जुड़े हुए नहीं थे, बीच में स्वतंत्र राजाओं के क्षेत्र थे। इन प्रांतों का प्रशासन तथा वित्त अलग-अलग थे। 1818 ई० में चतुर्थ मराठा युद्ध के उपरांत यह स्थिति बदल गई थी और 1833 के चार्टर के अनुसार

कंपनी के प्रदेशों, विधान परिषदों तथा वित्त का केन्द्रीकरण हो गया। कानून और नियम बनाने की शक्ति केवल केन्द्रीय विधान परिषद को दी गयी थी। बंबई तथा मद्रास की सरकारों के कानून बनाने के अधिकार समाप्त हो गये तथा वे जो कानून बनवाना चाहते थे, केवल उसका सुझाव ही गवर्नर जनरल को दे सकते थे।

1861 के भारत परिषद अधिनियम का प्रशासनिक विकेद्रीकरण का प्रमुख स्थान है। इसने कानून बनाने की इस प्रक्रिया को उलट दिया तथा वैधानिक विकेन्द्रीकरण की ओर अग्रसर हुए। केवल एक रोक था कि इन सरकारों को नया कानून बनाने से पूर्व गर्वनर-जनरल की अनुमति प्राप्त करनी होती थी। विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त से प्रांतों को धीरे-धीरे अधिकार मिलने शुरू हो गये। प्रान्तों में विधान परिषदें स्थापित की गईं। बंगाल एवं बंबई में 1862 में, उत्तर प्रदेश में 1886, पंजाब में 1894 में तथा पश्चिम बंगाल तथा आसाम में 1905 में। जैसे-जैसे नये प्रान्तों का गठन होता गया नई विधान परिषदें बनती गईं। 1892 एवं 1909 के भारत परिषद अधिनियम द्वारा इन प्रान्तीय विधान परिषदों का विस्तार होता गया। भारत सरकार अधिनियम 1919 द्वारा इन प्रान्तीय विधान परिषदों का विस्तार के साथ-साथ वहाँ दोहरी शासन प्रणाली लागू की गई। जबकि 1935 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा यहां प्रान्तीय स्वायत्तता लागू की गई।

प्रांतीय विधान परिषदों का गठन केन्द्रीय विधान परिषदों के अनुसार किया गया। प्रांतीय कौंसिल में गवर्नर, उसकी कार्यकारिणी के सदस्य और अतिरिक्त सदस्य सम्मिलित होते थे। सदस्यों में आधे गैर- सरकारी होते थे, जिन्हें गवर्नर मनोनीत करते थे।

1.4.2 वित्तीय विकेन्द्रीकरण

किसी भी प्रशासनिक-व्यवस्था के लिये वित्तीय प्रशासन उसकी रीढ़ के समान होता है। आवश्यकता को देखते हुए वित्तीय विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया लार्ड मेयो ने 1870 में आरंभ की तथा लिटन एवं रिपन ने इसे आगे बढ़ाया। मेयो के प्रस्ताव को **'प्रान्तीय आर्थिक वक्तव्य'** (Provoncial Financial Statement) भी कहा जाता है। मेयो ने अपने प्रस्ताव में कहा कि- पुलिस,सड़क, जेल, शिक्षा इत्यादि विभागों से होने वाली आय-व्यय का उत्तरदायित्व पूर्णतया प्रान्तीय सरकार को दे दिया जाय। प्रांतों को केन्द्र सरकार से एक निश्चित रकम देने की व्यवस्था की गई। **वस्तुत: इस योजना का उद्देश्य अर्थ व्यवस्था को नियमित करना तथा स्थानीय संस्थाओं को प्रोत्साहन देना था।** भारत सरकार ने एक प्रस्ताव पारित करके राजस्व के स्रोतों को तीन भागों में बाँटा।

पहला स्रोत, साम्राज्यिक कहलाया जो केन्द्र सरकार के अधीन रहा। इसमें मुख्य रूप से नमक-कर,सीमा-शुल्क,अफीम कर आदि थे।

दूसरे, प्रकार के साधनों, जैसे सार्वजनिक निर्माण आदि को प्रांतीय सरकारों को सौंपा गया।

तीसरे प्रकार के आय के साधनों जैसे वन, भुमि कर तथा टिकटों से होने वाली आय को केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के बीच बँटवारे के लिये रखा गया।जिसका निश्चित अनुपात प्रांतों को दिया जाता था।

1877 में प्रान्तीय सरकारों को आबकारी, भूमि कर, राजकीय मुद्रा तथा विधि व न्याय इत्यादि पर नियंत्रण का अधिकार दे दिया गया तथा इसके लिये प्रान्तों से प्राप्त होने वाले करों, विशेषकर आबकारी, भूमिकर तथा लाइसेंस फीस इत्यादि भी उन्हें दे दिये गये।

1882 में प्रान्तों को निश्चित सहायता देने की पद्धति समाप्त कर दी गई तथा विभाजित मदों की पद्धति लागू की गई अर्थात आबकारी, भूमि कर, राजकीय मुद्रा, वन तथा पंजीकरण इत्यादि से प्राप्त धन को केन्द्र तथा प्रान्तीय सरकारों में बराबर-बराबर बाँट दिया गया। इस विभाजित मदों की पद्धति को 1919 के अधिनियम से ही बदला गया। इस अधिनियम द्वारा 47 विषयों की केन्द्रीय सूची तथा 52 विषयों की प्रान्तीय सूची तैयार की गई ताकि केन्द्र और प्रांत में कम से कम टकराव हो।

1935 के अधिनियम द्वारा सभी विषयों को संघीय, प्रांतीय तथा सम्मिलित सूची में विभक्त किया गया। तथापि प्रांतो की स्थिति नहीं सुधरी।

समीक्षात्मक रूप से कहा जा सकता है कि सरकार द्वारा निरन्तर समितियों की स्थापना तथा उनकी संस्तुतियोंको लागू करने के उपरांत भी प्रांतों को पूर्ण वित्तीय स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हो सकी।

1.4.3 स्थानीय प्रशासन

आधुनिक राज्यों में प्रशासन, विधि निर्माण तथा न्याय की संस्थाओं के अतिरिक्त ऐसी संस्थाएं भी विकसित हुईं जो शहरी तथा ग्रामीण छोटे क्षेत्रों में निवास करने वाले लोगों की स्वास्थ्य, सफाई, जल-साधन, रोशनी, सड़कें तथा मेले आदि स्थानीय समस्याओं की व्यवस्था कर सकें।भारत में इसी उद्देश्य से म्युनिसिपल बोर्ड या कार्पोरेशन, जिला बोर्ड, जिला परिषद आदि संस्थाओं को संगठित करने का प्रयास किया गया।

अध्ययन की सुविधा के लिये स्थानीय प्रशासन के विकास की प्रक्रिया को चार चरणों में बाँटा जा सकता है-

पहले चरण में,क्राउन के नियंत्रण के पूर्व म्युनिसिपल संस्थाएं बहुत कुछ शहर वासियों के लिये ऐच्छिक थीं और केवल बंबई, मद्रास और कलकत्ता में संगठित थीं।

दूसरे चरण में,1851से 1881ई० के मध्य यातायात तथा दूरसंचार साधनों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। शहरों की जनसंख्या बढ़ी, जिनकी देखभाल के लिये स्थानीय स्व-शासन की आवश्यकता अनुभव की गई। अत: म्युनिसिपल संस्थाएं अनिवार्य कर दी गईं और उनकी प्रशासनिक कार्य-कुशलता पर जोर दिया गया।1861 में वैधानिक तथा वित्तीय विकेन्द्रीकरण की जो नीति अपनायी गई थी, उससे यह संभव हुआ कि नगरपालिकाओं तथा जिला परिषदों के रूप में स्थानीय स्वशासन का विकास हो। नगरपालिकाओं की आवश्यकता को स्वीकार किया गया तथा बंगाल में 1864 तथा 1868 में, 1865 में मद्रास में, पंजाब के लिये 1867 में और आधुनिक उत्तर प्रदेश जिसे तब संयुक्त प्रांत कहते थे, 1868 में अधिनियम पारित कर नगरपालिकाएं बनाई गई।लार्ड मेयो की वित्तीय विकेन्द्रीकरण की नीतियों के फलस्वरूप इन नगरपालिकाओं को वित्तीय स्वावलम्बन की ओर ले जाने हेतु नगरपालिकाओं को कई कर लगाने की अनुमति दी गई। इस प्रकार नये नगरपालिका अधिनियम पारित किये गये। जिनसे नगरपालिकाओं की उपयोगिता बढ़ी तथा इनमें चुनाव प्रक्रिया को बढ़ावा दिया गया।

तीसरे चरण का आरम्भ लार्ड रिपन की स्थानीय स्वशासन के प्रति स्पष्ट नीति से हुआ।उसने ब्रिटिश शासन की आधारभूत समस्याओं के प्रति एक नया दृष्टिकोण अपनाया।उसने उदारवादी परंपराओं को आगे बढ़ाया,प्रजातांत्रिक विचारों को प्रचलित किया। **रिपन को स्थानीय स्वशासन का जनक भी कहा जाता है।** रिपन के काल में हे 1881 ई० में भारत की पहली वास्तविक जनगणना प्रारम्भ हुई। वह शिक्षित मध्यम वर्ग को

शासन में सहयोग करने का मौका देना चाहता था।18मई 1882 ई० को रिपन ने एक विस्तृत प्रस्ताव पारित कराके स्थानीय स्थानीय स्वशासन के विकास में महत्वपूरण कार्य किया। यह प्रस्ताव भारत में प्रतिनिधि व्यवस्था के इतिहास में हमेशा याद किया जायेगा।उसने न केवल प्रस्ताव पारित किये अपितु भरसक कोशिश की कि प्रांतीय सरकारें इन सिद्धांतों को अपनायें। उसके कार्यकाल में स्थानीय स्वशासन के नियम का विस्तार किया गया। उसने स्थानीय संस्थाओं में जन-प्रतिनिधियों के चुनाव की व्यवस्था की। अब नगर पालिकाओं में साधारण नागरिकों को भी प्रधान बनने की अनुमति थी जबकि इससे पूर्व केवल कार्यकारी अधिकारियों को ही यह अधिकार था। 1908 में एक पुनर्गठन आयोग द्वारा यह निश्चित किया गया कि ज़िला बोर्ड तथा ग्राम पंचायतों का भी विकास किया जाये।

चौथे चरण में थोड़ी और तीव्रता आयी जब 1918 मांट्फोर्ड रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया कि "कोशिश यह होनी चाहिये कि स्थानीय निकायों में पूर्ण लोकप्रिय नियंत्रण होना चाहिये तथा बाह्य नियंत्रण से उन्हें अधिकाधिक स्वतंत्रता होनी चाहिये।" अब नगरपालिकाओं एवं जिला बोर्डों के चुनाव में पहले से अधिक लोगों को मतदान का अवसर मिलने लगा। अधिक चुने हुए सदस्य इन संस्थाओं में आने लगे तथा वे निर्णयों को प्रभावित भी करने लगे।

स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के विकास में कुछ रुकावटें भी थीं और सबसे बड़ी रुकावट थी-अंग्रेज नौकरशाही। जो भारतीयों को अपने मामलों की देखभाल करने की क्षमता में विश्वास नहीं करती थी तथा जातीय भेदभाव की नीति अपनाती थी। तथापि यह स्वीकार करना होगा कि 1947 तक इन संस्थाओं पर सरकारी नियंत्रण बना रहा और पश्चिम के देशों की तरह स्थानीय संस्थाएं प्रशासन की अधारशिला नही बन सकीं।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1) लघु उत्तरीय प्रश्न

a) 'प्रान्तीय आर्थिक वक्तव्य' किस गवर्नर जनरल से संबंधित है?

b) स्थानीय स्वप्रशासन का जनक किसे कहा जाता है?

2) निम्न लिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये:

i. मेयो का वित्तीय विकेन्द्रीकरण का प्रस्ताव

ii. 1858 के पश्चात स्थानीय स्वशासन का विकास

3) नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दिजिये:

i. क्राउन के नियंत्रण में प्रांतीय प्रशासन व्यवस्था का वर्णन कीजिये।

1.5 क्राउन के अधीन आर्थिक नीतियां एवं प्रशासन

यहां आपको यह जान लेना चाहिये ब्रिटिश क्राउन के अधीन भारत की आर्थिक नीति पूर्णतया इंग्लैंड के हितों के लिये कार्य करती थी। अपने राजनीतिक नियंत्रण द्वारा ब्रिटेन भारत के आर्थिक भण्डारों का शोषण कर रहा था। समय के साथ शोषण के ढ़ंग परिवर्तित होते गये। धन का निकास जो कंपनी के अधीन व्यापारी नियमों के

अधीन होता था, अब बदल गया। पूर्ण स्वतन्त्र व्यापार अथवा थोड़ा सा आयात कर लगाकर हमारे उभरते हुए उद्योगों को हानि पहँचायी गई।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोपीय देश अपने-अपने उद्योगों की रक्षा के लिये उँचे-उँचे आयात कर लगा रहे थे जिससे कि अंग्रेज़ जो औद्योगिक क्रान्ति के कारण सस्ता माल बना रहे थे, उनके देश में अंग्रेजी माल भेज कर स्थानीय उद्योगों को हानि न पहुँचाएं। इससे अंग्रेज़ी उद्योगों को कठिनाई हो रही थी। इसकी क्षतिपूर्ति के लिये अंग्रेज़ों ने भारत में जो थोड़ा सा आयात कर वित्त साधनों को जुटाने के लिये लगाया था, उसे भी हटाकर स्वतंत्र व्यापार की अनुमति दे दी।

भारतीय उद्योग जो पनपने का प्रयत्न कर रहे थे, उन्हें अत्यन्त हानि पहुँची। उसके उपरांत अंग्रेज़ी पूंजी भारत में लगानी प्रारम्भ कर दी गई तथा भारतीय उद्योगपतियों को इन विदेशी उद्योगपतियों ने, जिन्हें सरलता से बैंक ऋण मिल जाते थे, पनपने ही नहीं दिया गया। ईस्ट इंडिया कंपनी के भागीदारों को जो ब्रिटिश सरकार से पैसा मिला था उससे अनेकों विदेशी कंपनियां भारत में खोली गईं।जिनके अवशेष अब भी भारत में हैं।

भारत के विकास के बहाने, विदेशी रेल कंपनियों को सुविधाएं दी गईं। भारत में विदेशी कंपनियों का जाल बिछ गया। परन्तु ये लाइनें भारत के विकास के लिये कम, अपितु सामरिक महत्व तथा भारतीय कच्चा माल ले जाने के लिये अधिक थीं। इंग्लैंड में जब रेल लाइनें बनाई गईं तो वह छोटी लाइन (मीटर गेज) की थीं। कालान्तर में जब उन्होंने इसे लाभकारी समझ लिया तो इस छोटी लाइन को बड़ी लाइन(5''-6'') में बदल दिया गया। यह पुरानी छोटी लाइन, डिब्बे, इंजन सब भारत पर लाद दिये गये और आज भी जो छोटी लाइनें भारत में बची हैं वे हमारी दासता की अवशेष हैं। इस प्रकार कोयले तथा लोहे का खनन उद्योग चाय, रबड़, काफी और नील के बागान, पटसन के कारखाने, सूती और ऊनी कपड़ा, भाप के जलपोत सभी उद्योगों में विदेशी पूंजी लगी और भारत का पूर्ण रूप से शोषण हुआ। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वित्तीय, आर्थिक तथा औद्योगिक नीतियां पूर्णत: अंग्रेजी हितों के अनुकूल बनाई गई थीं। इन सभी नीतियों से केवल स्थानीय मध्यस्थों को छोड़कर भारत के सभी वर्गों को हानि पहुँची।

भूमि कर तथा भूमि पट्टेदारी की नीतियों ने भारतीय कृषक वर्ग को दो परस्पर विरोधी दलों में बाँट दिया। एक ओर ज़मीदार और दूसरी ओर पट्टेदार तथा कृषक मजदूर। सरकार की अत्यधिक भूमि कर लगाने की नीति के फलस्वरूप एक नए परजीवी वर्ग, साहूकारों का उत्थान हुआ। जिसने स्थानीय कृषकों का और भी शोषण किया। इसी प्रकार एक नवीन न्यायिक प्रणाली जो अंग्रेजों ने भारत में चलाई वह थी वकालत की। यह ग्रामीण तथा निरक्षर वर्ग का शोषण करने का एक नया साधन बन गई।वकील न्यायिक मामलों को लम्बा खीचते थे और मोटी-मोटी फीस लेते थे। नतीजा यह हुआ के ग्रामीण ,अनपढ़ जन्ता निर्धनता की रेखा से और भी नीचे चली गई।

स्थानीय उद्योगपतियों के लिये क्राउन के शासनकाल में कोई सुअवसर नहीं रहा। ये सस्ते विदेशी माल का मुकाबला नहीं कर सकते थे।

देश की स्थिति सामान्य स्थिति, औद्योगिक विकास तथा कृषि दोनों ही क्षेत्र में अल्प विकसित ही रही। दादा भाई नौरोजी ने 'पावर्टी एण्ड अन ब्रिटिश रूल इन इंडिया' में सरकारकी आर्थिक नीतियों की आलोच्ना की। उसी प्रकार एम०जी०रानाडे, जी०वी०जोशी तथा आर० सी० दत्त जैसे राष्ट्रीय नेताओं ने भी भारत सरकार की आर्थिक नीतियों की जमकर आलोचना की।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1.लघु उत्तरीय प्रश्न

a.पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया पुस्तक के लेखक कौन हैं?

2. लिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये:

a.क्राउन प्रशासन के अंतर्गत सरकार की आर्थिक नीतियां

b.भारत की छोटी रेलवे लाइन किस बात का प्रतीक है और क्यों?

1.6 जनपद सेवाएं या लोक सेवाएं

यह स्वीकार किया गया है कि भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व को बनाये रखने में प्रशासनिक सेवा का वही स्थान है जो विशालकाय भवन के लिये लोहे के ढाँचे का होता है। आपको इसके विकास का अध्ययन करते समय यह ध्यान देना होगा कि जहाँ तक सँभव हो सका, भारतीयों को इस सेवा से दूर रखा गया और जब भारतीयों के लिये दरवाजा बंद नहीं रखा जा सका तो दिखावे के लिये उनमें से कुछ को इसमें स्थान दिया गया। 20वीं शताब्दी के प्रथम दशक तक यह स्थिति बनी रही।

1.6.1 1858 के पूर्व लोक सेवाएं

कंपनी शासन में लार्ड कार्नवालिस ने भारत में प्रशासनिक सेवा, जिसे प्रतिज्ञाबद्ध प्रशासनिक सेवा कहा जाता था, में ऊँचे पदों पर यूरोपियनों की नियुक्तियां करनी आरम्भ की थी। भारतीयों को कंपनी की उँची नौकरियों से अलग रखा। कंपनी के शासन के दौरान उच्च सेवा में नियुक्ति का दायित्व गृह सरकार के सदस्य वहन करते थे। जो अपने परिवार के नवयुवकों को संरक्षण के आधार पर नियुक्त करते थे। लोक सेवाओं के क्षेत्र में लार्ड विलियम बेंटिंक के समय में एक महत्वपूर्ण कार्य हुआ, वह था-1833 का चार्टर ऐक्ट। उसमें यह प्रावधान किया गया कि किसी भी व्यक्ति को धर्म, जन्म स्थान, वंश अथवा रंग के कारण कंपनी के अधीन सेवा से वंचित नहीं रखा जायेगा। 1853 ई० के चार्टर द्वारा अंग्रेजी संसद ने भारतीय सिविल सेवा I.C.S. में भर्ती होने के लिये लंदन में एक प्रतियोगी परीक्षा आरम्भ कर दी थी, जिसमें भारतीयों को भी बैठने की अनुमति थी परन्तु अनेक अवरोधों के कारण, इस अनुमति को कोई विशेष लाभ नहीं था।वास्तव में भारतीयों को सिविल सेवा में कभी भर्ती होने का अवसर नहीं मिल पाता था जिसके अनेक कारण थे। जैसे-परीक्षा केन्द्र मात्र लंदन में था, पाठ्यक्रम केवल अंग्रेजी विद्यार्थियों के ही अनुकूल था, प्रवेश की आयु बहुत कम थी।

इस प्रकार 1858 के पूर्व यद्यपि भारतीय लोक सेवाओं में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये किन्तु भारतीयों की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया।

1.6.2 1858 के पश्चात लोकसेवा

1858 ई०के पश्चात विक्ट्रोरिया की घोषणा के बाद भारतीय लोक सेवाओं में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए।1861 ई०के अधिनियम द्वारा भारत में की जाने वाली सभी नियुक्तियां प्रतिश्रुत राज्य सेवा (Covenented civil service) के अधीन कर दी गईं। उच्च शिक्षा के विस्तार के साथ भारतीय इसमें सुधार की मांग करते

रहे।सरकार प्रशासनिक सेवा के भारतीयकरण की माँग की अनदेखी नहीं कर सकती थी। लोकसेवाओं से संबंधित तीन महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न हुए-

(अ) भर्ती करने की आयु निर्धारित करना

(ब) प्रशासनिक एवं न्यायिक सेवाओं को अलग करना

(स) भारतीयों को नौकरी के अधिक अवसर देना

पहली समस्या के समाधान में,परीक्षाओं की अधिकतम आयु सीमा 23 वर्ष से घटाकर 1860 में 22 फिर 19 कर दी गई। इस आयु के विद्यार्थियों को भारतीय माता-पिता प्राय: विदेश भेजने के लिये उद्यत नहीं होते थे। बहुत आन्दोलन के उपरांत 1906 में यह आयु सीमा पुन: 22 से 24 के बीच कर दी गई, जो अब भी भारतीयों के अनुकूल नहीं थी। '**19वीं सदी के उत्तरार्ध में इंडियन सिविल सर्विस की भर्ती के लिये अधिकतम आयु घटाने का प्रश्न भारतीय समाचार-पत्रों में सबसे अधिक चर्चा का विषय बना रहा।**'आयु घटाने का परिणाम यह हुआ कि व्यावहारिक रूप से भारतीयों के लिये सेवाओं के प्रवेश द्वार प्राय: बंद हो गये। इससे भारतीयों का अंग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वास समाप्त हो गया।

दूसरे, अंग्रेजों के हितों को ध्यान में रखते हुए प्रशासनिक एवं न्यायिक सेवाएं पृथक नहीं की गईं क्योंकि अंग्रेजों को यह प्रतीत हुआ कि भारतीय वकील भाषा और विधि ज्ञान में अंग्रेज जजों से बहुत आगे बढ़े हुए थे।

तीसरे, 1870ई० के पूर्व यहां दो प्रकार की सेवाएं थीं-कोवेनेंटिड तथा अनकोवेनेंटिड। कोवेनेंटिड सेवाओं में भारतीयों का चयन अनुबंध के आधार पर होता था। अनकोवेनेंटिड सेवाओं की भर्ती भारत में की जाती थी। ये अधिकांशत: लगान तथा न्याय विभाग में निम्न पदों से संबंधित होती थीं। 1870के पश्चात तीसरी प्रकार की सेवाओं की स्थापना की गई जिसे **'स्टेट्यूटरी सिविल सर्विस'** कहा जाता था। इसमें केवल भारतवासी ही भर्ती किये जाते थे। इस सेवा में भर्ती योग्यता की अपेक्षा सामाजिक प्रतिष्ठा, अच्छे कुल के आधार पर होती थी। 1886 ई०में **'सर चार्ल्स एचिसन'** की अध्यक्षता में **'लोक सेवा आयोग'** का गठन किया गया तथा इन सेवाओं में सुधार हेतु सुझाव मांगे गये। उनके सुझावों के आधार पर इन्हें दो भागों में विभक्त किया गया-'इंडियन सिविल सर्विस' तथा 'प्रांतीय सिविल सर्विस'। प्रांतीय सिविल सर्विस में दो प्रकार-उच्च तथा निम्न स्थापित की गई।1891 ई० में स्टेट्यूटरी सिविल सर्विस को समाप्त कर दिया गया।

सेवाओं के इस वर्गीकरण से भारतीयों के लिये प्रांतीय सेवाओं में ही अधिक अवसर मिल सके। किन्तु भारतीयों की स्थिति में कोई अंतर नहीं आया। न केवल उच्च पद भारतीयों के लिये लगभग बंद थे, अपितु निम्न पदों पर भी भारतीयों के विरुद्ध भेदभावपूर्ण नीति अपनायी जाती थी। इनमें कम शिक्षा वाले एंग्लो-इंडियन अथवा यूरोपीय जाति के लोगों को अधिक शिक्षित तथा योग्य भारतीयों के ऊपर नियुक्त कर दिया जाता था। भारतीय सर्वेक्षण विभाग, नमक विभाग, आबकारी तथा डाक तार विभाग में, यूरोपीय वंशजों के लिये भारतीय मूल के प्रार्थियों के अनुपात में शिक्षा संबन्धी योग्यतायें कम निश्चित की जाती थीं। बहुत समय तक सार्वजनिक निर्माण विभाग,रेल तथा तार की इन्जीनियरी शाखाओं, रेल के भंडार विभाग इत्यादि ऐसे विभाग थे जिनमें भारतीयों के विरुद्ध भेदभाव पूर्ण नीति अपनायी जाती थी।

1.6.3 1918 से 1947 तक लोक सेवायें

1919 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा लोक सेवाओं में भारतीयों की संख्या बढ़ाने तथा उनके वेतन में वृद्धि करने की व्यवस्था लागू की गई। इस निर्णय के बाद उच्च प्रशासनिक सेवा में भारतीयों को अधिक अवसर मिलने लगे।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. लघु उत्तरीय प्रश्न

a.सर चार्ल्स एचिसन की अध्यक्षता में किस आयोग का गठन किया गया?

2. लिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये:

a.भारतीयों को सिविल सेवा में प्रवेश क्यों मुश्किल था?

3. निम्न लिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिये।

a.1858 पश्चात भारतीय लोक सेवाओं में क्या व्यवस्था की गई?

1.7 भारतीय रियासतों से संबन्ध

भारत में क्राउन की सर्वोच्च सत्ता स्थापित होने के बाद देशी रियासतों के अधिकार सीमित हो गये।इंग्लैंड तथा भारत सरकारों ने इन भारतीय रियासतों तथा जमींदारों को ऐसा निहित स्वार्थ वाला दल मान लिया जिन्हें भारत में अंग्रेजी सरकार के बने रहने से लाभ था। अतएव वह ऐसा तत्व बन गया जो अंग्रेजी क्राउन का प्रमुख सहारा बन गया।

विस्तृत विवरण के लियेदेखें- इकाई 2- 'ब्रिटिश सत्ता का रजवाड़ों के साथ सम्बन्ध'।

1.8 सारांश

उक्त अध्ययन के बाद आप समझ गये होंगे कि ब्रिटिश क्राउन के नियंत्रण में किस प्रकार केन्द्रीय तथा प्रान्तीय प्रशासन के ढाँचे को सुधारने और सँवारने के प्रयत्न किये गये, कानूनों को अपनाया गया, सांविधानिक परिवर्तनों पर विचार हुआ और प्रशासनिक सेवा को सशक्त बनाया गया। 1861 के अधिनियम के बाद प्रशासन में भारतीयों का सहयोग लिया जाने लगा, भारतीय सेना का पुनर्गठन किया गया, देशी रियासतों के प्रति नीति में परिवर्तन किया गया। भारतीयों में भी यह उम्मीद जगी कि कंपनी के अत्याचारी शासन से मुक्ति मिलेगी। किन्तु ये सुधार भारतीयों की उम्मीदों पर खरे नहीं उतर सके। वास्तव में कंपनी के हाथों से क्राउन के हाथों में सत्ता का परिवर्तन, सिर्फ नियंत्रण का परिवर्तन था, वस्तुत: नीतियों में परिवर्तन नहीं था। सेना के पुनर्गठन के फलस्वरूप बढ़े हुए रक्षा व्यय के कारण भारतीय राजस्व पर बहुत बड़ा बोझ था। रिपन के सदाशयतापूर्ण प्रयासों के बावजूद 1947ई० तक स्थानीय संस्थाओं पर सरकारी नियंत्रण बना रहा और पश्चिम के देशों के समान स्थानीय संस्थाएं प्रशासन की अधारशिला नही बन सकीं। ब्रिटिश क्राउन के अधीन भारत की आर्थिक नीति पूर्णतया इंग्लैंड के हितों के लिये कार्य करती थी। अपने राजनीतिक नियंत्रण द्वारा ब्रिटेन भारत के आर्थिक भण्डारों का शोषण कर रहा था फर्क इतना था कि समय के साथ शोषण के ढ़ंग परिवर्तित होते गये। आपको यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि जहाँ तक सँभव हो सका, सिविल सेवाओं से भारतीयों को दूर रखा गया और जब भारतीयों के लिये दरवाजा बंद रखना

संभव नहीं हो सका तो दिखावे के लिये उनमें से कुछ को इसमें स्थान दिया गया। 20वीं शताब्दी के प्रथम दशक तक यह स्थिति बनी रही।

1.9 तकनीकी शब्दावली

- **क्राउन**-विधिक रूप से ब्रिटिश संप्रभुता का प्रतीक। ब्रिटेन तथा राष्ट्रमंडल देशों में इस शब्दावली को शासन तथा सरकार के लिये एक उपशब्द के रूप में प्रयोग किया जाता है।
- **जनपद सेवा**-लोक सेवा या (Civil Service)

1.10 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 1.3 स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1-i 1858 ई०

Ii-जिससे कि सेना फिर से संगठित हो कर विप्लव न कर सके।

Iii-45000 से 65000 कर दी गई

2-(क) देखिये-1.3.1

(ख) देखिये-1.3.2

(ग) देखिये-1.3.6

(घ) देखिये-1.3.5

3- A, B, C हेतु इकाई1.3 देखें।

इकाई 1.4 स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1-a.लार्ड मेयो

b.लार्ड रिपन

2-i देखिये-1.4.2

ii देखिये-1.4.3

3-देखिये- इकाई-1.4

इकाई 1.5 स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1-a. दादा भाई नौरोजी

2- A. देखिये-1.5.

B. देखिये- 1.5

इकाई 1.6 स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1-a. लोक सेवा आयोग

2- देखिये इकाई-1.6.1

3-a.देखिये इकाई1.6.2

1.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

- मिस्र, जगन्नाथ प्रसाद, आधुनिक भारत का इतिहास, लखनऊ, 1979
- ग्रोवर, बी०एल०एवं यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास, नई दिल्ली, 2000
- जैन, एम० एस०, आधुनिक भारत का इतिहास, चतुर्थ संस्करण, नई दिल्ली, 1993
- शुक्ल, आर०एल०, (संपादक), आधुनिक भारत का इतिहास, दिल्ली, 1994
- https://en.wikipedia.org/wiki/Queen_Victoria

1.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- मिस्र, जगन्नाथ प्रसाद, आधुनिक भारत का इतिहास, लखनऊ, 1979
- ग्रोवर, बी०एल०एवं यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास, नई दिल्ली, 2000
- जैन, एम० एस०, आधुनिक भारत का इतिहास, चतुर्थ संस्करण, नई दिल्ली, 1993
- मित्तल, ए०के०, आधुनिक भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, आगरा, 2012
- शुक्ल, आर०एल०, (संपादक), आधुनिक भारत का इतिहास, दिल्ली, 1994
- https://en.wikipedia.org/wiki/Queen_Victoria

1.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1.ब्रिटिश क्राउन के प्रशासकीय नियंत्रण के अंतर्गत केन्द्रीय प्रशासन पर प्रकाश डालिये।

2.भारत में प्रशासकीय विकेन्द्रीकरण पर एक निबन्ध लिखिये।

3.क्राउन के प्रशासकीय नियंत्रण में प्रांतीय प्रशासन की प्रगति का वर्णन कीजिये।

4.1858 के पश्चात ब्रिटिश प्रशासन की आर्थिक नीतियों पर प्रकाश डालिये

5.भारत में लोक सेवाओं के इतिहास पर एक संक्षिप्त निबंध लिखिये।

6.1858 ई० से 1947 ई०तक भारत में लोक सवाओं का विकास किस प्रकार हुआ?

इकाई दो: ब्रिटिश सत्ता का रजवाड़ों के साथ सम्बन्ध

2.1.प्रस्तावना

2.2.उद्देश्य

2.3 'रजवाड़े' या 'देशी रियासतों' से तात्पर्य

2.4 रजवाड़ों के प्रति ब्रिटिश नीति के विभिन्न सोपान

2.5ईस्ट इंडिया कंपनी का भारतीय रियासतों से समानता प्राप्त करने के लिये संघर्ष 1740-1765ई०

2.6अपने सुरक्षित घेरे में सीमित रहने की नीति 1765-1813 ई०

2.6.1 सहायक संधि प्रथा

2.7 अधीनस्थ पृथक्करण की नीति 1813-1857 ई०

2.7.1 लार्ड हेस्टिन्ज एवं ब्रिटिश सर्वोच्चता की भावना का विकास

2.7.2 लार्ड विलियम बेंटिक का काल

2.7.3 लार्ड डलहौज़ी एवं उसकी राज्य हड़प नीति

2.8 अधीनस्थ सहयोग/एकीकरण की नीति 1857-1935ई०

2.8.1 1858 से 1906 तक ब्रिटिश नीति

2.8.2 अधीनस्थ संघीय/सहयोग की नीति

2.8.3 मिंटो और हार्डिंज द्वारा ब्रिटिश नीति में संशोधन

2.8.4 नरेन्द्र मंडल की स्थापना

2.8.5 बटलर कमेटी की रिपोर्ट

2.9 बराबर के संघ की नीति 1935-47ई०

2.10 सारांश

2.11 तकनीकी शब्दावली

2.12 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

2.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

2.14 सहायक / उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.15 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

ब्रिटिश सरकार के साथ रजवाड़ों के संबन्ध आधुनिक इतिहास के बहुत रोचक विषयों में से एक है। इस इकाई के अंतर्गत आप देखेंगे कि किस प्रकार धीरे-धीरे स्वतन्त्र या अर्ध-स्वतन्त्र राज्य तथा सामन्तों ने भारतीय ब्रिटिश सरकार की अधीनता स्वीकार की तथा उसे प्रमुख सत्ता माना। भारतीय रियासतों (रजवाड़ों) का जबसे अंग्रेजों के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ तभी से और विशेषकर पिछली शताब्दी से रियासतें अपनी सत्ता खोती गईं। अब वे केवल उसी शक्ति का प्रयोग कर सकती थीं जो उन्हें ब्रिटिश सरकार से प्राप्त हुई थी। इस राजनैतिक संबन्ध को सर्वोच्चता (Paramountacy) शब्द से संबोधित किया गया। सर्वोच्चता शब्द का अभिप्राय है- एक शक्ति का नियन्त्रण एवं दूसरी शक्ति की पराधीनता। इसी शक्ति का प्रयोग भारत सरकार ने देशी रियासतों तथा नरेशों के प्रति किया।

इस इकाई में आपको ब्रिटिश सत्ता के साथ रजवाड़ों के बनते बिगड़ते संबन्धों का क्रमिक इतिहास बताया जायेगा।आप रजवाड़ों के उत्थान-पतन के बारे में जानेंगे।

इस इकाई में आप यह भी जानेंगे कि सहायक संधि प्रथा एवं व्यपगत सिद्धांतों की आड़ में किस प्रकार ब्रिटिश सरकार ने भारतीय रियासतों पर अपनी सर्वोच्च सत्ता स्थापित कर संपूर्ण भारत को अपने प्रशासकीय नियंत्रण में रखा जिसकी अंतिम परिणति 1947 ई० में हुई।

2.2 इकाई के उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित विषयों के बारे में जानने योग्य हो जायेंगे-

- देशी रियासतें किस प्रकार अस्तित्व में आयीं। रजवाड़े कौन थे।
- स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व तक भारत में कुल कितनी बड़ी-छोटी रियासतें थीं।
- ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने किस प्रकार अपने व्यापारिक उद्देश्यों को पूरा करते-करते संपूर्ण भारत पर अपनी सर्वोच्चता स्थापित कर ली।
- किस प्रकार अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये देशी नरेश ब्रिटिश साम्राज्य के रक्षा स्तम्भ बन गये।
- स्वतंत्रता प्राप्ति के क्रम में अंतत: भारत या पाकिस्तान में विलय के बाद ही इनकी समाप्ति हुई।

2.3 'रजवाड़े' या 'देशी रियासतों' से तात्पर्य

1947 ई0 तक भारत भौगोलिक दृष्टि से एक होते हुए भी राजनीतिक कारणों से मुख्य रूप से दो भागों में बँटा हुआ था। विभाजन सुनियोजित न था,अपितु ऐतिहासिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप अव्यवस्थित था। एक भाग को 'ब्रिटिश भारत' कहा जाता था और दूसरे को कोई सही नाम न होने की स्थिति में '**भारतीय भारत**, '**रियासती भारत**' या '**देशी रियासत**' या '**रजवाड़े**' कहा गया। ब्रिटिश भारत पर अंग्रेजों का प्रशासन था। पहले ईस्ट इंडिया कम्पनी की ओर से तथा 1857 ई० के बाद में ब्रिटिश '**क्राउन**' की ओर से इसका प्रशासन चलता था। दूसरा भाग अर्थात देशी रियासतें स्थानीय नरेशों के अधीन थीं। अधिकतर रियासतों में प्रशासन निरंकुश था, जहाँ राजा सभी प्रशासकीय क्षेत्रों में मनमानें ढंग से प्रशासन करता था। वास्तव में अधिकतर रियासतें राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक पिछड़ेपन के गढ़ थे। डा० रघुवीर सिंह का मत है कि- **"वस्तुत: ब्रिटिश भारत एक राजनीतिक इकाई था। उसमें एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार शासन-सूत्र सँभाले हुए थी। जबकि देशी**

रियासतें एक राजनीतिक इकाई न होकर भिन्न- भिन्न राजनीतिक सत्ता थीं, जिनका प्रशासन एक दूसरे से भिन्न था।" स्वतंत्रता के पूर्व तक इनकी संख्या 562 थी। ये देशी रियासतें न तो एक समान थीं न ही एक क्षेत्र में थीं,अपितु देश के विभिन्न भागों में बिखरी हुई थीं। इनके आस-पास अथवा बीच में सामान्यतया ब्रिटिश सरकार के अधीन भू-भाग थे। कुछ देशी रियासतें बहुत बड़ी थीं किन्तु अधिकतर बहुत छोटी। जैसे-जम्मू-कश्मीर और हैदराबाद ऐसी रियासतें थी जो हजारों वर्गमील भू-भाग में फैली हुई थीं जबकि ऐसी रियासतें भी थीं जिनमें मात्र 100 लोगों की आबादी थी। क्षेत्रीय असमानता के कारण इनकी आर्थिक स्थिति में भी असमानताएँ थीं। इस इकाई में विचार करेंगे कि किस प्रकार ऐसी स्थिति आयी तथा इन देशी रियासतों के साथ ब्रिटिश सरकार के संबन्ध किस प्रकार के रहे।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1.अति लघु उत्तरीय प्रश्न

a) **स्वतंत्रता के पूर्व तक देशी रियासतों की संख्या कितनी थी?**
b) **सबसे बड़ी रियासतें कौन कौन सी थीं?**

2.4 रजवाड़ों के प्रति ब्रिटिश नीति के विभिन्न सोपान

देशी राज्यों की स्थापना मुगलकाल में विशेषतया औरंगजेब की मृत्यु (1707) के बाद शुरू हुई थी, जब से मुगल साम्राज्य का पतन शुरू हुआ। केन्द्रीय शासन के कमजोर हो जाने से स्थानीय प्रान्तपतियों और नवाबों की बन आयी और वे एक-एक कर के अपने को स्वतंत्र घोषित करने लगे। इसी क्रम में भारत में कई राज्यों का उदय हुआ। भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना का क्रम इन्हीं राज्यों को विजित करने के साथ शुरू हुआ। 1757 ई0 में पलासी युद्ध के पश्चात ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार आरम्भ हुआ तथा भारत के राजनैतिक नक्शे में बहुत से परिवर्तन हुए। कंपनी ने इन्हीं शासकों की दुर्बलता से लाभ उठाया। हैदराबाद, अवध और राजपूत रियासतों को कंपनी में विलय नहीं किया गया अपितु उन्होंने मात्र कंपनी की प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली। कुछ रियासतों की अंग्रेजों ने हस्तक्षेप करके मुगलों एवं मराठों से रक्षा की।19वीं शताब्दी के मध्य तक अंग्रेजों की प्रभुसत्ता लगभग सभी भारतीय रियासतों पर स्थापित हो चुकी थी।

यद्यपि ब्रिटिश सरकार की रियासतों के प्रति कोई निश्चित नीति नहीं थी तथापि उन्होंने देश,कारक एवं परिस्थिति के अनुसार राजनैतिक सर्वोच्चता को प्राप्त करने के लिये विभिन्न प्रकार की नीतियों का अनुसरण किया। **सर विलियम ली वार्नर** ने भारतीय राज्यों के साथ अंग्रेजों के विषय में विशेष अध्ययन किया। उन्होंने अपनी पुस्तक **'दि नेटिव स्टेट्स ऑफ़ इंडिया'** जो 1910 में लंदन से प्रकाशित हुई, (यह पुस्तक 1910 तक की घटनाओं के लिये ही उपयोगी है) में अंग्रेजों के साथ भारतीय रियासतों के सम्बन्धों को अध्ययन की सुविधा हेतु तीन चरणों में विभाजित किया और सामान्यत: उन्हें अपना लिया गया है।

1-1757-1813 तक घेरे की नीति

2- 1813-1857 तक अधीनस्थ पार्थक्य नीति

3- 1857 के पश्चात चलने वाली अधीनस्थ एकीकरण की नीति

वर्तमान में अधिकांश इतिहासकारों ने ब्रिटिश सत्ता के साथ रजवाड़ों के संबन्धों को अध्ययन की सुविधा हेतु पाँच चरणों में बाँटा है, प्रत्येक भाग की कुछ विशेषताएं थीं तथा कुछ अपवाद भी थे। जिनका अध्ययन आप इस इकाई में करेंगे।

1-कंपनी का भारतीय रियासतों से समानता प्राप्त करने के लिये संघर्ष 1740-1765ई०

2-अपने सुरक्षित घेरे में सीमित रहने की नीति (The Ring Fence Policy) 1765-1813ई०

3-अधीनस्थ पृथक्करण की नीति (The Policy of subordinate Isolation) 1813-1857 ई०

4-अधीनस्थ सहयोग या एकीकरण की नीति (The Policy of Subordinate Union) 1857-1935 ई०

5-बराबर के संघ की नीति (The Policy of Equal Federation) 1935-47 ई०

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न:

1. **अति लघु उत्तरीय:**

I.सर विलियम ली वार्नर की पुस्तक का नाम बताइये।

2. निम्न लिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये:

I. ली वार्नर ने रजवाड़ों के साथ अंग्रेजों के संबन्धों को किन किन भागों में बाँटा है?

II. देशी रियासतों के अभ्युदय किन परिस्थितियों का परिणाम है?

अब आप प्रत्येक चरण में ब्रिटिश शासकों द्वारा अपनायी गयी नीतियों का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

2.5ईस्ट इंडिया कंपनी का भारतीय रियासतों से समानता प्राप्त करने के लिये संघर्ष 1740-1765ई०

1740 ई० से पूर्व ईस्ट इंडिया कंपनी एक व्यापारिक कंपनी थी तथा इसकी कुछ राजनीतिक आकाँक्षाएं भी थीं। किन्तु जब अन्य कंपनियों (जैसे फ्रांसीसी एवं डच ईस्ट इंडिया कंपनी) के साथ व्यापारिक प्रतिस्पर्धा में दिक्कतें आने लगीं तो ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने भी व्यापारिक हितों की रक्षा के लिये अपने राजनीतिक प्रभावों को बढ़ाना प्रारम्भ किया। इसी क्रम में 1757 ई० में पलासी के युद्ध के पश्चात ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार प्रारम्भ हुआ। पलासी युद्ध विजित कर अंग्रेजों ने बंगाल के नवाबों को अपने हाथ की कठपुतली बनाये रखा। क्लाइव भविष्य के भारत में ब्रिटिश शासन का संस्थापक एवं अगुआ बन गया। तत्पश्चात बक्सर के युद्ध के बाद 1765 ई० में इलाहाबाद की संधि द्वारा कंपनी ने मुगल सम्राट शाहआलम से बंगाल,बिहार एवं उड़ीसा की **'दीवानी'** प्राप्त कर ली। इस प्रकार भारत की अन्य रियासतों के समान कंपनी को भी कर वसूल करने वाले गवर्नर का पद प्राप्त हो गया और कंपनी को भारतीय रियासतों के समान बराबर का अस्तित्व मिल गया।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न:

1. **अति लघु उत्तरीय प्रश्न:**

I. पलासी का युद्ध कब हुआ?

II. इलाहाबाद की संधि कब हुई?

III.	'दीवानी' का तात्पर्य क्या है?

2.6 अपने सुरक्षित घेरे में सीमित रहने की नीति (The Ring Fence Policy) 1765-1813

बराबरी की स्थिति में आने के पश्चात कंपनी को अपने अधीनस्थ प्रदेशों की सुरक्षा की चिन्ता थी। अत: यह स्वाभाविक था कि उस समय कंपनी ने अन्य राज्यों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति अपनायी। कंपनी ने अपने राज्य के चारों ओर मध्य राज्य (Buffer state) बनाने का प्रयत्न किया। इसका तात्पर्य यह है कि कंपनी का उद्देश्य था कि अपने पड़ोसी राज्यों की सीमाओं की रक्षा करो, जिससे अपने राज्य की सीमाएँ स्वत: सुरक्षित रहें। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि कंपनी ने इन राज्यों के आंतरिक मामलों में फिलहाल हस्तक्षेप नहीं किया किन्तु कंपनी ने यह कोशिश अवश्य की कि इन भारतीय रियासतों का आपस में मेलजोल न हो पाये। तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए घेरा डालने की नीति अपनाना अंग्रेजों के लिये फायदेमंद साबित हुआ। उनका प्रयत्न था कि वे सुरक्षित घेरे में ही सीमित रहें। घेरा डालने कि नीति का सबसे अच्छा उदाहरण अवध के साथ अंग्रेजों के संबन्ध से दिया जा सकता है। बंगाल सूबे को मराठों के हमले से बचाने के लिये कंपनी ने अवध का उपयोग घेरे के रूप में किया। इस समय तक अंग्रेज बहुत शक्तिशाली नहीं थे। वे भारत की अन्य महत्वपूर्ण शक्तियों जैसे- मराठा, फ्रांसीसी, हैदराबाद के निज़ाम एवं मैसूर के सुल्तान के समान ही महत्वपूर्ण शक्ति थे। अत: वे भारत के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने में सक्षम नहीं थे।

आप यह जान लें कि अंग्रेजों द्वारा हस्तक्षेप न करने की नीति नैतिकता पर आधारित नहीं थी। यह लचीली व्यवस्था थी जो कि विभिन्न गवर्नर जनरलों के अधीन बदली जा सकती थी। कुछ मामलों मे कंपनी ने भारतीय रियासतों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप भी किया। उदाहरण के तौर पर वारेन हेस्टिंग्ज के समय प्रथम मराठा युद्ध (1776-82ई०) में तथा द्वितीय मैसूर युद्ध (1780-84 ई०) अन्य भारतीय रियासतों के साथ बराबरी की पदवी प्राप्त करने की भावना से लड़ा गया। लार्ड कार्नवालिस के काल में मैसूर के तृतीय युद्ध (टीपू के साथ) द्वारा उसके लगभग आधे राज्य को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया।

इतिहासकार के० एम० पनिक्कर ने अपनी पुस्तक **'ब्रिटिश पालिसी टूवर्ड्स इंडियन स्टेट्स'** में स्पष्ट किया कि इस काल की दो मुख्य विशेषताएं थीं।पहली, यह कि (मैसूर को छोड़कर) समस्त संधियां समानता के आधार पर की गई। कंपनी ने अपनी प्रमुखता स्थापित करने की चेष्टा नहीं की। दूसरे, इन संधियों द्वारा इस बात पर विशेष ध्यान दिया गया कि शासक का अपनी प्रजा पर पूर्ण अधिकार बना रहे तथा उसके भीतरी मामलों में हस्तक्षेप न किया जाये।"

लार्ड रिचर्ड वेलेजली (1795-1805ई०) के बंगाल का गवर्नर जनरल बनकर आने के पश्चात कंपनी के भारतीय रियासतों के साथ संबन्धों मे परिवर्तन आया। उसने हस्तक्षेप की नीति का अनुसरण करने तथा भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार तथा कंपनी की सर्वोच्चता स्थापित करने का दृढ़ संकल्प किया। इस समय भारत में कंपनी की स्थिति डांवाडोल थी। देशी राज्यों का पारस्परिक संघर्ष बढ़ता जा रहा था। अत: रियासतें अपनी रक्षा एवं शक्ति बढ़ाने के उपायों के बारे में सोच रही थीं। वेलेजली ने इसी अवसर का लाभ उठाया। अपनी नीति के अनुकूल उसने दो प्रमुख लक्ष्य निर्धारित किये-

1-भारत में कंपनी की सत्ता को सर्वोपरि बनाना तथा भारतीय रियासतों को अपनी रक्षा के लिये कंपनी पर निर्भर रहने के लिये बाध्य करना।

2-भारत को फ्रांसीसी प्रभाव से मुक्त करना

इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये वेलेजली ने जिस नीति का अनुसरण किया उसे **'सहायक संधि प्रथा'** (Subsidiary Alliance System) कहते हैं। उसने भारतीय रियासतों के साथ एक विशेष प्रकार की संधि करके ब्रिटिश कंपनी के साम्राज्य का विस्तार किया, भारतीय राजाओं के दरबार और उनकी राजनीति में अंग्रेजों के प्रभाव को बढ़ाया तथा भारत में फ्रांसीसी प्रभाव को समाप्त किया।

2.6.1 सहायक संधि प्रथा

यहाँ आप यह जान लें कि वास्तव में सहायक संधि प्रथा का स्वरूप क्या था-

1-सहायक संधि ब्रिटिश कंपनी और भारतीय रियासतों के बीच होती थी।

2-सहायक संधि के अनुसार

-कंपनी देशी राज्यों को सैनिक सहायता देने का वचन देती थी तथा उसके बदले में निश्चित आर्थिक सहायता लेती थी।

-देशी रियासतों को कंपनी का आधिपत्य मानना पड़ता था। अब कंपनी की अनुमति के बिना वे किसी राज्य से मैत्री या युद्ध नहीं कर सकते थे।

-अंग्रेजों को छोड़कर किसी यूरोपीय को अपने यहाँ नौकरी पर नहीं रख सकते थे।

-उन्हें अपनी रियासतों में अंग्रेजी फौज रखनी पड़ती थी। उस फौज का खर्च उठाना पड़ता था।

-अपनी रियासत में एक अंग्रेज **रेजीडेंट** रखना पड़ता था जो देशी नरेशों एवं कंपनी के बीच मध्यस्थ की भूमिका में रहता था।

-अन्य राज्यों से झगड़े में कंपनी 'पंच' की भूमिका निभाती थी।

-कंपनी आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का वचन देती थी।

3-पहले मित्र राज्यों पर सहायक संधि थोपी गई तत्पश्चात कुछ राज्यों पर युद्ध एवं विजय प्राप्त करके बलपूर्वक सहायक संधि लागू कि गई।

हैदराबाद के निज़ाम एवं अवध के नवाब के साथ बिना युद्ध के दबाव डालकर तथा मराठों एवं मैसूर को युद्ध में परास्त करके सहायक संधि की गई। कुछ छोटी रियासतों पूना एवं बड़ौदा को भी सहायक संधि के अन्तर्गत लाया गया।

वेलेजली जब भारत से लौटा तो वह लगभग सभी प्रमुख शक्तिशाली राज्यों को सहायक संधि के दायरे में ला चुका था। भारतीय रियासतों की स्थिति में बड़ा परिवर्तन आ चुका था यहाँ आपको यह बताना आवश्यक है कि जिन राज्यों ने सहायक संधि को मान्यता नहीं दी थी वे राज्य भी ब्रिटिश सरकार के प्रभाव से अछूते नहीं रहे।

विभिन्न फायदों के साथ-साथ रिंग फेंस नीति अंग्रेजों के लिये दो प्रकार से हानिकारक थी।पहला, तो यह कि कंपनी को अपने मित्र शक्तियों की चाहे उनमें युद्ध करने की क्षमता न हो, सहायता करनी पड़ती थी। दूसरे, दो मित्र शक्तियों के बीच युद्ध की स्थिति में असमंजस की स्थिति आ जाती थी।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1-अति लघु उत्तरीय प्रश्न

i के० एम० पनिक्कर की पुस्तक का क्या नाम है?

ii सहायक संधि किसके-किसके बीच होती थी?

2-लघु उत्तरीय प्रश्न

i लार्ड वेलेजली की नीतियों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

ii सहायक संधि प्रथा पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

2.7 अधीनस्थ पृथक्करण की नीति 1813-1857 (The Policy of Subordinate Isolation)

इस समय तक देश के शक्ति संतुलन में एक बहुत बड़ा अंतर आ गया था। अंग्रेजों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। उन्होंने अन्य यूरोपीय शक्तियों पर विजय पा ली थी और कंपनी की सेना किसी भी भारतीय शक्ति को दबाने के लिये तैयार खड़ी थी। इस अवधि में कंपनी को किसी भारतीय राज्य से सहायता लेने की आवश्यकता नहीं थी।

2.7.1 लार्ड हेस्टिन्ज एवं ब्रिटिश सर्वोच्चता की भावना का विकास

इस काल की खास बात यह है कि कंपनी ने लगभग सभी भारतीय राज्यों को अधीन बनाया तथा उन्हें सहायक संधि मानने के लिये बाध्य किया। **लार्ड हेस्टिंग्ज़ (1813-1823ई०)के युद्धों ने कंपनी के साथ भारतीय रियासतों के संबंधों में एक नया मोड़ दिया। साम्राज्यवाद की भावना जाग उठी और सर्वश्रेष्ठता के सिद्धान्त का विकास होना आरम्भ हुआ।** उसने सहायक संधि को विस्तार देते हुए मध्य भारत के 145 राज्यों, काठियावाड़ के 145 राज्यों तथा राजपूताने के 20 राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में विलय किया। कूटनीति का सहारा लेकर लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने 'मराठा संघ' की विभिन्न शक्तियों पेशवा, भोंसले, सिन्धिया एवं होल्कर की शक्तियों को छिन्न-भिन्न करके कंपनी के अधीन करने का दृढ़ निश्चय किया। लार्ड हेस्टिंग्ज़ के प्रयासों से पंजाब एवं सिन्ध को छोड़कर समस्त भारत पर ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष आधिपत्य स्थापित हो चुका था।

अब इन राज्यों के साथ जो संधियां की जाती थीं,उनमें मैत्री संबंधों के स्थान पर कंपनी की सर्वश्रेष्ठता को स्वीकार करने की बात थी। यद्यपि इन संधियों में उन राज्यों की आंतरिक स्वतंत्रता स्वीकार की गई परन्तु वास्तविकता इससे भिन्न थी। ब्रिटिश सरकार ने किसी राज्य के विषय में तभी रुचि दिखायी जब उसका निजी स्वार्थ था। ब्रिटिश नीति अस्पष्ट एवं परस्पर विरोधी थी। कभी कम्पनी किसी देशी राज्य के प्रशासन की छोटी से छोटी बात में रुचि लेने लगती थी तो कभी राज्यों को प्रशासन चलाने की पूरी छूट दे देती थी। लार्ड हेस्टिंग्ज़ देशी रियासतों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने के पक्ष में नहीं था।

लार्ड हेस्टिंग्ज़ के पश्चात कंपनी का रियासतों के आंतरिक प्रशासन में प्रभाव बढ़ना आरम्भ हो गया। जो रेजीडेंट प्रारम्भ में कंपनी और रियासतों के मध्य संपर्क साधन थे, अब नियंत्रण अधिकारी (controlling agent) के रूप में तानाशाह बन गये।

1833 ई० के चार्टर द्वारा कंपनी के व्यापारिक अधिकार समाप्त हो गये। रियासतों के प्रति नीति में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ कि उत्तराधिकार के प्रश्न पर उन्हें कंपनी की पूर्व अनुमति लेनी पड़ती थी।

2.7.2 लार्ड विलियम बेंटिंक का काल

बेंटिंक के समय से रियासतों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लेने का सिलसिला तेज हो गया। विस्तारवादी गवर्नर जनरल 'कुप्रशासन' एवं 'वास्तविक उत्तराधिकारियों' के संबन्ध के झगड़े का बहाना बनाकर रियासतों में हस्तक्षेप करने लगे और राज्यों को कम्पनी में मिलाने लगे। इस संबंध मे 1848 ई० में सर हेनरी लारेन्स ने कहा था- "कंपनी की योजना थी कि महाराजा और उसके मंत्री विदेशी तलवारों पर निर्भर रहें और रजीडेंट द्वारा निर्देशन प्राप्त करें"। इसी प्रकार कार्ल मार्क्स ने कहा-"स्थानीय राज्यों के विषय में यह हुआ कि जिस दिन से वे कंपनी द्वारा रक्षित हुए या उसके सहायक बन गये उसी दिन से राज्यों का अस्तित्व समाप्त हो गया"।कालान्तर मे बेंटिंक ने 1831 में मैसूर,1832 में कचार,1834 में कुर्ग,1835 में जैंतिया रियासतें तथा आकलैंड ने करनूल मांडवी,कोलाबा और जालौन अंग्रेजी राज्य में विलय कर लीं।

2.7.3 लार्ड डलहौज़ी एवं उसकी राज्य हड़प नीति

लार्ड डलहौजी(1848-56ई०)जब गवर्नर जनरल बनकर आया, उस समय तक सर्वोच्चता अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। ऐसा मालूम पड़ने लगा कि छोटे बड़े सभी राज्यों का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। देशी नरेश आशंकित और आतंकित हो उठे। जनमानस पर भी इसका प्रभाव पड़ा। उत्तराधिकार का निर्णय, कुशासन का आरोप लगाकर कंपनी द्वारा हस्तक्षेप करना सब मान्यता पा चुका था। गोंद लेने की प्रथा का निषेध करके कई स्वतन्त्र राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया। डलहौजी का काल ब्रिटिश सर्वोच्चता के विस्तार के कारण महत्वपूर्ण समझा जाता था। अपनी साम्राज्यवादी नीति को कार्यान्वित करने के लिये डलहौजी ने तीन उपायों का आश्रय लिया।

- युद्ध द्वारा पराजित करके- जैसे पंजाब एवं वर्मा
- कुशासन एवं भ्रष्टाचार का आरोप लगाकर- जैसे बरार एवं अवध
- गोंद लेने की प्रथा का निषेध एवं विलय करके-सतारा,नागपुर, झांसी उदयपुर इत्यादि।

डलहौजी का विचार था कि देशी राज्यों के पास नियमपूर्वक उत्तराधिकारी के न होने पर वह रियासत स्वत: ब्रिटिश साम्राज्य में विलय हो जायेगी। अपनी साम्राज्यवादी नीति को प्राप्त करने के लिये डलहौजी ने भारतीय राज्यों को तीन श्रेणियों में बाँटा।

- वे भारतीय राज्य जो प्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजों द्वारा स्थापित किये गये थे।
- वे राज्य जो अंग्रेजों के अधीनस्थ थे।
- वे जो स्वतन्त्र थे।

उक्त तीन श्रेणियों में विभाजित करके डलहौजी ने यह आदेश निकाला कि-

- प्रथम श्रेणी के नरेशों को बच्चा गोंद लेने का अधिकार नहीं रहेगा।
- द्वितीय श्रेणी के नरेशों के लिये यह आवश्यक था कि वे बच्चा गोंद लेने से पहले अंग्रेजों की स्वीकृति लें।
- तृतीय श्रेणी के नरेश किसी भी बच्चे को गोंद लेने के लिये स्वतन्त्र थे।

संतानहीन नरेश अंग्रेजों की अपार सैनिक शक्ति का विरोध न कर सके तथा उनकी इच्छा के विरुद्ध डलहौजी ने अनैतिक रूप से उनके राज्य छीन लिये। इस नीति के शिकार बने सतारा, नागपुर, झांसी, संभलपुर, जैतपुर, बघात तथा उदयपुर। कुशासन का आरोप लगाकर हैदराबाद के निजाम से बरार का प्रांत तथा अवध को अंग्रेजी शासन में मिला लिया।

भारत में कुछ ऐसे देशी राज्य थे जिन्हें कंपनी ने अपने राज्य में मिला लिया था लेकिन उनके शासकों को पेंशन मिलती थी। डलहौजी ने इस आधार पर उनके पदों एवं पेंशनों को समाप्त कर दिया कि पद अथवा पेंशन परम्परागत नहीं होते तथा पेंशनभोक्ता के उत्तरधिकारी को वे नहीं मिलने चाहिये। इसके उदाहरण हैं-पेशवा बाजीराव द्वीतीय की मृत्यु के बाद उनके दत्तक पुत्र नाना साहब की पेंशन बंद करना, कर्नाटक एवं तंजौर के नरेशों की मृत्यु के बाद उनके वंशजों को पदवी से वंचित कर दिया,मुगल सम्राट के साथ भी बुरा बर्ताव करके पेंशन की धनराशि कम कर दी गई तथा किला खाली करने को बाध्य किया गया।

उक्त विश्लेषण के पश्चात आप यह समझ गये होंगे कि 1818 ई० में कंपनी की सर्वश्रेष्ठता स्थापित हो जाने के बाद भी कंपनी की रियासतों के प्रति नीति पूर्णतया "अव्यव्स्थित,अस्पष्ट और प्राय: परस्पर विरोधी" ही थी। जैसा कि के० एम० पनिक्कर ने लिखा है-**"कंपनी के अधिकारी इस विषय में शासकों को ज़मींदार, सामन्त, कर देने वाले सहायक अथवा स्वतंत्र शासक के रूप में स्वीकार करते थे"।**एक ओर कई रियासतें विलय कर ली गईं तो दूसरी ओर कुछ रियासतों को विश्वास दिलाया गया कि उनके आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया जायेगा। इन सभी स्थितियों का जनमानस पर विपरीत प्रभाव पड़ा। देशी राज्यों के प्रति नीति 1857ई० के विद्रोह का प्रमुख कारण बनी।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न:

1-अति लघु उत्तरीय प्रश्न:

i-विस्तारवादी गवर्नर जनरल किन बहानों से रियासतों में हस्तक्षेप करने लगे?

ii-किस गवर्नर जनरल के काल में सर्वोच्चता अपनी चरमसीमा पर पहुँच गई?

2-लघु उत्तरीय प्रश्न:

i-रियासतों में रेजीडेंट की भूमिका पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

ii-लार्ड हेस्टिंग्ज द्वारा रजवाड़ों के प्रति अपनाई गई नीतियों पर टिप्पणी लिखिये।

iii-लार्ड डलहौजी की राज्य हड़प नीति पर प्रकाश डालिये।

2.8 अधीनस्थ सहयोग/एकीकरण की नीति 1857-1935(The Policy of Subordinate Union)

जैसा कि पहले बताया जा चुका है 1857 ई० की क्रान्ति के बाद 1858 ई० में ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन समाप्त कर दिया गया और भारत के प्रशासन का दायित्व **'क्राउन'** ने स्वयं संभाल लिया। इस बड़े संवैधानिक परिवर्तन के कारण और 1857 के विद्रोह की समाप्ति के बाद, अंग्रेजों ने देशी रियासतों के प्रति अपनायी गई नीति पर नये सिरे से विचार किया। विद्रोह के तुरन्त बाद जिस नीति का सूत्रपात किया गया उसी नीति

को ब्रिटिश सरकार 1947 तक अपनाये रही। इस नीति को '**अधीनस्थ एकीकरण**' की नीति कहा गया है। जिसके दो रूप दिखायी देते हैं।1858 ई० से 1906 ई० तक ब्रिटिश सरकार देशी राज्यों को शंका की दृष्टि से देखती थी। इन राज्यों के नरेशों को एक दूसरे से अलग रखा गया तथा नरेशों पर नियंत्रण बनाये रखना आवश्यक समझा। किन्तु 1906 ई० से मिन्टो ने देशी नरेशों से संपर्क बढ़ाना शुरू कर दिया तथा राष्ट्रीय आंदोलन का विरोध करने के लिये इन नरेशों से मिलकर कार्य करने की नीति अपनायी गई। जब संवैधानिक परिवर्तनों का प्रश्न महत्वपूर्ण हो गया तो देशी राज्यों के भविष्य का प्रश्न सभी पक्षों के लिये चिंता का विषय बन गया। ब्रिटिश भारत और देशी राजाओं के अधीनस्थ प्रदेशों को मिलाकर देश की एकता की पुनर्स्थापना करने का प्रश्न देश की आजादी के समय एक पेचीदा प्रश्न बन गया। इस संक्षिप्त विश्लेषण के पश्चात आप इकाई के इस खण्ड का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

2.8.1 1858 **से** 1906 **तक ब्रिटिश नीति**

1857 ई० की क्रान्ति के फलस्वरूप भारत में अधीनस्थ एकता की नयी नीति का सूत्रपात हुआ। सबसे पहले हमें यह विचार करना है कि विद्रोह ने ब्रिटिश सरकार को किस प्रकार प्रभावित किया। विद्रोह के दो प्रभाव स्पष्ट दिखाई दिये। **पहला,** यह कि ब्रिटिश सरकार की समझ में आ गया कि देशी राजाओं की भावनाओं की परवाह न करने से देश में कभी भी उनके विरुद्ध विस्फोट फिर हो सकता है। **दूसरा,** प्रभाव यह पड़ा कि विद्रोह के दौरान ब्रिटिश सरकार ने देखा कि देशी राजाओं का सहयोग भी विदेशी साम्राज्य को बनाये रखने में कितना मूल्यवान हो सकता है। विद्रोह के समय अनेक देशी राजाओं ने ब्रिटिश सरकार का साथ दिया था। यदि इन नरेशों ने अंग्रेजों का विरोध करने का निश्चय कर लिया होता तो ब्रिटिश सरकार को विद्रोह का मुकाबला करना कठिन हो जाता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ब्रिटिश सरकार ने देशी राज्यों के सहयोग के महत्व को समझा। इस कारण 1857 ई० के पूर्व की नीतियों को बदलना आवश्यक समझा।

1857ई०की क्रान्ति के समाप्त होते ही ब्रिटिश साम्राज्ञी विक्टोरिया की घोषणा द्वारा देशी नरेशों को सन्तुष्ट करने का प्रयास किया गया। साफ-साफ शब्दों में इस घोषणा में कहा गया कि-"हम अपने अधीन वर्तमान सीमाओं का विस्तार करने का कोई इरादा नहीं रखते और हम देशी नरेशों के अधिकारों, प्रतिष्ठा और मान मर्यादा का उसी प्रकार सम्मान करेंगे जिस प्रकार हम अपने अधिकारों के लिये सम्मान देते हैं"।

इस घोषणा के बाद के वर्षों में भारत सरकार और भारतीय रियासतों के संबंधों में महत्वपूर्ण परिवर्तन आये। **विलय की नीति का परित्याग कर व्यपगत सिद्धांत गहरे में दबा दिया गया।** स्वामिभक्त देशी नरेशों को अनेक अधिकार लौटा दिये गये। **गोंद लेने के अधिकार हेतु लिखित 'सनदें' दी गयीं**। इसका देशी नरेशों पर बहुत अच्छा असर पड़ा और वे बड़े उत्साह से ब्रिटिश सरकार की हर आज्ञा मानने को तैयार हो गये। ब्रिटिश सरकार ने 160 सनदें जारी कीं। सनदों के द्वारा भारतीय नरेशों को आश्वासन दिया गया कि जब तक वे ब्रिटिश सरकार के प्रति स्वामिभक्त रहेंगे एवं संधियों का पालन करेंगे, उन्हें कोई हानि नहीं पहुँचायी जायेगी। प्रोफेसर डाडवेल के मतानुसार- "सनदों के द्वारा ये राज्य ब्रिटिश सरकार के अंग बन गये। देशी नरेशों ने ब्रिटिश साम्राज्य की सदस्यता बड़ी प्रसन्नता से स्वीकार की। इन नरेशों के सहयोग से ब्रिटिश सरकार अपने साम्राज्य में विद्रोहों को शांत करना चाहती थी"। विलय न होने के अधिकार के लिये रियासतों को भारी मूल्य चुकाना पड़ा। भारतीय राजाओं की स्थिति गिर गई।

1858 ई०के बाद स्पष्ट रूप से ब्रिटिश प्रशासकों ने सर्वोच्च सत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। मुगल सम्राट के प्रभुत्व का ढोंग समाप्त हो गया।1858 पूर्व तक यह दिखावा बना रहा था कि देशी राज्यों और कंपनी के बीच समानता थी। विद्रोह के उपरांत यह बनावटी स्थिति समाप्त कर दी गयी। अब ब्रिटिश 'ताज़' (क्राउन) भारत में सर्वश्रेष्ठ शक्ति एवं असंदिग्ध शासक के रूप में उपस्थित था। अत: सभी उत्तराधिकारियों को ताज़ की अनुमति लेनी पड़ती थी। अब गद्दी पर देशी शासक का पैतृक अधिकार नहीं रह गया था अपितु अब यह ब्रिटिश क्राउन से उपहार के रूप में मिलती थी। भारतीय राजा को राज्य के उपभोग और प्रशासन का अधिकार था, न कि प्रभुत्व का अधिकार। उसका शासक बने रहना इस बात पर निर्भर था कि वह क्राउन के प्रति राजभक्त रहे। सामान्यत: प्रत्येक राजा ब्रिटिश रेजीडेंट द्वारा राजगद्दी पर बैठाया जाता था। राजा के अल्पवयस्क होने की स्थिति में ब्रिटिश रेजीडेंट उसका संरक्षक होता था। इस प्रकार विलय की नीति के स्थान पर अब ब्रिटिश प्रतिनिधि अपने प्रशासकीय नियंत्रण के जाल को समस्त देशी रियासतों में फैलाने लगे। यह अधिकतर उधार लिये हुए अफसरों,मनोनीत दीवान तथा ब्रिटिश रेजीडेंट की सहायता से किया जाता था। यद्यपि सर्वोच्चता के सिद्धांत की कभी स्पष्ट व्याख्या नहीं की गयी और यह अस्पष्टता ही ब्रिटिश सरकार के लिये उपयोगी थी।

केनिंग ने पहली बार ब्रिटिश सर्वोच्च सत्ता का सिद्धांत प्रतिपादित किया।1862 ई० में की गई महत्वपूर्ण घोषणा की व्याख्या करते हुए के०एम०पनिक्कर कहते हैं-'सर्वोच्च सत्ता' और 'सामंतों' शब्दों का प्रयोग करके एक नयी विचारधारा का सूत्रपात किया गया। शांतिपूर्ण ढंग से एक संवैधानिक क्रान्ति हुई जिससे ब्रिटिश सत्ता सार्वभौम बन गई। बाद में महारानी विक्टोरिया को 'भारत की साम्राज्ञी' घोषित किया गया।

अब देशी शासकों के अधिकार, पद, प्रतिष्ठा इत्यादि सभी क्राउन की इच्छा पर निर्भर थे तथा उनका ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ की गई संधियों से कोई संबंध नहीं था। कहने का तात्पर्य यह है कि भारत सरकार ने देशी राज्यों पर **अंकुश लगाते समय संधि की व्यवस्थाओं की जैसी चाही व्याख्या की** और देशी नरेश उनके कार्यों के विरुद्ध कोई आवाज उठा नही सके।

इस अवधि में प्रशासनिक दृष्टि से तथा आर्थिक प्रगति का निर्णय करते समय भारत सरकार ने समूचे भारत को एक ही माना। रेलवे लाइन, अन्य संचार के साधन, कर संबंधी व्यवस्था, मुद्रा व्यवस्था, शिक्षा व्यवस्था, न्याय व्यवस्था की प्रगति संपूर्ण भारत मे एक समान लागू की गई। जिससे यदि रियासतों को कोई नुकसान हो रहा था तो उनकी कोई सुनवायी नहीं हुई।

धीरे-धीरे रियासतों में नियुक्त रेजीडेंट इतने शक्तिशाली होते गये कि ये नरेशों के भाग्य का फैसला करने लगे। इनकी शक्ति का अंदाजा के०एम०पनिक्कर की इस बात से लग सकता है कि "देशी नरेश रेजीडेंट की सलाह को आज्ञा के रूप में स्वीकार करते थे। रेजीडेंसी में होने वाली फुसफुसाहट राज्य के लिये गरज हो जाती थी"।

भारत सरकार इन **रियासतों के बाह्य और विदेशी संबन्धों पर भी पूरा-पूरा नियंत्रण** रखती थी। वह इनकी ओर से युद्ध की घोषणा, तटस्थता और शांति संधि स्वयं कर सकती थी। इन रियासतों के लोगों को विदेश जाने के लिये भारत सरकार से पासपोर्ट लेना पड़ता था।

1858 ई०के पश्चात देशी राज्यों को विलीन होने का खतरा नहीं रहा किन्तु उनकी शक्तियां पहले से कही अधिक घट गयीं। विद्रोह के उपरांत भारत सरकार ने **खुले आम देशी राज्यों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप**

के सिद्धांत पर जोर दिया। केन्द्रीय सरकार यह निर्धारित करने के लिये स्वतन्त्र थी कि यह हस्तक्षेप किस प्रकार का हो, किस समय इसका निर्णय लिया जाय और इसका वास्तविक स्वरूप क्या हो। भारत सरकार ने हस्तक्षेप करने के कई माध्यम अपनाये। जैसे-देशी राज्यों में रेजीडेंटों की नियुक्तियाँ और उनको अधिकार देना, दीवानों के चुनाव में आज्ञा जारी करना तथा अल्पवयस्क शासक होने पर राज्य के प्रशासन चलाने की जिम्मेदारी लेना। उत्तरधिकार के प्रश्न पर निर्णय देना, रियासतों के शासकों को पदच्युत करना, उन्हें दंडित करना इत्यादि।

ली वार्नर ने 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ऐसे कई मामलों पर प्रकाश डाला है जिनके द्वारा सार्वभौम सत्ता की नीति के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है। इनमें सबसे प्रमुख मामला रेजीडेंट की शिकायत पर 'मनमाने' ढंग से बड़ौदा के गायकवाड़ पर अभियोग लगाना तथा गद्दी से उतारना। इसी प्रकार के 'मनमाने' हस्तक्षेप मणिपुर पटियाला, हैदराबाद तथा कश्मीर के मामले में हुए।

लार्ड कर्ज़न के काल में और उसके बाद देशी रियासतों पर ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण बढ़ता ही गया। कर्ज़न ने ऐसा कोई मौका नहीं छोड़ा जब उसने रियासतों के शासकों को उनकी अधीनता न महसूस करवाई हो। इस नवीन प्रवृत्ति के फलस्वरूप सभी रियासतें लगभग एक जैसी ही हो गई चाहे वे संधि रियासतें थीं अथवा भिन्न-भिन्न अधिकार प्राप्तकर्ता। सभी रियासतें ब्रिटिश सरकार पर निर्भर थीं और भारतीय राजनैतिक पद्धति का अभिन्न अंग समझी जाती थीं।

2.8.2 अधीनस्थ संघीय/सहयोग की नीति- नरेन्द्र मंडल (1906-1947ई०)Policy of Subordinate Union-The Chamber of Princes

कर्ज़न के जाने के पश्चात देशी राज्यों के साथ ब्रिटिश सरकार के संबंन्धों में सुधार होने आरम्भ हुए। इसका प्रमुख कारण था-भारतीय राष्ट्रीय आंन्दोलन की तीव्रता। भारतवासी ब्रिटिश सत्ता को चुनौती दे रहे थे। भारतीयों द्वारा यह पूछा जाने लगा कि अंग्रेजों को भारत पर शासन करने का क्या अधिकार है। भारत में बढ़ती हुई राजनैतिक व्यग्रता के कारण भारत सरकार ने प्रतिरक्षा की नीति अपनायी तथा रियासतों के प्रति सौहार्दपूर्ण सहकारिता की नीति अपनाई। अत:1906 ई० के पश्चात देशी नरेशों के प्रति 'अधीनस्थ सहयोग' की नीति अपनायी गई।

यहां यह समझ लेना आवश्यक है कि देशी नरेशों का रुख भी बदल रहा था। उन्होंने देख लिया था कि भारत सरकार ने देशी राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने की नीति छोड़ दी थी। किन्तु इसके साथ-साथ सर्वोच्च सत्ता की शक्ति जिस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ी उससे देशी नरेशों को चिन्ता हो रही थी और उन्होंने सर्वोच्च सत्ता के सिद्धांत का विरोध करने का विचार किया। इस प्रकार 20वीं शताब्दी के आरम्भिक दशक में देशी राज्यों और भारत सरकार के बीच संबन्धों में परिवर्तन आया।

2.8.3 मिंटो और हार्डिंज द्वारा ब्रिटिश नीति में संशोधन

कर्ज़न के शासनकाल की तूफानी उत्तेजना के बाद जब लार्ड मिंटो ने वायसराय के पद पर 1905 से 1911ई० तक कार्य किया तो देशी राज्यों पर दबाव कम करने की नीति अपनायी गयी। मिंटो के समान ही उसके उत्तराधिकारी लार्ड हार्डिंज़ ने भी देशी रियासतों के साथ मित्रतापूर्ण संबंन्धों को आगे बढ़ाया। धीरे- धीरे ये नरेश ब्रिटिश साम्राज्य के सहयोगी के रूप में अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों मे भारत की समस्याओं पर वे महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे।

2.8.4 नरेन्द्र मंडल की स्थापना

यह बात अंग्रेजी सरकार के वाइसरायों ने कई बार रखी कि देशी रियासतों के नरेशों की एक परिषद बना दी जाय जिससे कि सामूहिक हितों के मामलों पर विचार-विमर्श किया जा सके। अंतत: मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों में 'नरेन्द्र मंडल या (The Chamber of Princes) का गठन हो सका। फरवरी 1921ई० में इसका विधिवत उदघाटन हुआ। देशी नरेशों के इस मंडल की स्थापना से भारत सरकार और देशी राज्यों के बीच एक नया अध्याय शुरू हुआ। इसकी स्थापना से दो उल्लेखनीय सिद्धांत स्वीकार कर लिये गये-

- देशी नरेश मिलकर उन सभी प्रश्नों पर विचार कर सकते थे जिसका प्रभाव उनके राज्यों पर पड़ता था और
- देशी नरेशों को यह अधिकार मिल गया कि वे ऐसे सभी विषयों पर मत दे सकते थे जिसका असर सारे देश पर पड़ता हो।

इस मंडल की स्थापना से देशी नरेश संगठित होने लगे और देश की राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं को प्रभावित करने लगे। देशी नरेशों के इस मंडल में 120 सदस्य थे।

2.8.5 बटलर कमेटी की रिपोर्ट

देशी नरेशों के मन में भारत सरकार की हस्तक्षेप की नीति के प्रति असन्तोष था। जब वे संगठित हुए तो एक बार फिर उन्होंने देशी राज्यों की स्वतन्त्रता की आवाज बुलन्द की। देशी नरेशों को ब्रिटिश सर्वोच्च सत्ता का सिद्धांत कतई पसन्द नहीं था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद देशी नरेशों ने लार्ड इर्विन से यह मांग की कि भारत सरकार से उनके राजनीतिक संबन्ध किस प्रकार हैं यह स्थिति स्पष्ट की जाय।

अंतत: सरकार ने 1927ई० में देशी राज्यों और भारत सरकार के संबन्धों पर विचार करने हेतु (Indian states committee) 'भारतीय रियासतों की समिति' जिसे बटलर कमेटी कहा जाता है, की नियुक्ति की। वकीलों एवं दलीलों की लम्बी प्रक्रिया के बाद भी देशी नरेशों को विशेष लाभ नही हुआ। अंतत: बटलर कमेटी ने निम्नलिखित सिफारिशें प्रस्तुत कीं-

1-रियासतों के साथ व्यवहार करने के लिये वायसराय ब्रिटिश क्राउन का एजेंट बने, कौंसिल सहित गवर्नर जनरल नहीं।

2-नरेशों की राय के बिना ब्रिटिश राज और देशी राजाओं के बीच का संबन्ध एक नई सरकार के साथ न किया जाय।

3-राज्यों और ब्रिटिश भारत के बीच जो झगड़े उठ खड़े हों उनकी जांच के लिये विशेष समितियां नियुक्त हों।

4-ब्रिटिश भारत एवं रियासतों के बीच आर्थिक संबन्धों की जाँच हेतु एक समिति की नियुक्त की जाय।

5-राजनैतिक अफसरों की भर्ती एवं शिक्षा का प्रबन्ध अलग से हो।

भारतीय नरेश इस बात पर बहुत चकित हुए कि बटलर कमेटी की सिफारिशों में सर्वश्रेष्ठता की परिभाषा स्पष्ट नहीं की गई।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न:

1-अति लघु उत्तरीय प्रश्न:

I. किस गवर्नर जनरल ने पहली बार ब्रिटिश सर्वोच्च सत्ता का सिद्धांत प्रतिपादित किया?

II. नरेन्द्र मंडल में कितने सदस्य थे?

2- निम्न लिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिये:

I. रियासतों में रेजीडेंट की भूमिका पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

II. 1858 से 1906 तक रियासतों के प्रति ब्रिटिश नीति की समीक्षा कीजिये।

III. 1906 ई० के पश्चात देशी रियासतों के प्रति ब्रिटिश नीतियों में क्या परिवर्तन आये?

IV. नरेन्द्र मंडल का गठन किस उद्देश्य से किया गया?

V. बटलर कमेटी की सिफारिशों पर प्रकाश डालिये।

2.9 बराबर के संघ की नीति 1935-47ई०(Policy of Equal Federation)

साइमन कमीशन 1930ई० की रिपोर्ट में अखिल भारतीय संघ के विषय में सुझाव पेश किया गया था। उससे यह स्पष्ट था कि यदि भविष्य में भारत एक संयुक्त देश बनेगा तो वह संघ के आधार पर ही बन सकता है जिसमें देशी रियासतें भी सम्मिलित होंगी। इसी कारण भारतीय नरेशों को लंदन में हुए प्रथम गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने हेतु आमंत्रित किया गया था।

नरेशों ने 'अखिल भारतीय-संघ' व्यवस्था के प्रस्ताव को स्वीकार किया था। इसमें भारतीय रियासतों एवं अंग्रेजों के अधीन प्रान्तों को मिलाकर भारतीय संघ बनाने की बात की गई थी।

सन 1935ई० के अधिनियम के अनुसार भारत में संघ शासन की व्यवस्था की गई। इसमें ब्रिटिश सत्ता के अधीन सभी प्रान्तों का मिलना आवश्यक था, पर भारतीय राज्यों का उसमें सम्मिलित होना या न होना राजाओं की इच्छा पर छोड़ दिया गया था।

ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीय रियासतों को संघ में शामिल किया जाना उनके अपने स्वार्थ पर आधारित था।भारतीय रियासतों को संघीय विधानसभा में 375 में से 125 स्थान दिये गये और राज्य विधान परिषद में 260 में से 104 स्थान। संघ केवल इसी स्थिति में अस्तित्व में आता जब कम से कम आधी जनसंख्या और परिषद में आधे स्थानों वाली रियासतें संघ में सम्मिलित हो जांय।

इसी प्रकार ली वार्नर ने भी यही तर्क दिया था कि ऐसे वातावरण में जहां जनसंख्या का एक बड़ा भाग अंग्रेजों से संबंध विच्छेद करने का आग्रह करता हो, रियासतें अंग्रेजों की मित्र बनी रहेंगी। नीचे के सदन में 33 प्रतिशत और उच्च सदन में 40 प्रतिशत स्थान इनके होंगे और ऐसी अवस्था में कांग्रेस अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकेगी।

चुंकि पर्याप्त रियासतों ने संघ में सम्मिलित होना स्वीकार नहीं किया अतएव संघ अस्तित्व में नहीं आ सका।

1937 ई0 के चुनावों में कांग्रेस की सफलता का प्रभाव रियासतों पर भी पड़ा। वहाँ उत्तरदायी सरकारों और नागरिक स्वतंत्रताओं के लिये आंदोलन होने लगा। 3 दिसम्बर 1938 ई0 को गाँधी ने घोषणा कर दी कि रियासतों में जागृति समय की पुकार है और पूर्ण उत्तरदायी सरकार में रियासतों का लुप्त हो जाना निहित है। इसमें बीच का मार्ग नहीं हो सकता। परन्तु द्वितीय युद्ध के छिड़ जाने से संघीय योजना स्थगित कर दी गई।

2.9.1रियासतों का एकीकरण एवं विलय (Integration and Merger of States)

द्वितीय विश्व युद्ध 1939-1945ई० के दौरान भारत ने अति तीव्र गतिविधियाँ देखीं। राष्ट्रीय कांग्रेस ने असहयोग की नीति अपनायी। भारतीयों को अधिकाधिक शासन-सत्ता देने के प्रस्तुत की गई सभी योजनाओं मे यह स्पष्ट किया गया कि भारत के स्वतंत्र होने पर भारत से अंग्रेज चले जायेंगे। इससे भारत के विभिन्न राज्यों मे बँट जाने की नवीन समस्या प्रारम्भ हो गयी। 20 फरवरी को एटली की घोषणा और 3 जून की माउन्टबेटन योजना ने यह स्पष्ट कर दिया कि ब्रिटिश सर्वश्रेष्ठता समाप्त हो जायेगी और रियासतों को अधिकार होगा कि वे पाकिस्तान अथवा भारत में सम्मिलित हो सकती हैं। माउन्टबेटन ने किसी एक रियासत अथवा अनेक रियासतों के संघ को एक तीसरी इकाई के रूप में मान्यता देने से इन्कार कर दिया।

राष्ट्रीय अस्थायी सरकार में सरदार बल्लभ भाई पटेल रियासती विभाग के कार्यवाहक थे। उन्होंने अपनी समझदारी से भारत को छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटने से बचा लिया। 15 अगस्त 1947ई० तक 136 रियासतें भारत में सम्मिलित हो गयीं। बाद में जूनागढ़ तथा हैदराबाद तथा कश्मीर रियासतें भी भारत में सम्मिलित हो गई।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न:

1-अति लघु उत्तरीय प्रश्न:

I. किसअधिनियम के अनुसार भारत में संघ शासन की व्यवस्था की गई?

II. स्वतंत्र भारत में रियासतों का एकीकरण किसने किया?

2-निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिये:

1935 ई० के पश्चात रियासतों की स्थिति पर प्रकाश डालिये।

2.10 सारांश

उक्त अध्ययन के बाद आप समझ गये होंगे कि 1857ई० के पूर्व और पश्चात देशी रियासतों के प्रति ब्रिटिश नीति का स्वरूप भिन्न था। पलासी के युद्ध के बाद भारत में कंपनी का विस्तार प्रारम्भ हुआ। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने व्यापारिक उद्देश्यों को पूरा करते-करते संपूर्ण भारत पर अपना प्रभाव जमा लिया। सहायक संधि प्रथा एवं व्यपगत सिद्धांतों की आड़ में ब्रिटिश सरकार ने भारतीय रियासतों पर अपनी सर्वोच्च सत्ता स्थापित कर संपूर्ण भारत को अपने प्रशासकीय नियंत्रण में जकड़ लिया। यद्यपि ब्रिटिश सरकार की रियासतों के प्रति कोई निश्चित नीति नहीं थी तथापि उन्होंने देश,कारक एवं परिस्थिति के अनुसार राजनैतिक सर्वोच्चता को प्राप्त करने के लिये विभिन्न प्रकार की नीतियों का अनुसरण किया।1858 के पश्चात ब्रिटिश सम्राट ने मुगल बादशाह का स्थान ले लिया और समूचे भारत पर उसकी अधिसत्ता (Paramountcy of BriTisha crown) स्थापित हो गई। देशी नरेशों के प्रति ब्रिटिश नीति एकदम बदल गई। इस नीति-परिवर्तन के मूल में जो बात काम कर रही थी वह स्पष्ट थी। अब देशी नरेश अंग्रेजी राज्य के प्रतिद्वन्द्वी नहीं अपितु प्रबल समर्थक माने जाने लगे और भारत के जन-जागरण की प्रगति में उनका इस्तेमाल होने लगा। अंग्रेजों से असंतुष्ट होते हुए भी अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये विवश ये देशी नरेश ब्रिटिश साम्राज्य के रक्षा स्तम्भ बन गये। इस प्रकार की व्यवस्था ने भारत को जबरदस्त

राजनीतिक और आर्थिक धक्का पहुँचाया। स्वतंत्रता प्राप्ति के क्रम में अंतत: भारत या पाकिस्तान में विलय के बाद ही देशी रियासतों की समाप्ति हुई।

2.11 तकनीकी शब्दावली

- **रजवाड़ों**-देशी रियासतों के नरेशों और नवाबों को रजवाड़े कहा जाता था।
- **क्राउन**-विधिक रूप से ब्रिटिश संप्रभुता का प्रतीक। ब्रिटेन तथा राष्ट्रमंडल देशों में इस शब्दावली को शासन तथा सरकार के लिये एक उपशब्द के रूप में प्रयोग किया जाता है।
- **दीवानी**-राजस्व एकत्र करने का अधिकार
- **सनद**-प्रमाण-पत्र
- **बफर स्टेट**-शत्रु राज्य और अपने राज्य के मध्य एक मित्र राज्य
- **रेजीडेंट**- देशी रियासतों में अंग्रेजों द्वारा रखा गया अपनी प्रतिनिधि जो नरेशों और गवर्नर जनरल के बीच प्रशासन की कड़ी था।

2.12 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 2.3 स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1-a) 562

b)जम्मू कश्मीर एवं हैदराबाद

इकाई 2.4 के स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1-दि नेटिव स्टेट्स ऑफ़ इंडिया'

2- देखिये-2.4

देखिये-2.4

इकाई 2.5 के स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1-i1740 ई०

ii 1765 ई०

iii राजस्व एकत्र करने का अधिकार

इकाई 2.6 के स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1-i ब्रिटिश पालिसी टूवर्ड्स इंडियन स्टेट्स

ii गवर्नर जनरल एवं देशी नरेशों के बीच

2- I देखिये 2.6

Ii देखिये 2.6.1

इकाई 2.7के स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1-i'कुप्रशासन'का आरोप लगाकर एवं 'वास्तविक उत्तराधिकारियों' के संबन्ध के झगड़े का बहाना बनाकर

ii लार्ड डलहौजी

2-i देखिये- 2.7.1

ii देखिये- 2.7.3

iii देखिये- 2.7.3

इकाई 2.8के स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1- I केनिंग

Ii 120

2-i देखिये-2.8.1

Ii देखिये-2.8.1

Iii देखिये-2.8.2

iv-देखिये-2.8.4

v-देखिये-2.8.5

इकाई 2.9 के स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1-i 1935

Ii सरदार वल्लभ भाई पटेल

2-देखिये-2.9 और 2.9.1

2.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

- मिस्र, जगन्नाथ प्रसाद, आधुनिक भारत का इतिहास, लखनऊ, 1979
- ग्रोवर, बी०एल०एवं यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास, नई दिल्ली, 2000
- जैन, एम० एस०, आधुनिक भारत का इतिहास, चतुर्थ संस्करण, नई दिल्ली, 1993
- शुक्ल, आर०एल०, (संपादक), आधुनिक भारत का इतिहास, दिल्ली, 1994

2.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- मिस्र, जगन्नाथ प्रसाद, आधुनिक भारत का इतिहास, लखनऊ, 1979
- ग्रोवर, बी०एल०एवं यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास, नई दिल्ली, 2000
- जैन, एम० एस०, आधुनिक भारत का इतिहास, चतुर्थ संस्करण, नई दिल्ली, 1993
- मित्तल, ए०के०, आधुनिक भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, आगरा, 2012
- शुक्ल, आर०एल०, (संपादक), आधुनिक भारत का इतिहास, दिल्ली, 1994

2.16 निबन्धात्मक प्रश्न

1-'रिंगफेंस नीति' से आप क्या समझते हैं? ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा अपनायी गयी इस नीति का वर्णन कीजिये।

2-भारतीय रियासतों के प्रति ब्रिटिश नीति का वर्णन कीजिये।

3-सहायक संधि प्रथा पर निबन्ध लिखिये।

4-1858 ई० के महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र का वर्णन कीजिये।उसके महत्व पर प्रकाश डालिये।

5- ब्रिटिश सरकार द्वारा अपनायी गई अधीनस्थ सहयोग की नीति का वर्णन कीजिये।

ब्लॉक तीन

इकाई तीनः भारत एवं पड़ोसी देशः तिब्बत, नेपाल, बर्मा, फारस एवं फारस की खाड़ी

3.1. प्रस्तावना

3.2. उद्देश्य

3.3.1. तिब्बत

3.3.2 कर्जन की तिब्बत नीति

3.3.2.1 फ्रांसिस यंगहस्बैन्ड मिशन

3.3.2.2 ल्हासा की संधि

3.4 नेपाल

3.5. बर्मा

3.5.1. प्रथम आंग्ल–बर्मा युद्ध (1824)

3.5.1.1 युद्ध का प्रारम्भ और प्रमुख घटनाएँ

3.5.1.2 यान्डूब की संधि

3.5.2. आंग्ल–बर्मा द्वितीय युद्ध (1852)

3.5.3. तृतीय आंग्ल–बर्मा युद्ध (1885)

3.6. फारस एवं फारस की खाड़ी

3.6.1 भारत–फारस सम्बन्ध

3.6.1.1 ईरानी–आक्रमण

3.6.2. मुगलकालीन भारत–फारस सम्बन्ध

3.6.3 बाबर और फारस

3.6.3.1 फारस से सम्बन्ध और कंदहर का प्रश्न

3.6.3.2 जहाँगीर का कन्दहार संबंध

3.6.3.3 शाहजहाँ का कन्दहार की प्राप्ति

3.6.3.4 औरंगजेब के समय फारसी संबन्ध

3.7 नादिरशाह

3.7.1 करनाल का युद्ध

3.7.2. ब्रिटिश नीति

3.7.3. फारस की खाड़ी

3.8. सारांश

3.9 संदर्भ – ग्रंथ

3.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

3.1. प्रस्तावना

18 वीं शताब्दी के दौरान मुगल साम्राज्य के पतन के बाद भारत साम्राज्यवादी अंग्रेजी शासन का उदय हुआ जिसे हम कम्पनी शासन अर्थात् ईस्ट इंडिया कम्पनी के नाम से जानते है। प्रारम्भिक काल में भारत को जीतने में अंग्रेजों ने बंगाल के संसाधनों का उपयोग किया। इसी प्रकार अंग्रेजों ने अपनी साम्राज्यवादी लालसा की पूर्ति हेतु हम इस तथ्य से भलीभांति परिचित हो जाएंगे कि उपनिवेशवाद का अपनी विशेषता के अनुरूप सतत् प्रसार होता रहा और एक उपनिवेश की सम्पदा का उपयोग दूसरे उपनिवेश के प्रसार एवं नियंत्रण को सुदृढ़ीकरण करने में किया गया। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत के संसाधनों का उपयोग भारत के पड़ोसी देश तिब्बत, नेपाल, बर्मा, फारस एवं फारस की खाड़ी की भूमि पर अपनी स्थित के सुदृढ़ीकरण में किया तथा कालान्तर में हम पाते है कि इन सभी देशों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तौर पर अंग्रेजों का नियंत्रण स्थापित हो गया। इसलिए कम्पनी के इतिहास के कुछ सुसंगत भागों का यहाँ से संक्षिप्त विवरण करना उपयोगी हो सकता है।

3.2. उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य भारत एवं उसके पड़ोसी देशों के बारे में जानकारी देना है साथ ही

- इस बात की जानकारी भी देना है कि किस प्रकार अंग्रेजों ने भारत की सीमाओं से बाहर भी अपनी साम्राज्यवादी सीमाओं का विस्तार किया।
- इस कारणवश भारत के संबंधों पर पड़ने वाले प्रतिकूल कारको की जानकारी देना है।
- भारत से बाहर अंग्रेजी व्यापार और प्रसार के सामान्य कारणों पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- उन क्षेत्रों की जानकारी दे सकेंगे जिन पर अंग्रेजों ने प्रत्यक्ष अधिकार तो नहीं किया फिर भी उन पर अपना पर्याप्त प्रभाव कायम रख सके।

3.3.1. तिब्बत

आधुनिक भारत में लार्ड कर्जन के समय की एक महत्वपूर्ण घटना है तिब्बत के साथ संबंध। तिब्बत चीन के अधीन एक राज्य था ; परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से तिब्बत के धर्मगुरू दलाई लामा के अधीन यह एक स्वायत्ता प्राप्त स्वतंत्र राज्य था। अंग्रेजों की तिब्बत में दिलचस्पी बहुत पुरानी थी। 1774–75 में ही वारेन हेस्टिंग्स ने जार्ज बाग्ले को तिब्बत के साथ व्यापारिक संबंध बढ़ानें को तिब्बत भेजा था। 1783 में कंपनी ने पुनः इस दिशा में प्रयत्न किया, लेकिन वह असफल रही। तिब्बत में अंग्रेजों का राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थ था। आर्थिक दृष्टिकोण से अंग्रेजी सरकार भारत–तिब्बत व्यापार को विकसित करना चाहती थी। इसके अतिरिक्त अंग्रेज तिब्बत के प्राकृतिक एवं खनिज साधनों का भी लाभ उठाना चाहती थी। राजनीतिक दृष्टिकोण से तिब्बत पर नियंत्रण भारत की उत्तरी सीमा की सुरक्षा के लिए आवश्यक था। अतः अंग्रेज तिब्बत के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित रखना चाहती थी। 19 वीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक तिब्बत के साथ भारत की सरकार कोई घनिष्ठ संबंध कायम नहीं कर सकी।

3.3.2 कर्जन की तिब्बत नीति

जिस समय लार्ड कर्जन भारत आया उस समय तिब्बत में रूसी प्रभाव बढ़ रहा था। दलाई लामा पर डोरजीफ नामक व्यक्ति का काफी प्रभाव था। उसके संबंध रूस के जार से भी अच्छे थे। वह तिब्बत में रूस से अस्त्र–शस्त्र लाकर जमा भी कर रहा था। रूसी समाचार–पत्र भी डोरजीफ और दलाई लामा के घनिष्ठ संबंधों को विशेष महत्व दे रहे थे। ऐसी स्थिति में अंग्रेजों का आशंकित होना स्वाभाविक ही था। इसी बीच 1902 में कर्जन को चीन और रूस के एक गुप्त समझौते की जानकारी मिली, जिसके अनुसार चीन सरकार ने तिब्बत पर रूस का नियंत्रण स्वीकार कर लिया था। कर्जन ने एक शिष्टमण्डल तिब्बत भेजने का निश्चय किया। इस पर लंदन स्थित रूसी दूत ने अपना विरोध प्रगट किया। इस घटना ने रूसी चीनी गुप्त समझौते को

पुष्ट कर दिया। फलतः गृह सरकार की अनुमति प्राप्त कर कर्जन ने ब्रिटिश शिष्टमण्डल तिब्बत भेजने का निश्चय कर लिया।

3.3.2.1 फ्रांसिस यंगहस्बैन्ड मिशन

मार्च, 1904 में कर्जन ने फ्रांसिस यंगहस्बैंड के नेतृत्व में एक सैनिक अभियान दल तिब्बत की राजधानी ल्हासा के लिए भेजा। इसका मुख्य उद्देश्य तिब्बतियों को समझौता करने के लिए बाध्य करना था। तिब्बतियों के पास हथियारों की कमी थी, फिर भी उन्होंने सैनिक दल का वीरतापूर्वक सामना किया। गरू नामक जगह पर हुए संघर्ष में 7000 तिब्बती मारे गए, फिर भी उन्होंने प्रतिरोध नहीं छोड़ा। अंग्रेजों की सेना तिब्बतियों को परास्त करती हुई, अगस्त 1904 में ल्हासा पहुँची। दलाई लामा प्रशासन की जिम्मेदारी वरिष्ठ अधिकारियों पर छोड़कर राजधानी से बाहर चले गए। लंबी वार्ता के पश्चात् ल्हासा की संधि हुई।

3.3.2.2 ल्हासा की संधि

7 सितम्बर, 1904 को दलाई लामा ने यंगहस्बैंड के साथ ल्हासा की संधि की। इसके अनुसार तिब्बत पर युद्ध के हर्जाने के रूप में 75 लाख रुपए की राशि थोप दी गई। यह राशि तिब्बत को प्रतिवर्ष एक लाख रुपए की दर से अदा करनी थी। हर्जाना चुकाए जाने की अवधि तक चुम्बी घाटी पर अंग्रेजों का अधिकार स्वीकार कर लिया गया। व्यापारिक सुविधा के लिए यांतुग, ज्ञानत्से और गरकाट में ब्रिटिश व्यापारिक केन्द्र खोलने की बात तय हुई। अंग्रेजों ने तिब्बत के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया। इसके साथ–साथ यह भी तय हुआ कि तिब्बत इंग्लैण्ड के अलावा अन्य किसी भी विदेशी शक्ति को अपने देश में रेल, सड़क, तार इत्यादि बनाने की सुविधा प्रदान नहीं करेगी। तिब्बत की विदेश नीति पर अंग्रेजों का नियंत्रण कायम हो गया।

3.4 नेपाल

दक्षिण एशिया में इस काल में अंग्रेजों का मुख्य भूमि पर भारत से बाहर होने वाला प्रसार केवल नेपाल एवं अफगानिस्तान तक ही सीमित था।

ईस्ट इंडिया कंपनी का नेपाल में प्रथम हस्तक्षेप 1767 में उस समय हुआ जब कि कम्पनी की कौसिल ने कलकत्ता में पटना नेपाल घाटी पर आक्रमण करने का आदेश दिया। घाटी में पहले से ही कुछ अव्यवस्था फैली थी। गोरखा सरदार राजा पृथ्वी नारायण शाह ने नेपाल का राजा बनने की इच्छा से नेपाल पर आक्रमण किया। इससे पटना और नेपाल के बीच होने वाले व्यापार में विघ्न पड़ा और इसलिए कम्पनी ने पटना स्थित कैप्टन किनलोक को पृथ्वी नारायण शाह पर आक्रमण करने का आदेश दिया। परन्तु गोरखों ने आक्रमण को रोक दिया।

आगामी वर्षों में गोरखों ने नेपाल के मल्ल शासकों को पराजित कर दिया और पृथ्वी नारायण शाह नेपाल का राजा हो गया। उसके उत्तराधिकारियों 1792 में पटना में ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रतिनिधि के साथ एक सुदृढ़ व्यापारिक संधि पर हस्ताक्षर किए।

शताब्दी के अंत तक अंग्रेजों को दक्षिण एशिया की एक निर्णायक शक्ति के रूप में माना जाने लगा। गवर्नर–जनरल वैलेजली ने भारत में कम्पनी का क्षेत्रीय प्रसार एवं सुदृढ़ीकरण करने के लिए सहायक संधियों की व्यवस्थाओं का प्रचलन किया। इसी समय 1801 में अंग्रेजों ने नेपाल के साथ संधि करने का प्रयास किया (संधि पर अक्टूबर 1801 में हस्ताक्षर हुए) और इस संधि के अनुसार नेपाल सरकार ने ब्रिटिश रेजीडेन्ट को काठमाँडू में रखने की सहमति प्रदान कर दी। रेजीडेन्ट के पास पहले से ही ये आदेश थे कि वह नेपाल अर्थव्यवस्था का अध्ययन करे तथा विशेषकर तिब्बत से सोने की आपूर्ति एवं नेपाल के जंगलों से प्राप्त होने वाली समृद्ध इमारती लकड़ी एवं देवदार का पता लगाए। परंतु नेपाल के साथ शत्रुता के कारण अंग्रेज रेजीडेन्ट को मार्च 1803 में भारत वापस बुला लिया गया। भारत के साथ लगी 1,100 किलोमीटर

लम्बी सीमा पर कुछ गाँवों पर अधिकार को लेकर दोनों के बीच बहुत सी समस्याएं पैदा होती रहीं।

गवर्नर–जनरल हेस्टिंग्स के समय में अक्टूबर 1814 में नेपाल एवं अंग्रेजों के बीच युद्ध हुआ। कम्पनी की सेना का नेतृत्व मालें, ओश्तेर लोनी, वूड एवं कर्नल निकोल्स के द्वारा नेपाली सेना पर एक कड़ा हमला इस आशा के साथ किया गया कि वे सम्पूर्ण सीमा पर उनका सामना करेगी। परंतु उन्होंने पहाड़ के लोगों के संघर्ष करने की क्षमता को कम करके आंका था। नेपाल को पराजित करने में एक वर्ष से अधिक का समय लग गया तथा सगौल की संधि (दिसंबर 1815) के द्वारा नेपाल सतलुज की पहाड़ियों, गढ़वाल और कूमायूँ के क्षेत्रों को अंग्रेजों को सौंपने के लिए सहमत हो गया तथा पुनः एक अंग्रेज को रेजीडेन्ट के रूप में रखने के लिए भी तैयार हो गया।

तराई के समृद्ध क्षेत्रों को प्राप्त करने के बाद अंग्रेजों ने यह निश्चय किया कि नेपाल की अधिक भूमि को प्राप्त करने से अब कोई विशेष आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होगी। इसलिए वे नेपाल के मामलों में कम रुचि लेने लगे।

3.5. बर्मा

भारत में अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी की सत्ता का प्रारम्भ जिस समय हुआ लगभग उसी समय बर्मा में अलोम्प्रा की शक्ति का उदय भी हुआ। बर्मा का राज्य भारत के उत्तर पूर्व में स्थित था। भारत की पूर्वी सीमा पर चीनी तिब्बती मिश्रित एक जाति अलोम्प्रा के नेतृत्व में एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर रही थी। अलोम्प्रा ने इरावदी नदी का मुहाना, पेगू, तनासरम और अराकान का प्रदेश जीतकर विशाल राज्य की स्थापना की। इसके बाद उसने अपने राज्य का विस्तार करते हुए असम और मणिपुर के राज्यों को भी जीत लिया जिससे बर्मा राज्य की सीमाएँ भारत के कंपनी शासित राज्य की सीमाओं से टकराने लगीं। अंग्रेजों के लिए बंगाल की सीमा पर एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना खतरे की घंटी थी। यहीं से इनके संबंधों का प्रारम्भ हुआ। यूँ तो अंग्रेजों के बर्मा से व्यापारिक संबंध बहुत पहले से थे परन्तु वे बहुत उथले थे। जबकि बर्मा ने अराकान पर अधिकार कर लिया और दोनों के राज्यों की सीमायें आपस में मिलने लगीं तो उनके संबंधों में तनाव बढ़ने लगा। इस स्थिति में अंग्रेजों ने बर्मा से राजनैतिक संबंध स्थापित करने का प्रयत्न किया, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। अंग्रेजों ने 1797 से 1811 के बीच कई बार दूत भेजे, परन्तु इसका कोई लाभ नहीं हुआ और दोनों के बीच तनाव बढ़ता गया।

3.5.1. प्रथम आंग्ल–बर्मा युद्ध (1824)

आंग्ल–बर्मा युद्ध की परिस्थितियाँ 1784 के बाद उस समय से बनने लगीं थी जबकि बर्मा ने अराकान के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। लार्ड हेस्टिंग्स के समय में भारत के सीमावर्ती राजा सहायक संधि से बँधे थे अतः वे कुछ कर न सके। उसके समय में जब अराकान के प्रदेश के लोग भागकर भारत में कंपनी की सीमा में आये तो बर्मा के सैनिकों ने उन्हें वापस माँगा परन्तु हेस्टिंग्स से उन्हें देने से इंकार कर दिया। इस घटना से अंग्रेजों और बर्मा के संबंधों में तनाव और अधिक बढ़ गया। इसके बाद बर्मा ने असम पर भी अधिकार कर लिया तो कंपनी के साथ उसके सीमा संबंधी झगड़े और बढ़ने लगे।

प्रथम युद्ध का तात्कालिक कारण था शाहपुरी के छोटे और निर्जन द्वीप पर अधिकार का प्रश्न। लार्ड एम्हर्स्ट के समय में युद्ध की स्थितियाँ निर्मित होने लगी थी। इसके पीछे बर्मा के राजदरबार में सत्ता परिवर्तन भी माना जाता है। 1819 में बर्मा में बागीदाऊ गद्दी पर बैठा। उसके सत्तासीन होने पर बर्मा में विस्तारवादी प्रवृत्तियाँ और अधिक बढ़ने लगीं। उसका भाई एवं दरबार के अन्य लोग पूर्वोत्तर भारत की ओर साम्राज्य का विस्तार चाहते थे। उनका सैनिक कमांडर महाबुन्देला तो असम की आसान जीत से भारत की जीत को भी आसान समझने लगा

था। सम्पूर्ण बर्मा में युद्ध की माँग की जा रही थी। क्रेफर्ड ने लिखा है कि ''बर्मा में राज्य से लेकर भिखारी तक अंग्रेजों से युद्ध की माँग कर रहा था।'' दूसरी ओर अंग्रेज भी अपनी साम्राज्यवादी नीति के कारण बर्मा के उपजाऊ क्षेत्र को आने साम्राज्य में मिलाने के लिए उत्सुक थे। दोनों ओर से युद्ध की माँग थी। इसलिए युद्ध हो इसके लिए छोटी से छोटी बातों को तूल दिया और युद्ध के लिए परिस्थितियाँ निर्मित की गई।

इसी समय शाहपुरी के द्वीप पर पुनः झगड़ा हो गया। बर्मियों ने इस द्वीप पर आक्रमण करके उस पर कब्जा कर लिया। इस बीच एम्हर्स्ट ने युद्ध की पूरी तैयारियाँ कर ली थीं और उसने 24 फरवरी, 1824 को युद्ध की घोषणा कर दी।

3.5.1.1 युद्ध का प्रारम्भ और प्रमुख घटनाएँ

युद्ध की प्रमुख घटनाएँ असम, अराकान और रंगून के मोर्चे पर हुई। बर्मा की भौगोलिक परिस्थितियाँ भी अंग्रेजों को कठिनाइयाँ पैदा करने वाली थी जबकि वे बर्मियों को सहायक थीं। अंग्रेजों ने दो ओर से अपनी सेनाएँ युद्ध के लिए भेजी। एक सेना स्थल मार्ग से भेजी गई जो उत्तर पूर्व से बर्मा की ओर आगे बढ़ी। दूसरी सेना समूद्री मार्ग से रंगून की ओर बढ़ी। इसका नेतृत्व मेजर जनरल आर्चीबाल्ड कैम्पबेल कर रहा था। अराकान में रामू नामक स्थान पर अंग्रेज से सेना और महाबुन्देला के बीच भीषण युद्ध हुआ यहाँ बर्मा सेनापति ने अंग्रेजी सेना को हरा दिया। दूसरी ओर अंग्रेजी सेना ने मई में रंगून को जीत लिया। इसके बाद वर्षा प्रारम्भ हो गई और अंग्रेजों का आगे का अभियान रुक गया और उनके सैनिकों में बीमारियाँ फैलने लगी। वर्षा के बाद दिसम्बर में बर्मा के राजा ने महाबुन्देला को दक्षिण में अपनी सहायता के लिए बुलाया परन्तु उसकी पराजय हुई और उसे पीछे हटना पड़ा। 1825 में अंग्रेजों ने असम पर अधिकार कर लिया और दूसरी ओर कैम्पबेल ने रंगून से आगे बढ़ना प्रारम्भ किया। बर्मा के सेनापति महाबुन्देला ने बहुत समय तक उन्हें रोके रखा, परन्तु वह अप्रैल के प्रारम्भ में युद्ध में मारा गया और बर्मा की सेना भाग खड़ी हुई। अंग्रेज सेनापति ने दक्षिणी बर्मा की राजधानी प्राम पर कब्जा कर लिया। इसके बाद कुछ समय तक युद्ध चलता रहा परन्तु संधि वार्ता भी चलती रही और 24 फरवरी, 1826 को यान्डूब की संधि हो गई।

3.5.1.2 यान्डूब की संधि

इस संधि में निम्न निर्णय लिए गए –

- इस संधि के द्वारा बर्मा ने तनासरम, अराकान, तवाय और येह तथा मर्गी अंग्रेजों को दे दिए।
- इस संधि के द्वारा मणिपुर के राज्य को स्वतंत्र मान लिया गया।
- बर्मा ने कछार, असम और जैन्तिया के राज्यों में कोई भी हस्तक्षेप न करने का वादा किया।
- दोनों राज्यों ने एक दूसरे के राज्य में राजदूत रखने की स्वीकृति दी।
- बर्मा ने युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में एक करोड़ रुपया देने का वचन भी दिया।
- इसके अलावा बर्मा और अंग्रेजों के बीच एक व्यापारिक संधि होने पर भी सहमति हुई।

इस युद्ध का वास्तविक लाभ अंग्रेजों को हुआ। बर्मा पर पूर्ण अधिकार करने का प्रारम्भ था यह युद्ध, क्योंकि इसके बाद बर्मा में अंग्रेजों को पैर जमाने का अवसर मिल गया और उत्तर पूर्वी क्षेत्र में उन्हें बहुत सी भूमि प्राप्त हो गई जिससे उन्हें बाद में आगे बढ़ने में लाभ हुआ।

3.5.2. आंग्ल–बर्मा द्वितीय युद्ध (1852)

प्रथम युद्ध के बाद हुई यान्डूब की संधि दोनों ही पक्षों को संतुष्ट नहीं कर सकी थी। इस संधि के बाद कुछ अंग्रेज व्यापारी बर्मा के दक्षिणी तट पर रहने लगे और व्यापारिक संधि के

अनुसार व्यापार करने लगे। यहाँ से व्यापार के माध्यम से इन्होंने बहुत पैसा कमाया। ये व्यापारी यहाँ से व्यापार करते थे और आराम से रहते थे, परन्तु ये अपनी सरकार से समय–समय पर यह शिकायत करते थे कि यहाँ उनके साथ बर्मा के लोग अच्छा व्यवहार नहीं करते हैं। इधर बर्मा सरकार भी इनके व्यवहार से तथा इनके द्वारा की जाने वाली चुंगी की चोरी की शिकायतों से परेशान रहती थी। इसका कारण यह था कि 1826 में हुई व्यापारिक संधि की जो शर्ते थी वे विवादास्पद थी और दोनों पक्षों के लोग इनकी व्याख्या अपने हितों के अनुकूल करते थे। इस स्थिति में अंग्रेज और बर्मा सरकार के संबंध बिगड़ने लगे। इसके अलावा यान्डूब की संधि के बाद बर्मा का राजा बदल गया। नया राजा थारावादी बना उसने यान्डूब की संधि को मानने से इंकार कर दिया और कहा कि ''अंग्रेजों ने मेरे बड़े भाई को हराया था मुझे नही।

इन व्यापारिक झगड़ों के अलावा एक और समस्या थी कि 1826 की संधि के अनुसार एक ब्रिटिश रेजीडेन्ट बर्मा में रहने लगा था। बर्मा के दरबार में ब्रिटिश रेजीडेन्ट के साथ अच्छा व्यवहार नहीं होता था। बर्मा की सरकार उसके साथ अपमानजनक व्यवहार करती थी। इसके कारण 1840 में उसे वापस बुला लिया गया था। अंग्रेजों के प्रति घृणा का माहौल सम्पूर्ण बर्मा में व्याप्त था और वे उनकी कोई परवाह नहीं करते थे। इसी बीच बर्मा सरकार ने दो अंग्रेज अधिकारियों पर कुछ आरोप लगाए और उन पर बहुत अधिक आर्थिक दण्ड लगाए। इन लोगों ने लार्ड डलहौजी से इसकी शिकायत की। डलहौजी के लिए तो यह शिकायत युद्ध के लिए बहाना थी। वास्तव में युद्ध का कारण यह घटनाएँ नहीं थी। ये तो बहाना मात्र थी। युद्ध का वास्तविक कारण तो अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति जिसके तहत बर्मा को अपने अधीन करना उनका लक्ष्य था। इसके लिए उन्हें कोई भी बहाना कार्यकारी हो सकता था।

लार्ड डलहौजी ने लैम्बर्ट को रंगून सरकार के साथ बात करने, व्यापारियों की शिकायतों को दूर करने तथा क्षतिपूर्ति की माँग करने उद्देश्य से भेजा। वह नवम्बर, 1851 में रंगून पहुँच गया। वहाँ उसने रंगून के गवर्नर पर अत्याचार करने का आरोप लगाया। इसकी शिकायत करने के लिए उसने एक पत्र बर्मा की सरकार को लिखा और साथ में एक पत्र रंगून के गवर्नर को भी लिखा। उसने दोनों पत्रों का उत्तर तीन से पाँच सप्ताह के बीच में माँगा। बर्मा के राजा ने अंग्रेजों की इन गतिविधियों से आशंकित होकर रंगून का गवर्नर बदल दिया। जब नए गवर्नर से मिलने के लिए अंग्रेज अधिकारी गए तो उनकी मुलाकात गवर्नर से नहीं हो सकी। अंग्रेज अधिकारी ने इसे अपना अपमान समझा और बर्मा की सरकार और गवर्नर से माफी माँगने की माँग की। क्षमा माँगने के अलावा उसने क्षतिपूर्ति की राशि की तुरन्त अदायगी की भी माँग की। कुछ समय बाद उसने क्षतिपूर्ति की राशि बढ़ा दी और बर्मा के एक शाही जहाज पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया। इससे दोनों के बीच युद्ध की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई। अब अंग्रेजों ने बर्मा सरकार से रंगून के गवर्नर को हटाने, क्षतिपूर्ति की राशि के रूप में 1,00,000 पौण्ड देने और बर्मा के राजा द्वारा क्षमा माँगने की शर्त रखी और इनके लिए अप्रैल 1852 तक समय दिया।

लार्ड डलहौजी ने इस बीच में युद्ध की पूरी तैयारी कर ली। बर्मा सरकार ने तय समय सीमा मे ंजब जवाब नही भेजा तो डलहौजी ने सेनापति गोडबिन के नेतृत्व में एक विशाल सेना रंगून के लिए भेजी। इस तरह द्वितीय बर्मा युद्ध प्रारम्भ हुआ।

अंग्रेज सेनापति ने रंगून, प्रोम और पेगू पर अधिकार कर लिया। इसके बाद सम्पूर्ण दक्षिणी बर्मा पर भी अंग्रेजों का अधिकार हो गया। इसके बाद डलहौजी ने 20 दिसम्बर, 1852 को एक घोषणा द्वारा पेगू को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया। पेगू को अंग्रेजी साम्राज्य में मिलाने का अर्थ था कि सम्पूर्ण निचला बर्मा ब्रिटिश साम्राज्य में शामिल हो गया। यह विलय बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। पेगू के विलय का सबसे बड़ा लाभ यह हुआ की अब बंगाल की खाड़ी का सम्पूर्ण तट अंग्रेजी साम्राज्य के अधीन हो गया। अब अंग्रेज मलय प्रायः द्वीप से कन्याकुमारी तक

के उपजाऊ क्षेत्र के स्वामी हो गये थे। इससे एक फायदा यह भी हुआ कि समुद्री रास्ते से अमेरिका और फ्रांस के बर्मा तक आने का भय समाप्त हो गया। इसके अलावा बर्मा के चावल और चाय के क्षेत्रों पर भी अंग्रेजों का एकक्षत्र राज्य हो गया।

इस तरह डलहौजी की साम्राज्यवादी नीति के तहत बर्मा पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। यह युद्ध एकदम अनुचित था, परन्तु डलहौजी के लिए विस्तार ही महत्वपूर्ण था। इसके लिए उचित अनुचित कोई प्रश्न नहीं था।

3.5.3. तृतीय आंग्ल–बर्मा युद्ध (1885)

द्वितीय युद्ध के बाद बर्मा का शासक मिण्डन बना। इसके समय में यद्यपि युद्ध नहीं हुआ परन्तु युद्ध के लिए परिस्थितियाँ निर्मित होने लगी थी। मिण्डन ने अपने समय में अंग्रेजों के साथ मित्रतापूर्वक संबंध बनाए रखने की भरसक कोशिश की थी। उसने बर्मा शासकों द्वारा अपनायी गई पृथकतावादी नीति को छोड़ दिया और यूरोपीय लोगों को अपने दरबार में रखना प्रारम्भ किया। उसने यूरोप के देशों में शिष्टमण्डल भेजे। उसने अपने दरबार में अंग्रेजी रेजीडेन्सी को पुनः प्रारम्भ किया और 1857 में इसका दर्जा दूसरे स्तर का कर दिया गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि मिण्डन ने अंग्रेजों से भरसक अच्छे संबंध बनाए रखने की कोशिश की, परन्तु कुछ बातों को लेकर उनके संबंधों में तनाव आने लगा था।

इसके बाद भारत के वायसराय ने बर्मा की सरकार के सामने निम्नलिखित माँगें प्रस्तुत की –

- बर्मा दरबार एक अंग्रेज प्रतिनिधि को अपने दरबार में बुलाए जो कि परंपरागत रस्में नहीं निभाएगा। उसके द्वारा निगम को विवाद सुलझाया जाए।
- जब तक अंग्रेज प्रतिनिधि वहाँ न पहुँचे तब तक निगम के खिलाफ कोई कार्यवाही न की जाए।
- बर्मा विदेशों से अपने संबंध भारत के वायसराय की सलाह से स्थापित करें।
- अंग्रेजों को चीन से व्यापार करने की पूर्ण छूट दी जाए।

लार्ड डफरिन ने माँगें भेजने के साथ ही युद्ध की तैयारियाँ कर ली थीं। जैसे ही वहाँ से जवाब आया उसने अपनी सेना को बर्मा की राजधानी मॉडले की ओर रवाना कर दिया। उधर थीबा ने भी युद्ध की घोषणा कर दी।

तृतीय युद्ध अधिक समय तक नहीं चला। लगभग 15 दिन में ही युद्ध का निर्णय हो गया। अंग्रेजी सेना अचानक ही मॉडले के पास पहुँच गई। बर्मा का राजा ब्रिटिश सेना को देखकर आश्चर्य चकित हो गया। अंग्रेजों ने आसानी से राजधानी मॉडले पर अधिकार कर लिया और 28 नवम्बर को राजा थीबा को कैद कर लिया गया। उसने बिना शर्त के आत्मसमर्पण कर दिया। इसके बाद जनवरी 1886 में उत्तरी बर्मा को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। बर्मा पर अधिकार की घोषणा जितनी सरलता से की गई थी उतनी ही कठिनाई से उस पर अधिकार किया जा सका।

• तृतीय युद्ध के परिणाम

- बर्मा के अधिग्रहण के बाद ब्रिटिश साम्राज्य के क्षेत्रफल में वृद्धि हुई।
- अंग्रेजों को व्यापारिक विकास के लिए एशिया में एक नए क्षेत्र की प्राप्ति हुई।
- अब बर्मा में फ्रांसीसियों के प्रभाव के बढ़ने की संभावना समाप्त हो गई।

3.6. फारस एवं फारस की खाड़ी

3.6.1 भारत–फारस सम्बन्ध

ईरान (फारस) से भारत के अत्यन्त प्राचीनकाल से सम्बन्ध थे। संस्कृत के अनेक शब्द प्राचीन फारस की भाषा से मिलते हैं। प्राचीन ईरान की पुस्तक अवेस्ता तथा भारतीय ग्रन्थ

ऋग्वेद से भी भारत व ईरान के मध्य सम्बन्धों पर प्रकाश पड़ता है। जातकों में भी भारत व ईरान के मध्य व्यापारिक सम्बन्धों का उल्लेख है।

3.6.1.1 ईरानी–आक्रमण

ई0पू0 छठी शताब्दी में ईरान के राजनीतिक पटल पर महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। साथ ही भारत पर कई फारसी शासकों ने आक्रमण किए। जिनमें साइरस प्रथम, केम्बीसिस, डेरियस प्रथम, क्षयार्ष आदि नाम प्रमुख है।

3.6.2. मुगलकालीन भारत–फारस सम्बन्ध

तीन शक्तिशाली साम्राज्यों (उज़बेक, फारस और तुर्की) के उदय के साथ और काबुल एवं कंदहार पर मुगलों के नियंत्रण में विस्तार के बाद किस तरह मुगल फारस और फारस की खाड़ी के राजनीतिक और कूटनीतिक संघर्षों में और भी गहरा दखल देने लगे। व्यापार के लिए सीमाओं के खुल जाने के बाद मुगल इस क्षेत्र में भारत के व्यापार को बढ़ाने में भी दिलचस्पी लेने लगे।

अभी तक कायदा रहा है कि मुगल साम्राज्य को शेष एशिया से लगभग रखकर प्रस्तुत किया जाता था। मुगलों के काल में एक सुस्पष्ट विदेश नीति के विकास से पता चलता है कि भारत में एक मजबूत केंद्रीय सत्ता की स्थापना के बाद राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्यों से फारस और फारस की खाड़ी की शक्तियों के साथ उसका संपर्क में आना स्वाभाविक था।

3.6.3 बाबर और फारस

समरकंद और खुरासान समेत उसके आसपास के क्षेत्रों से बाबर और दूसरे तैमूरी शहजादों के निष्कासन के लिए जिम्मेदार होने के कारण उज़बेक मुगलों के स्वाभाविक शत्रु थे। साथ ही उज़बेकों को सफवियों की बढ़ती शक्ति से भी टकराना पड़ा जो खुरासन के दावेदार थे।

खुरासन का पठार ईरान और मध्य एशिया को जोड़ता है तथा चीन और भारत जाने वाले मार्ग इसी से गुजरते हैं। इसलिए उज़बेकों के खिलाफ सफवियों और मुगलों का आपस में हाथ मिलाना स्वाभाविक था विशेषकर इसलिए कि कंदहार छोड़कर उनके बीच कोई सीमा–विवाद नहीं था।

''पश्चिम से अस्मानी खतरे ने फारस को मुगलों से मित्रता के लिए मजबूर कर दिया जबकि पूरब में उनका सामना एक हमलावर उजबेक शक्ति से हुआ।'' मुगलों ने फारस के खिलाफ एक त्रिपक्षीय उस्मानी–मुगल–उजबेक गठजोड़ के उजबेक प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया क्योंकि एशिया में शक्ति संतुलन बिगड़ता और उजबेक शक्ति का सामना करने के लिए वे अकेले रह जाते।

फारस के साथ गँठजोड़ मध्य एशिया से व्यापार को बढ़ावा देने में भी सहायक था।

उजबेको के हाथों फारस की करारी शिकस्त के बाद बाबर को समरकंद छोड़ना पड़ा पर शाह फारस से उसे मिली सहायता ने मुगलों और सफवियों के बीच दोस्ती की एक परंपरा कायम की।

3.6.3.1 फारस से सम्बन्ध और कंदहर का प्रश्न

फारस के खिलाफ शिया–विरोधी भावनाएँ भड़काने की उजबेक कोशिशों और सफवी शासकों की निर्मम नीतियों के प्रति मुगलों की नापसंदगी के बावजूद उजबेक शक्ति का डर सफवियों और मुगलों को साथ लाने वाला सबसे शक्तिशाली कारण था। दोनों के बीच परेशानी की अकेली जड़ कंदहार था जिस पर अधिकार के दावे रणनीतिक और आर्थिक आधारों पर भी किए जाते थे तथा भावना और प्रतिष्ठा के आधार पर भी।

3.6.3.2 जहाँगीर का कन्दहार संबंध

''कन्दहार भारत और फारस का मेरुदण्ड था।'' यह भारत का प्रवेश–द्वारा और मध्य एशिया और फारस से आने वाले आक्रमणकारियों को रोकने का प्राकृतिक युद्ध मोर्चा था।

1605 ई0 में जब अकबर की मृत्यु हुई और शाहजादा खुसरो ने विद्रोह किया। फारस के शासक शाह अब्बास ने खुरासान के सरदार को कन्दहार पर आक्रमण करने के लिए उकसाया। खुरासान के सरदारों का कन्दहार पर आक्रमण विफल रहा। शाह अब्बास ने इस विषय में पूर्ण अज्ञान प्रकट किया।

जहाँगीर की खुशामद (बहुत सारी भेंट, खुशामदी पत्र) करके उसका ध्यान कन्दहार की ओर से हटा दिया गया। 1621 ई0 में शाह अब्बास ने एक बड़ी सेना कन्दहार विजय करने के लिए भेजी।

कन्दहार को बचाने के लिए जल्दी में तैयारियाँ की गई पर कूच करने से पहले राजकुमार शाहजहाँ ने असंभव माँगे रख दी। इस कारण कन्दहार 1622 ई0 में ईरानियों के हाथों में चला गया।

3.6.3.3 शाहजहाँ का कन्दहार की प्राप्ति

कन्धार जहाँगीर के शासन–काल के समय 1622 ई0 में हाथ से निकल गया था और 1628 ई0 तक उसे पुनः प्राप्त करने के कोई प्रयत्न नहीं किया गया। उसी वर्ष शाहजहाँ ने अपना ध्यान कन्दहार की ओर किया। फारस सरकार की ओर से अलीमदीनखाँ कन्दहार का राज्यपाल था। जब अलीमदीनखाँ को मुगल सम्राट की इच्छा का पता चला तो उसने रक्षा के लिए तैयारियाँ प्रारंभ कर दी फारस के शाह से सहायता माँगी।

दुर्भाग्यवश फारस के शाह को भ्रम हो गया और उसने अलीमदीनखाँ बन्दी बनाने का प्रयत्न किया। यह बहुत अपमानजनक था। उसने कन्दहार को मुगलों को सौप कर दिल्ली में आकर शरण ली।

यद्यपि कन्दहार हाथ से निकल गया था फारसियों ने उस पर पुनः विजय की आशा कभी नही छोड़ी।

3.6.3.4 औरंगजेब के समय फारसी संबन्ध

औरंगजेब के काल में मुगल साम्राज्य शक्ति और प्रतिष्ठा के चरम शिखर पर था। यहाँ तक अभिमानी उस्मानी सुल्तान तक ने 1680 ई0 में सहायता माँगने के लिए औरंगजेब के पास एक दूत भेजा। औरंगजेब ने कंदहार के व्यर्थ के विवाद को जारी न रखने का फैसला किया और खामोशी से ईरान के साथ कूटनीतिक संबंध फिर जोड़ लिया।

लेकिन 1668 में ईरान के सुल्तान शाह अब्बास II ने मुगल दूत को अपमानित किया और औरंगजेब के खिलाफ क्षुद्र बातें की। पर कोई कारवाही हो उससे पहले शाह अब्बास चल बसा। उसके उत्तराधिकारी निकम्मे और ईरान की ओर से भारतीय सीमा के लिए सभी खतरे तब तक के लिए टल गये जब तक 50 वर्ष से अधिक समय बाद ''नादिरशाह'' नाम का एक नया शाह ईरान के तख्त पर नहीं बैठा।

3.7 नादिरशाह

नादिरशाह फारस का शासक था। उसे ''ईरान का नेपोलियन'' कहा जाता था। भारत पर नादिरशाह का आक्रमण 16 फरवरी 1739 ई0 को हुआ था। वह बहुत ही महत्वाकांक्षी चरित्र का व्यक्ति था और भारत की अपार धन–सम्पदा के कारण ही इस ओर आकर्षित हुआ। मुगल सेना के साथ हुए नादिरशाह के युद्ध को ''करनाल का युद्ध'' कहते है।

3.7.1 करनाल का युद्ध

24 फरवरी 1739 ई0 को नादिरशाह और मुहम्मदशाह के मध्य लड़ा गया। नादिरशाह के आक्रमण से भयभीत होकर मुहम्मदशाह 80 हजार सेना लेकर 'निजामुलमुल्क', 'कमरुद्दीन' तथा खान–ए–दौराँ' के साथ आक्रमणकारी का मुकाबला करने के लिए चल पड़ा था। शीघ्र ही अवध का नवाब सआदत खाँ भी उससे आ मिला। करनाल युद्ध तीन घण्टे तक चला था।

इस युद्ध में खान–ए–दौराँ लड़ते हुए मारा गया, जबकि सआदत खाँ बन्दी बना लिया गया। इस दौरान निजामुलमुल्क ने शान्ति की भूमि निभाई। ''निजामुलमुल्क'' को सम्राट मुहम्मद शाह ने 'मीर बक्शी' नियुक्त किया। सआदत खाँ इस पद से वंचित हो गया तो उसने नादिरशाह को धन का लालच लेकर दिल्ली पर आक्रमण करने का कहा।

नादिरशाह ने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया तथा 20 मार्च 1739 ई0 को दिल्ली पहुँचा। दिल्ली में उसके नाम का ''खुतबा'' (प्रशंसात्मक रचना) पढ़ा गया तथा सिक्के जारी किए गए। सैनिक की हत्या की अफवाह के कारण नादिरशाह ने दिल्ली में कत्लेआम को आदेश दे दिया। दिल्ली को खूब लूटा उसने 'बादशाह खाँ' से 20 करोड़ रुपये की माँग की। माँग पूरी न कर पाने के कारण बादशाह ने विष खाकर आत्महत्या कर ली। नादिरशाह 57 दिन तक दिल्ली रहा और वापस जाते समय अपार धन तथा ''कोहिनूर हीरा'' भी ले गया। मुगल सम्राट ने पुत्री का विवाह नादिरशाह के पुत्र ''नासिरुल्लाह मिर्जा'' से कर दिया। कश्मीर तथा सिन्धु घाटी के पश्चिम प्रदेश, थट्टा और अधीनस्थ बंदरगाह भी उसे दे दिए गये।

3.7.2. ब्रिटिश नीति

रूस का उद्देश्य मध्य एशिया में विस्तार करना था लेकिन उसका एक उद्देश्य यह भी था कि फारस पर रूसी प्रभाव स्थापित किया जाये। 1811 में जार ने फारस पर आक्रमण किया। इस समय तेहरान की संधि (1809) के अनुसार इंग्लैण्ड ने शाह की सहायता नहीं की क्योंकि उसे यूरोप में नेपोलियन के विरुद्ध जार की सहायता की आवश्यकता थी। पराजित होकर फारस ने 1813 में रूस के साथ संधि की जिसके अनुसार उसे केस्पियन सागर के तटवर्ती प्रदेश रूस को देने पड़े।

1814 के बाद इंग्लैण्ड की नीति रूसी विस्तार को रोकना हो गयी थी। अतः फारस को रूस के प्रभाव से मुक्त रखने के लिए इंग्लैण्ड ने 1814 में तेहरान की संधि की जिसमें उसने वायदा किया कि रूस के आक्रमण होने की दशा में वह या तो सैनिक भेजेगा या धन देगा। इसके बदले में शाह ने वचन दिया कि वह अफगानों को भारत पर आक्रमण करने से रोकेगा लेकिन 1826 में भी इंग्लैण्ड ने अपना वचन पूरा नहीं किया जब रूस ने फारस पर आक्रमण किया। इसका कारण यह था कि यूरोप में मेटरनिख की चतुर्मुखी संधि का यूरोप में प्रभाव था और इस संधि का रूस सदस्य था। इंग्लैण्ड इस गुट से झगड़ा नहीं कर सकता था। इसका परिणाम यह हुआ कि शाह इंग्लैण्ड से भरोसा उठ गया। 1828 मे तुर्कमंचाई संधि करके फारस ने रूस को इरीवान और तर्बारज का क्षेत्र दे दिया।

रूस और फारस के मध्य तुर्कमंचाई की संधि (1828) से इंग्लैण्ड में घबड़ाहट फैल गयी। इंग्लैण्ड के राजनीतिज्ञों का कहना था कि संधि से उनके भारतीय राज्य के लिए गम्भीर संकट उत्पन्न हो गया है। इस आसन्न रूसी संकट का सामना किस प्रकार किया इस समस्या पर इंग्लैण्ड में विचार आरम्भ हुआ। इंग्लैण्ड के राजनीतिज्ञों का विचार था कि अगर हेरात पर फारस का अधिकार हो गया तो भारत पर आक्रमण के लिए मार्ग खुल जायेगा। उन्होंने यह भी देखा कि काबुल का शासक दोस्त मुहम्मद हेरात की रक्षा के लिए कोई प्रयत्न नहीं कर रहा था।

ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का विचार था कि अगर उन दरों पर कब्जा कर लिया जाये जिनसे होकर पहले भारत पर आक्रमण होते रहे थे तो भारतीय राज्य की रक्षा की जा सकती थी। अतः

''वैज्ञानिक सीमा'' की अवधारणा का विकास हुआ। यह भी विचार किया कि अगर अफगानिस्तान में अंग्रेजों का मित्र शासक हो तो उस ओर से रूसी आक्रमण की आशंका को समाप्त किया जा सकता था।

3.7.3. फारस की खाड़ी

कर्जन के काल में फ्रान्स, रूस, जर्मनी, फारस की खाड़ी में युद्ध के आधार प्राप्त करना चाहते थे लेकिन कर्जन की सतर्क नीति के कारण वे इसमें सफल नहीं हो सके।

भारत की सुरक्षा के लिए ब्रिटिश नीति आरम्भ से यह थी कि अदन से सिन्ध तक समस्त तट ब्रिटिश के नियन्त्रण में रहे। यद्यपि यह सुमद्र तट उन देशों की सार्वभौमिक सत्ता के अन्तर्गत था; किन्तु वास्तविक नियन्त्रण अंग्रेजों के पास था। इसी नीति के अन्तर्गत ब्रिटिश नीति थी इस समस्त तट पर ब्रिटिश विरोधी किसी देश को कोई अड्डा न बनाने दिया जाये। 1858 में ओमान के सुल्तान ने मस्कट के समीप जिस्सेह बन्दरगाह में फ्रांस को कोलिंग स्टेशन का अधिकार दे दिया। कर्जन ने सुल्तान पर दबाव डाला और इसे रद्द करवा दिया। 1900 में रूस ने फारस के बन्दर अब्बास में कोयले का स्टेशन बनाने का प्रयत्न किया, कर्जन ने इस प्रयत्न को भी सफल नहीं होने दिया। 1899 में कुवैत के शेख से समझौता किया गया कि वह किसी अन्य देश को कोई रियायत न दे। 1900 में शेख ने जर्मनी को बर्लिन–बगदाद रेलवे के लिए स्थान देना अस्वीकार कर दिया। इन सब गतिविधियों को देख कर 1903 में ब्रिटिश विदेश मन्त्री को यह चेतावनी देनी पड़ी कि फारस की खाड़ी में किसी देश को किलेबन्दी नहीं करने दी जायेगी। 1903 में कर्जन ने फारस की खाड़ी के देशों का भ्रमण किया तथा इंग्लैण्ड की शक्ति का प्रदर्शन भी किया।

3.8. सारांश

इस इकाई में हमने देखा कि अंग्रेजों ने किस प्रकार तिब्बत, नेपाल, बर्मा पर अपना अधिकार स्थापित करने और अपने व्यापार का प्रसार करने तथा भारतीय साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए फारस एवं फारस की खाड़ी पर भी अपनी दक–दत्ता बनाये रखने की कोशिश की। उपरोक्त पड़ोसी राष्ट्रों पर अपना नियंत्रण स्थापित करके अंग्रेजों ने अपने भारतीय साम्राज्य तथा व्यापारिक भागों को सुरक्षित किया। कुछ मामलातों में अंग्रेजों ने स्वयं को दुस्साहसिक कूटनीति एवं युद्ध में उलझाया। इन सभी गतिविधियों पर भारतीय कोष से रुपया खर्च किया गया। और भारत को काफी जन एवं धन की भी हानि हुई।

3.9 संदर्भ ग्रंथ

(1) बी. डी. महाजन – आधुनिक भारत का इतिहास
(2) वी. एल. ग्रोवर – आधुनिक भारत का इतिहास
(3) डॉ. संजीव जैन – आधुनिक भारत का आर्थिक एवं राजनैतिक इतिहास
(4) डॉ. एस. आर. वर्मा – भारत का इतिहास
(5) डॉ. ए. के. मित्तल – आधुनिक भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास
(6) आर. एल. शुक्ल – आधुनिक भारत का इतिहास
(7) हरीश कुमार खत्री – आधुनिक भारत का इतिहास
(8) पी. एल. गौतम – आधुनिक भारत
(9) एल. पी. शर्मा – आधुनिक भारत
(10) सूमित सरकार – आधुनिक भारत
(11) पुखराज जैन – स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास
(12) इग्नू – पाठ्य पुस्तिका

3.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

(1) भारत–तिब्बत संबंधों पर एक निबन्ध लिखिए।
(2) भारत–नेपाल संबंधों पर एक निबन्ध लिखिए।
(3) भारत–बर्मा संबंधों की विवेचना करें।
(4) भारत–फारस संबंधों की विवेचना करें।

ब्लॉक चार

इकाई एक: भारत पर ब्रिटिश शासन का आर्थिक प्रभाव

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 ब्रिटिश शासन का भारत पर प्रभाव: एक विमर्श

1.3.1 क्या ब्रिटिश राज भारतीयों के भले के लिए था: ब्रिटिश पक्ष

1.8.2 क्या ब्रिटिश राज भारतीयों के भले के लिए था: भारतीय पक्ष

1.8.2.1 ड्रेन ऑफ़ वेल्थ

1.8.2.2 विऔद्योगीकरण

1.4 ईस्ट इंडिया कंपनी और ब्रिटिश क्राउन: औपनिवेशिक शोषण का कुचक्र

1.4.1 कृषि अर्थव्यवस्था पर औपनिवेशिक शासन का दुष्प्रभाव

1.4.2 परम्परागत उद्योग धंधों का विनाश और विऔद्योगीकरण

1.4.3 शहरी और ग्रामीण जनता: बदलता जनसंख्या अनुपात

1.4.4 यातायात और संचार क्षेत्र पर प्रभाव

1.5 भारतीय पूँजीपति वर्ग का विकास: औपनिवेशिक आधिपत्य को चुनौती

1.6 औपनिवेशिक शोषण का राजनीतिक ढ़ांचा

1.7 सारांश

1.8संदर्भ ग्रंथ सूची

1.9सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

उपनिवेशवाद का मूल चरित्र ही गुलाम अर्थव्यवस्था का शोषण होता है. गुलाम बनाने वाला देश गुलाम बने देश के संसाधनों को अपने आर्थिक फायदे के लिए इस्तेमाल कर लेता है. भारत में ब्रिटिश राज इस मामले में शायद दुनिया का सबसे उपयुक्त उदाहरण है. लगभग 200 साल लम्बे औपनिवेशिक राज ने भारतीय अर्थव्यवस्था को पूरी तरह खोखला कर दिया था. अपने औपनिवेशिक हितों की पूर्ति के लिए ब्रिटिश राज ने भारत के परंपरागत आर्थिक ढाँचे का विनाश कर दिया था. उसकी जगह एक जिस व्यवस्था ने ली वो किसी भी प्रकार से भारतीय लोगों के भले के लिए तैयार नहीं की गयी थी. शिक्षा और क़ानून हो या फिर आर्थिक प्रावधान— सबका उद्देश्य भारत में ब्रिटिश राज की पकड़ को और मजबूत बनाना था. भले ही इनमें से कुछ जैसे रेलवे आज लाभप्रद प्रतीत होते हों, मूल रूप से उन्होंने भारत के औपनिवेशिक शोषण को ही सुगम बनाया. इस तरह इन सभी परिवर्तनों ने भारतीय समाज के भीतर और भी जटिल अंतर्विरोधों को जन्म दिया.

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको भारत में औपनिवेशिक शोषण के विभिन्न आयामों से अवगत कराना है. 1757 में प्लासी और फिर 1764 के बक्सर युद्ध से शुरू हुयी भारत के उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया ने धीरे-धीरे भारतीय उपमहाद्वीप के बड़े भूभाग को अपने कब्जे में ले लिया और फिर एक समेकित दृष्टि से भारतीय अर्थव्यवस्था और उसके संसाधनों का दोहन किया गया. इसी प्रक्रिया की चर्चा करना इस इकाई में अपेक्षित है.

1.3 ब्रिटिश शासन का भारत पर प्रभाव: एक विमर्श

1.3.1 क्या ब्रिटिश राज भारतीयों के भले के लिए था: ब्रिटिश पक्ष

भारतीय और साम्राज्यवादी इतिहासकारों के बीच यह हमेशा एक विवाद का विषय रहा है कि भारत पर ब्रिटिश शासन का प्रभाव सकारात्मक था या नकारात्मक. बहुतेरे पाश्चात्य विद्वानों के लिए यह भारत को राजनीतिक एकता के सूत्र में गूंथने वाला और उसे एक राजनीतिक स्थिरता प्रदान करने वाला कारक रहा. यह छद्म तर्क उनके लिए ब्रिटेन द्वारा भारत पर आधिपत्य को सही ठहराने के लिए गढ़ा जाता है. 'श्वेत व्यक्ति के भार (वाइट मैन्स बर्डन)' के तहत अंग्रेज़ जिस उद्देश्य से दुनिया को सभी बनाने निकले थे, मान लिया गया कि भारत में भी उनकी भूमिका सभ्यतागत और राजनीतिक अर्थों में भारत को देश बनाने की रही.

उनका मानना है कि भारत में अट्ठारहवीं शताब्दी के दौरान बेहद कम वाणिज्य और पूँजी उपभोग बेहद कम रहा और भारत में खेती की उत्पादकता इसलिए बेहद कम थी क्योंकि यहाँ नयी तकनीकों को खेती के भीतर उपभोग नहीं किया जाता था जिसके चलते बहुत-सी जमीन कृषि के दायरे से बाहर थी. और तीसरा कि भारत विनिर्माण के क्षेत्र में बेहद पिछड़ा हुआ था क्योंकि आधुनिक तकनीक के बारे में अनभिज्ञ था.

दरअसल, पाश्चात्य इतिहासकार खुद को यूरो-केन्द्रीयता से ऊपर नहीं उठा पाते इसलिए उन्हें ब्रिटेन सहित यूरोप के अन्य देशों की उपलब्धियाँ पूरी दुनिया के लिए सर्वमान्य लगती हैं. जैसे कि जिन देशों में अट्ठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी तक औद्योगिक क्रान्ति की दस्तक नहीं हुयी थी, वो उनके लिहाज़ से पिछड़े हुए मुल्क थे.

इस बात को कहते हुए वे इस बात को बिल्कुल नज़रन्दाज़ कर देते हैं कि जिस समय ब्रिटेन भारत को गुलाम बना रहा था, उस समय तीसरी दुनिया के देश जैसे भारत और चीन दुनिया की सबसे बड़ी और मजबूत अर्थव्यवस्थाएं माने जाते थे. एक आकलन के मुताबिक़ भारत तो जीडीपी के मामले में चीन से भी कई गुना आगे था. एंगस मेडिसन की किताब द *वर्ल्ड इकोनोमीज़* के अनुसार यह विश्व जीडीपी का लगभग 23% बैठता था.

तकनीक के आधार पर भारत की अर्थव्यवस्था को नापने का यह पैमाना यह भी भूल जाता है कि भारतीय हथकरघा उद्योग को नष्ट करने के पहले भारतीय कपड़े बिना किसी औपनिवेशिक संरचना के यूरोप के बाज़ारों तक लोकप्रिय थे. लेकिन मोरलैंड और मोरिस डी० मोरिस आदि के लिए यह किसी आधुनिक तकनीक के आधार पर नहीं बल्कि कठोर परिश्रम के बल पर उत्पादित माल था.

इन प्रवक्ताओं के अनुसार भारत पर ब्रिटिश आधिपत्य एक सकारात्मक पहलू था क्योंकि उसके पहले तक भारतीय अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीति सभी कुछ पिछड़ी हुयी और ठहरी हुयी थीं. उनके अनुसार यह ब्रिटेन का योगदान था जो भारत को एकजुट करके उसे एक जैसी प्रशासनिक संरचना के अंतर्गत ला सका; देश में यातायात के साधनों का अभूतपूर्व विकास किया और रेलवे जैसी अत्याधुनिक तकनीक को भारत में पदार्पण ब्रिटेन के बिना संभव न था. इसके अलावा सिंचाई व्यवस्था और अन्य लोकनिर्माण के कार्यों को बढ़ावा देने की वजह से कृषि के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व तरक्की देखी गयी.

1.3.2 क्या ब्रिटिश राज भारतीयों के भले के लिए था: भारतीय पक्ष

उपनिवेशवाद के शोषणकारी चरित्र को समझने और समझाने का सबसे प्रयास उन्नीसवीं सदी के मध्य से भारत में शुरू हो गया था. आरंभिक राष्ट्रवादियों जैसे दादाभाई नौरोजी, रोमेशचन्द्र दत्त, पृश्वीशचन्द्र राय आदि ने जमीनी आंकड़े इकठ्ठा करते हुए दुनिया में पहली बार उपनिवेशवाद को वैज्ञानिक ढंग से समझने का प्रयास किया. उसके बाद रजनी पाम दत्त, फिर अमिय बागची और बिपन चन्द्र आदि ने इस बहस में भारतीय पक्ष को तार्किक ढ़ंग से और मजबूती के साथ रखा.

इस सम्बन्ध में पहला सिद्धांत जिसने ब्रिटिश शासन के भले पक्ष की कलई खोली, वह था धन की निकासी का प्रसिद्ध सिद्धांत.

1.3.2.1 ड्रेन ऑफ़ वेल्थ

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इस सिद्धांत में प्रतिपादित किया गया था कि ब्रिटिश राज भारतीय अर्थव्यवस्था का एक बड़ा हिस्सा सोखकर हर वर्ष भारत से बाहर भेज देता था जिसका कोई भी लाभ भारत को नहीं मिलता था. एक तरह से यह भारत द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से ब्रिटेन को नजराना भेजने जैसा था जिसके बारे में आम भारतीय एकदम अनभिज्ञ रहते थे. इसे ही दादाभाई नौरोजी ने 1861 में अपनी किताब पावर्टी एंड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया में ड्रेन ऑफ़ वेल्थ कहा है.

यह धन भारत में तैनात ब्रिटिश अधिकारीयों के वेतन-भत्ते के रूप में, गृह-कर, युद्ध खर्चे और भारत में ब्रिटिश निवेश के मुनाफे के तौर पर बाहर जाता था. अमिय बागची की गणना के अनुसार सिर्फ़ बंगाल से ही सकल घरेलू उत्पाद का तकरीबन 3 से 4 प्रतिशत धन ब्रिटेन चला जाता था. अगर युद्ध खर्चों को भी इसमें जोड़ लिया जाए तो यह प्रतिशत 5 से 6 तक पहुँच जाता था.

इस तरह भारतीय अर्थव्यवस्था के दोहन का सबसे क्रूर आयाम यह था कि प्रति वर्ष उसका एक बड़ा हिस्सा औपनिवेशिक सत्ता द्वारा हड़पकर ख़ुद के लाभ के लिए खर्च कर दिया जाता था. इतना ही नहीं देशी महाजन तथा जमींदार में इस काम में हरगिज पीछे न थे. आज़ादी के ठीक पहले किसानों द्वारा लगान व सूद के रूप में 1 अरब 40 करोड़ रुपये प्रतिवर्ष वसूलते थे. 1934 तक तो यह रकम 18 अरब रुपये तक पहुँच गयी थी. राष्ट्रीय आय का करीब 20% जमींदारों, महाजन व् अन्य बिचौलियों द्वारा हड़प कर लिया जाता था. इनमें से नाममात्र रुपये खेती-किसानी पर खर्च किये जाने थे और बाकी सारा उनके रहन-सहन, शानो-शौकत पर खर्च होता था.

इसके अलावा सामाजिक अधिशेष जो पूँजी के रूप में निवेश किया जा सकता था वह ब्रिटिश सत्ता, उसके अधिकारियों और व्यापारियों का वेतन दिखाकर हड़प कर लिया जाता था और उसे ब्रिटेन भेज दिया जाता था. इसके बदले में किसी भी प्रकार का आर्थिक या व्यावसायिक लाभ भारत को नहीं मिलता था. आंकड़ों के अनुसार कुल राष्ट्रीय आय का 5 से 10% भाग प्रतिवर्ष बाहर भेजा जाता था. इस हालत में भारतीय अर्थव्यवस्था की तरक्की कतई असंभव थी.

1.3.2.2 विऔद्योगीकरण

दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धांत जो ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विनाशकारी चरित्र को उजागर करता है वो है विऔद्योगीकरण का सिद्धांत. इस सिद्धांत का मूल तर्क यह है कि ब्रिटेन ने भारत में परम्परागत हस्तशिल्प उद्योग का विनाश कर दिया और उसकी जगह कोई वैकल्पिक औद्योगिक ढ़ांचा खड़ा करने में रूचि नहीं दिखाई, इसलिए भारत का विऔद्योगीकरण हो गया. दुनिया का एक महत्वपूर्ण कपड़ा उद्योग ब्रिटेन के लंकाशायर और मैनचेस्टर की कपड़ा मिलों के मुनाफ़े लिए बलि चढ़ा दिया गया. जिसकी कीमत भारत को एक नहीं कई तरह से चुकानी पड़ी. भारतीय बुनकर, कारीगर, हस्तशिल्पियों सहित भारत के महत्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र जैसे ढ़ाका, सूरत, मुर्शिदाबाद आदि इस प्रक्रिया में बर्बाद हो गए. उद्योगों की ओर से बेरोजगार हुए लोगों के पास गाँवों की ओर वापस लौटने के सिवा कोई विकल्प नहीं था इसलिए भारत की शहरी आबादी में कमी और ग्रामीण आबादी में वृद्धि देखी गयी. कृषि क्षेत्र जो कि पहले ही गंभीर संकट से जूझ रहा था इस बोझ के बाद और बुरी तरह चरमराने लगा. इसकी परिणति भीषण ग़रीबी और भुखमरी में देखी गयी जिसकी वजह से ब्रिटिश शासन के दौरान करोड़ों-करोड़ भारतीय काल के गाल में समा गए.

1.4 ईस्ट इंडिया कंपनी और ब्रिटिश क्राउन: औपनिवेशिक शोषण का कुचक्र

1772 में ईस्ट इंडिया कंपनी ने सही अर्थों में बंगाल पर पूर्ण अधिकार स्थापित कर लिया था. यह एक व्यापारिक कंपनी थी जो धीरे-धीरे भारतीय राजनीतिक बँटवारे का फायदा उठाकर शासक बन बैठी. चूँकि

व्यापारिक कंपनी होने के नाते उसका मुख्य ज्यादा से ज्यादा मुनाफ़ा बटोरना था, उसने इसी उद्देश्य से काम करना शुरू किया. लेकिन उसको मिले इस मौके ने ब्रिटेन के अन्य प्रतिस्पर्धियों के भीतर ईर्ष्या पैदा की.

ब्रिटिश सरकार इन विभिन्न व्यापारिक दबाव समूहों को अनसुना नहीं कर सकती थी इसलिए उसने समझौते का रास्ता निकाला. इसमें तय किया गया कि कंपनी के भारतीय प्रशासन की बुनियादी नीतियों पर ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण रहेगा ताकि भारत पर ब्रिटिश शासन को ब्रिटेन के विभिन्न उच्च वर्गीय हितों के अनुरूप सामान रूप से हितकारी ढंग से चलाया जा सके. 1773 का रेग्युलेटिंग एक्ट इसी के नीति के तहत पास हुया और 1784 का पिट का इंडिया एक्ट भी इसी उद्देश्य से पारित किया गया था. पिट इंडिया एक्ट के अनुसार कंपनी के मसलों व भारतीय प्रशासन पर ब्रिटिश सरकार का पूरा नियंत्रण कायम हो गया.

एक बार ईस्ट इंडिया कंपनी के भारतीय उपनिवेश का ब्रिटिश सरकार के अधीन आने का सीधा सा अर्थ था कि अब भारत को ब्रिटिश उपनिवेशवादी नीतियों के अंतर्गत लाकर उसकी अर्थव्यवस्था का शोषण ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था के व्यापक हितों की दृष्टि से किया जायेगा. यह दौर था जब ब्रिटेन के भीतर औद्योगिक क्रान्ति का पहला चरण शुरू हो चुका था. लंकाशायर और मैनचेस्टर के उद्योगपतियों के साथ-साथ अब ब्रिटेन के विभिन्न व्यापारी और उद्योगपति भारत के मुनाफेदार उपनिवेश में अपना हिस्सा तलाशना चाहते थे. यह ध्यान रखना चाहिए कि गुलाम बनाये जाने तक भारत दुनिया की सबसे मजबूत अर्थव्यवस्था थी और चीन को छोड़ अन्य देश उसकी तुलना में बहुत पिछड़े थे. इसलिए भारत पर सबकी साम्राज्यवादी शक्तियों की गिद्ध दृष्टि जमी हुयी थी.

1793 के बाद लार्ड कार्नवालिस ने जिस तरह कम्पनी के बंगाल प्रशासन को स्वरुप देने की प्रक्रिया शुरू की, उसके दो मूलभूत लक्ष्य थे— एक था कंपनी के नवस्थापित उपनिवेश को सुरक्षित बनाना और दूसरा भारत पर अधिकार को कम्पनी के अलावा ब्रिटेन के प्रभावशाली तबकों के लिए अधिक से अधिक लाभप्रद बनाना.

अपने मूल स्वरुप में ईस्ट इंडिया कंपनी ब्रिटेन तथा अन्य देशों में भारतीय मालों के निर्यातक के रूप में नये बाज़ार तलाशती रहती थी. जिसके जरिये भारतीय माल का निर्यात बढ़ता था और यही वजह थी कि भारतीय राज्य इन फैक्टरियों की स्थापना को न सिर्फ़ सहन कर लेते थे बल्कि उसे प्रोत्साहित भी करते थे. यह तब तक चलता रहा जब तक ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति की वजह से कपड़ा उत्पादन में अभूतपूर्व क्रान्ति नहीं हुयी थी. लेकिन उसके बाद ब्रिटिश उद्योगपति ब्रिटेन में भारतीय कपड़े की लोकप्रियता से ईर्ष्या करने लगे. यह इतना बड़ा और महत्वपूर्ण मुद्दा था कि ब्रिटिश अंग्रेजी साहित्य तक में भारतीय कपड़े के एकाधिकार की शिकायत होने लगी.

लिहाजा भारतीय माल को प्रतिबंधित करने या उसके आयात को ब्रिटेन में हतोत्साहित करने के लिए ब्रिटिश उद्योगपति सरकार पर दबाव बनाने लगे. हालाँकि 18वीं सदी के मध्य तक भारतीय वस्त्र विदेशी बाजारों में जमे रहे लेकिन तब तक नयी व विकसित प्रौद्योगिकी के आधार पर ब्रिटिश वस्त्र उद्योग को भी नए बाज़ारों की तलाश थी जिसके लिए उसके उपनिवेश सबसे स्वाभाविक बाज़ार थे.

1813 वो साल था जब समृद्ध भारतीय हस्तशिल्प को तगड़ा झटका लगा और सिर्फ़ विदेशी बाज़ार ही नहीं बल्कि खुद अपना भारतीय बाज़ार भी उनसे छीन लिया गया. इस तरह ब्रिटिश औद्योगिक क्रान्ति ने उपनिवेशवाद के चरित्र में आमूलचूल परिवर्तन कर दिए और भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटिश सरकार की दया और इच्छा के अधीन कर दिया.

इस परिघटना के बाद भारत एक तरह से ब्रिटेन का खेतिहर आर्थिक उपनिवेश बना गया और भारतीय हथकरघा दस्तकारों को ब्रिटेन की मिलों में बने माल के साथ एक असमान और अन्यायपूर्ण प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा. इस सस्ते माल का मुकाबला भारतीय दस्तकार न कर सके. ब्रिटिश राज ने विदेशी माल को भारत में प्रवेश की खुली छूट दे दी और भारतीय मालों पर ब्रिटेन में भारी आयात शुल्क लगा दिए. उदाहरण के तौर पर 1824 में भारत के मोटे सूती कपड़ों पर आयात शुल्क की दर 67.5 % तथा भारतीय मलमल पर 37.5 % थी.

कुल मिलाकर भारतीय उद्योग एक ख़ास किस्म के राजनीतिक अन्याय का शिकार होते चले गए और कालान्तर में दस्तकारों ने अपने पुश्तैनी धंधों से तौबा कर ली. उद्योग धंधों के उजड़ने का सीधा असर खेती-किसानी पर पड़ा जहाँ पहले ही मालगुजारी नीतियों ने भारतीय कृषि व्यवस्था की कमर तोड़ दी थी. इसके बावजूद अगर भारतीय अर्थव्यवस्था का कोई स्वरुप बचा भी तो तैयार औद्योगिक उत्पादन की जगह रेशम, कपास जैसे कच्चे मालों के निर्यातक-मात्र का रह गया.

1.4.1 कृषि अर्थव्यवस्था पर औपनिवेशिक शासन का दुष्प्रभाव

जब ईस्ट इंडिया कम्पनी ने बंगाल आदि क्षेत्रों पर अपना कब्जा जमाया तो कृषि उनके लिए लाभ का सबसे प्रत्यक्ष साधन था. कृषि से होने वाली राजस्व आय का दोहन करके कम्पनी अपने मुनाफे में कई गुना वृद्धि कर सकती थी. कई अन्य देशों में तो उपनिवेशवाद मूलतः कृषि आधारित ही था. स्पेन, पुर्तगाल और ब्रिटेन ने अमेरिकी महाद्वीप का आर्थिक शोषण करते हुए वहाँ गन्ना, तम्बाकू आदि उपजाए क्योंकि 15वीं-16वीं सदी के यूरोप में इन उत्पादों की जबरदस्त मांग थी.

यूरोपियन औपनिवेशिक देशों से महंगे कपडे, धातुएं और अन्य कीमती माल भरकर जहाज अफ्रीका पहुँचते थे. जहाँ इस सामान के बदले बड़ी संख्या में दासों को खरीदा जाता था. फिर दासों से भरे जहाज वहाँ से अमेरिका पहुँचते थे जहाँ दासों को इन खेतों में काम करने के लिए लगाया जाता था. फिर अमेरिका में हुयी कृषि उपज को लेकर यही मालवाहक जहाज यूरोप पहुंचते थे. यह कृषि उपज यूरोप में मनचाहे दामों पर बेचीं जाती थीं.

इस तरह, औपनिवेशिक हितों के लिए कृषि अर्थव्यवस्था का दोहन उपनिवेशवाद की एक सामान्य प्रवृत्ति थी. लेकिन भारत में स्थितियाँ और भी भयावह थीं.

सबसे पहले भारतीय कृषि को नियंत्रित करने के लिए राजस्व या काश्तकारी कानूनों में मूलभूत परिवर्तन किये गए. इस नयी औपनिवेशिक व्यवस्था के पिरामिड में अंग्रेजी राज सर्वोच्च था जिसके अधीन जमींदारों, महाजनों, व्यापारियों, बिचालियों के बाद सबसे नीचे किसान और खेत मजदूर थे. एक तरह से कृषि अर्थव्यवस्था को सामंती चरित्र प्रदान किया गया जो हर तरह से खेती और किसान के लिए हानिकारक थी.

पहली बार इस नयी व्यवस्था में जमीन की नीलामी का चलन शुरू हुआ जिसकी वजह से बड़ी तादात में जमीन काश्तकार के हाथ से निकलकर दूरस्थ मालिकों के हाथ में चली गयी. इसने बंटाईदारी प्रथा और अधीनस्थ काश्तकारी जैसे नकारात्मक तत्वों को बढ़ावा दिया.

मालगुजारी की तीनों औपनिवेशिक पद्धतियों— इस्तमरारी या स्थायी बंदोबस्त, रैयतवारी और महालवारी— का एक सामान्य उद्देश्य भारतीय कृषि से ज्यादा से ज्यादा मालगुजारी वसूल करना था. इसके लिए काश्तकारों को जमींदारों और मालगुजारों को भूस्वामी के तौर पर स्थापित कर दिया गया और काश्तकारों का दर्जा घटकर बंटाईदार मात्र का हो गया जिनकी जमीन को निर्धारित लगान न चुकाने पर कभी भी नीलाम किया जा सकता था.

दरअसल, मालगुजारी की नीतियाँ बनाते समय अंग्रेजी शासकों के मन में बिचौलियों और लगान वसूलने वाले स्थानीय शक्तिशाली वर्गों को अपना समर्थक बनाना भी बड़ा उद्देश्य था इसलिए भी काश्तकारों के हितों और सहूलियतों की पूरी तरह अनदेखी की गयी. यहाँ तक कि रैयतवारी इलाकों में जहाँ जमींदारी तबका नहीं पैदा हुआ, राज्य खुद ही जमींदार की भूमिका में आ गया. इन इलाकों में भले ही सैद्धांतिक रूप से किसानों को ही जमीन का असली मालिक मान लिया गया था लेकिन वास्तव में उनकी बढती मालगुजारी दरें और उनको चुकाने की अनिवार्यता ने किसानों को एकदम हाशिये पर धकेलने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी.

सबसे नकारात्मक पहलू यह था कि ज्यादा से ज्यादा लगान वसूलने के लिए काश्तकारी व्यवस्था को एक दमनकारी व्यवस्था में तब्दील कर दिया गया था. इस व्यवस्था में खेती का विकास करना किसी प्राथमिकता में ही नहीं था इसलिए बड़ी आसानी से किसान विरोधी कानूनों के माध्यम से इसका शोषण किया जा सका.

जमीनों की नीलामी की व्यवस्था ने समृद्ध किसानों के एक नए वर्ग को तैयार किया जो मूलतः जमींदार या महाजन होते थे. इन वर्गों का जमीन से कोई सीधा लगाव नहीं होता था और न ही ये वर्ग खेती से हुयी आय पर ही पूरी तरह निर्भर थे. दूसरी तरफ, छोटी काश्त के किसान के पास इतना पैसा नहीं था कि वो खेती की तकनीक, बीज या खाद को उन्नत बनाने का कोई प्रयास कर सके.

फिर 'सूर्यास्त क़ानून' जैसे नीलामी कानूनों ने छोटे काश्तकारों को भूमिहीनता की कगार पर खड़ा कर दिया था. यह भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था के लिए एकदम अनोखी बात थी. क्योंकि इससे पहले की सभी शासन प्रणालियों ने भूमि पर किसान के अधिकार के परंपरागत सिद्धांत को मान्यता दी थी. लेकिन कम्पनी राज के शुरूआती दिनों से ही औपनिवेशिक शोषणकर्ता लगान न चुकाने की दशा में जमीन की नीलामी के नए क़ानून को बेहद सख्ती के साथ लागू किया था.

अपनी जमीन से हाथ धोते जा रहे छोटे किसान धीरे-धीरे भूमिहीन मजदूर होते चले गए. 1871 में कुल किसान आबादी में खेतिहर मजदूरों की संख्या 13% थी. 1951 तक आते-आते यानी आज़ादी तक यह संख्या बढ़कर 28% हो गयी थी.

जमींदारियाँ नीलाम करने के डर से बाढ़ या सूखे की वजह से फसल खराब होने या फसल कम होने पर भी जमींदार पूरा लगान वसूल करने का प्रयास करता था. बेगार आदि की वजह से किसान एक तरह निर्मम शोषण और आर्थिक शोषण की दोहरी मार का शिकार होते थे.

खेती में उत्पादन की दशा यह थी कि 1901 से 1941 के बीच प्रति व्यक्ति उत्पादन में लगभग 14% की गिरावट दर्ज की गयी. जबकि प्रति व्यक्ति खाद्यान्न में तो 24% की अभूतपूर्व गिरावट आ गयी थी. यह ऐसी जटिल स्थिति थी जब औपनिवेशिक राज्य कृषि से अधिकतम राजस्व वसूलने में तो यकीन रखता था लेकिन कृषि की दिनों-दिन खराब होती हालत को सुधारने का कोई प्रोत्साहन नहीं उपलब्ध था.

इसकी वजह से छोटे किसानों और खेतिहर मजदूरों की बड़ी आबादी के लिए भूखों मरने जैसी हालत पैदा हो गयी थी. इसलिए अंग्रेजी राज के दौरान लगातार पड़ते अकाल भारतीय कृषि की दुर्दशा का सबसे बड़ा आइना बन गए. इन अकालों में आश्चर्यजनक रूप से करोड़ों किसान और उनके परिवार मौत के मुंह में समा गए.

यह समझना जरूरी है कि औपनिवेशिक शासन भारतीय कृषि के साथ क्या अपेक्षा रखता था. उसकी पहली प्राथमिकता अंग्रेजी राज्य के लिए अधिकतम राजस्व जुटाना था जिसके लिए उसने बड़ी कठोरता और निष्ठुरता से जमींदारों और किसानों का दोहन करने की नीति अपनाई. दूसरी प्राथमिकता यह थी कि अंतर्राष्ट्रीय मांग के हिसाब से भारतीय किसानों को वाणिज्यिक खेती करने के लिए मजबूर किया जाए. यानी भारत को कृषि संबंधी कच्चे माल का निर्यातक बनाकर ब्रिटेन अफीम, नील और कपास नकदी आदि फसलों से लाभ कमाता था.

इसलिए पूरे देश में यातायात साधनों का विकास किया गया ताकि दूरदराज के गाँवों से कच्चा माल बंदरगाहों बंदरगाहों तक निर्यात करने के लिए पहुंचाया जा सके. बदले में ब्रिटेन में शुरू हुयी औद्योगिक क्रान्ति से बहुत बड़ी तादात में उत्पादित हुए कपड़े भारतीय बाज़ारों में खपाए गए.

अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार से जुड़ने पर भारतीय कृषि को भी निश्चित तौर पर नयी तकनीक और संरचना का लाभ मिलना चाहिए था. लेकिन ऐसा करने में ब्रिटिश राज की कोई रूचि नहीं थी. इसलिए भारतीय कृषि पुरानी तौर-तरीकों पर ही निर्भर रही और 18वीं सदी में जो नयी खोजें हो रही थीं और तकनीक के क्षेत्र में जो उल्लेखनीय परिवर्तन हो रहे थे भारतीय कृषि उससे बिलकुल अछूती रही.

एक इकलौता ऐसा क्षेत्र सिंचाई का था जिसके लिए बाकायदा एक अलग विभाग बनाया गया. इसके पीछे सबसे बड़ी वजह यह थी कि बना सिंचाई सुविधा के मानसूनी जलवायु में खेती की शुरुआत करना भी असंभव था इसलिए इस व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाये रखना जरूरी था. इसके अलावा पहले से ही

भारतीय शासकों ने सिंचाई की एक गहन व्यवस्था का निर्माण कर रखा था इसलिए इस पर कोई बड़ा राजस्व खर्च करने की जरूरत भी नहीं थी.

1.4.2 परम्परागत उद्योग धंधों का विनाश और विऔद्योगीकरण

ध्यान रखिये कि जिस समय अंग्रेजी राज भारत पर अपना शिकंजा मजबूत कर रहा था लगभग उसी समय ब्रिटेन में एक नयी क्रान्ति जन्म ले रही थी जिसे हम औद्योगिक क्रान्ति कहते हैं. औद्योगिक क्रान्ति का अर्थ है उद्योग के पुराने ढांचे का विनाश और उसकी जगह पूँजी आधारित बड़े उद्योगों का आरम्भ. इसके पहले भारत के अलावा यूरोप के भीतर भी उद्योगों का सामान्य अर्थ घरेलू या हथकरघा आदि छोटे उद्योगों से था. लेकिन औद्योगिक क्रान्ति के बाद अचानक बहुत बड़े स्तर पर मशीन आधारित उत्पादन ने उद्योग और बाज़ार दोनों के मायनों को नया आयाम दे दिया.

फैक्ट्री आधारित उत्पादन से उत्पादन की मात्रा में बहुत ज्यादा उछाल आया और इसीलिए इस उत्पादन को खपाने के लिए नए बाज़ारों की जरूरत पड़ी. उपनिवेशवाद की शुरुआत ही नए-नए क्षेत्रों के संसाधनों और बाज़ार पर कब्जे से ही हुयी थी. औद्योगिक क्रान्ति की शुरुआत के बाद संसाधनों पर यही कब्जा बाज़ार को भी हथियाने के काम आया.

उपनिवेशों के भीतर इस माल को खपाने के लिए जरूरी था कि वहां के स्थानीय उद्योग-धंधों की लन्दन और मेनचेस्टर की मिलों के हितों के लिए बलि चढ़ा दिया जाए. इस तर्ज पर भारतीय उद्योग धंधों का विनाश ब्रिटेन के औपनिवेशिक हितों के लिए जरूरी था. सोची-समझी नीति से भारतीय हथकरघा और शिल्पकला जैसे उद्योगों को हतोत्साहित किया गया और बड़ी संख्या में इन कामों में लगे लोग बेरोजगार होते चले गए.

इसकी सबसे बड़ी वजह थी कि अब कोई भारतीय सरकार अपने उद्योग-धंधों को संरक्षण देने के लिए मौजूद न थी बल्कि एक विदेशी सरकार अपने उत्पादों से भारतीय बाज़ारों को भर देने की नीयत से भारतीय उद्योगों से शत्रुवत व्यवहार कर रही थी.

हालांकि 19वीं सदी के मध्य में कुछ भारतीय उद्योगों में आधुनिकीकरण के चिन्ह दिखाई दिए लेकिन निश्चित ही यह सरकारी नीयत के विरुद्ध ही हो सका. साथ ही ब्रिटेन और फिर यूरोप के बाकी हिस्सों की तुलना में कहें तो यह नगण्य ही कहा जा सकता है. पहले यह जूट तथा चाय के बागानों में दिखाई दिया लेकिन 1930 आते-आते यह चीनी, सीमेंट और कागज़ उद्योगों तक भी इस आधुनिकीकरण का विस्तार हुया.

हालांकि यह निश्चित तौर से भारतीय पूंजीपतियों के अपने प्रयासों का नतीजा था जिन्होनें अपने उद्यम से ब्रिटिश राज की अनिच्छा के बावजूद ऐसा करने में सफलता प्राप्त की. यह भी महत्वपूर्ण है कि भारतीय पूंजीपति वर्ग को संरक्षण अंग्रेजी सरकार ने नहीं बल्कि उसके खिलाफ विकसित हो रहे स्वाधीनता संघर्ष से हासिल हुआ.

यही वजह थी कि भारतीय पूंजीपति वर्ग भारतीय स्वाधीनता संग्राम के साथ जुड़ सका. नेहरु तथा सुभाष चन्द्र बोस आदि स्वाधीनता संघर्ष के कई नेताओं का भी यही मानना था कि भारतीय राष्ट्र की उन्नति के लिए एक

सशक्त राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग का खड़ा होना बहुत जरूरी है जो भारत पर ब्रिटिश पूंजीपतियों के वर्चस्व को चुनौती दे सके.

प्राथमिक अथवा भारी उद्योग भी भारतीय पूंजीपति द्वारा ही शुरू किये गए. अंग्रेजी राज ने भारत के हथकरघा उद्योग को चौपट करके जिस विऔद्योगिकीकरण की प्रक्रिया को जन्म दिया उसने उद्योग धंधों में एक भारी रिक्ति पैदा कर दिया. इसीलिए आज़ादी के पहले तक भी सकल राष्ट्रीय आय में उद्योगों का योगदान सिर्फ 7.5% ही था. भारी उद्योगों पर कोई ध्यान नहीं देने की वजह से ही 1950 तक भारत अपनी जरूरत की तकरीबन 90% मशीनों का विदेशों से आयात करने को मजबूर था.

इस्पात जैसे बुनियादी उद्योग की शुरुआत भारत में टाटा ने बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में की थी. लेकिन निजी भारतीय पूँजी से बहुत छोटे स्तर पर किये जा रहे इस्पात उत्पादन से देश का आर्थिक ढांचा खड़ा नहीं किया जा सकता था. 1950 में भारत प्रति वर्ष सिर्फ 10 लाख टन इस्पात का उत्पादन करने में सक्षम था. वहीं एक अन्य बुनियादी उद्योग कोयला खनन उद्योग में सिर्फ 3 करोड़ 28 लाख टन उत्पादन संभव था.

विऔद्योगीकरण को सिद्ध करने का एक पैमाना रोजगार भी है. यानी किसी ख़ास समय में कितने लोग उद्योग धंधों से अपना रोजगार हासिल करते थे, यह उद्योग-धंधों के स्वास्थ्य का पैमाना है. 1950 तक 35 करोड़ से ऊपर की आबादी वाले देश में महज़ 20 लाख 30 हजार लोग ही उद्योग धंधों से जुड़कर अपना पेट पाल रहे थे.

यही वजह है कि भारतीय अर्थव्यवस्था एक गहरे द्वैध से जूझ रही थे. परंपरागत उद्योग के चौपट हो जाने से कृषि कर्म के साथ-साथ उद्योग चलाने वाले लोगों की पूरी तरह खेती पर निर्भरता हो गयी. पेशेवर दस्तकार और मजदूर तो वापस खेती की ओर लौटने को मजबूर हुए. इससे खेती पर दबाव और बढ़ा जिसने पहले से ही गहराते जा रहे कृषि संकट को और गंभीर बना दिया.

उद्योगों और गैर-कृषि गतिविधियों में आयी इस गिरावट ने लोगों को शहरों से वापस गाँवों की ओर पलायन को अनिवार्य बना दिया. इस वजह से कृषि पर और अधिक दबाव आया जो पहले ही बुरे संकट के दौर से गुजर रही थी.

1.4.3 शहरी और ग्रामीण जनता: बदलता जनसंख्या अनुपात

भारत में ग्रामीण तथा शहरी जनसंख्या का अनुपात भी आर्थिक पिछड़ेपन के परिणामस्वरूप बदल गया. उद्योग धंधों के विनाश के कारण बड़ी संख्या में लोगों का गाँवों की और पलायन हुआ. खेती पर आश्रितों की संख्या में जबरदस्त इजाफा हुआ जिसने ग्रामीण जनसंख्या में तुलनात्मक दृष्टि से अभूतपूर्व बढ़ोत्तरी हुयी.

आंकड़े बताते हैं कि 1901 में खेती पर आश्रित लोगों की संख्या का प्रतिशत मात्र 63.7 % था वहीं यह 1941 में बढ़कर तकरीबन 70 % पहुँच गया. लगभग साधे छह प्रतिशत की यह बढ़ोत्तरी किसी ख़ास सीधी तौर पर विऔद्योगीकरण का परिणाम थी जिसमें भारत के परंपरागत उद्योग को औपनिवेशिक हितों की बलि चढ़ा दिया गया था. अगले दस सालों में यानी 1951 तक पहुँचते-पहुँचते यह प्रतिशत 82.3 तक पहुँच गया.

अगर कृषि पर बढ़ी निर्भरता के इन आंकड़ों को उद्योगों पर निर्भर जनसँख्या प्रतिशत के सामने रखें तो स्थिति और स्पष्ट हो जाती है. 1901 में उद्योग धंधों पर निर्भर लोगों की संख्या थी 1 करोड़ 3 लाख जो कि 1951 में घटकर मात्र 83 लाख रह गयी यानी तकरीबन 20 लाख लोग अपने धंधों को छोड़कर गाँवों की ओर लौटने को मजबूर हुए. जबकि यह वो समय है जब जनसंख्या में 40 % की तीव्र वृद्धि देखी गयी. गैर-कृषि क्षेत्रों में जो भी नए रोजगार के अवसर उपलब्ध थे उन पर विदेशी पूँजी और तंत्र बुरी तरह हावी था. कोयला, जूट, बैंकिंग, चाय बागान और जहाजरानी जैसे उद्योग तो पूरी तरह ब्रिटिश कंपनियों के अधीन थे.

1.4.4 यातायात और संचार क्षेत्र: औपनिवेशिक शोषण के औजार

किसी भी सत्ता को अपने अधीन समाज को गुलाम बनाये रखने के लिए दो चीजों की अनिवार्य आवश्यकता होती है— वो है यातायात साधनों और संचार व्यवस्था का विकास. इनसे न सिर्फ दूरदराज के इलाकों तक किसी भी आपातकालीन स्थिति में सेना भेजना संभव होता है बल्कि समाज के गहरे तक प्रवेश करके स्थानीय संसाधनों का दोहन करना भी आसान हो जाता है.

इसीलिए भारत में अंग्रेजी राज के दौरान यातायात और संचार ही एक ऐसा क्षेत्र था जिसमें चाहे-अनचाहे कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिले. 1940 के दशक में भारत में लगभग 65,000 मील पक्की सड़क तथा लगभग 42,000 मील रेलवे लाइन मौजूद थी. नदियों पहले से मौजूद आवागमन का रास्ता मुहैय्या कराती थीं इसलिए उनमें स्टीमर चलाये गए. सड़कों के निर्माण का पहला बड़ा प्रयास 1839 में तब शुरू हुआ जब कलकत्ता से दिल्ली तक ग्रैंड ट्रंक रोड का निर्माण आरम्भ हुआ.

दरअसल, यातायात साधनों का विकास इसलिए जरूरी था क्योंकि इसके माध्यम से देश के प्रमुख नगरों, बंदरगाहों, बाज़ारों और कच्चा माल उत्पादक क्षेत्रों को एक-दूसरे के साथ जोड़ा जा सकता था. इन साधनों के विकास से न केवल आवागमन में सुविधा हुयी बल्कि देश को प्रशासनिक और सामरिक दृष्टि से एकजुट रखने में मदद मिली.

ब्रिटेन और अमेरिका आदि देशों में रेलवे का विकास पूँजीवाद और औद्योगिक क्रान्ति के विकास का पूरक था. वहाँ कच्चे माल की आपूर्ति और औद्योगिक क्रान्ति के बाद विकसित हुयी मिलों में बने उत्पाद को दूरदराज के इलाकों तक पहुँचाने के लिए रेलवे का सहज विकास किया गया था. इन देशों में रेलवे के विकास ने सीधे तौर पर दो प्राथमिक उद्योगों—इस्पात तथा मशीन उद्योग— को बढ़ावा दिया. जिनकी बुनियाद पर ही अन्य द्वितीयक क्षेत्र उद्योग भी पल्लवित हुए थे. इसलिए वहाँ रेलवे औद्योगिक क्रांति के समान प्रभावी क्रान्ति बना.

लेकिन भारत में यह औपनिवेशिक शोषण को और गहरा व प्रभावी बनाने की दृष्टि से किया जा रहा था. इसका मुख्य उद्देश्य अंदरूनी क्षेत्रों से कच्चा माल आसानी से बंदरगाहों तक पहुंचाने में किया जाता था. भारतीय उद्योगों के विकास में यह किसी तरह सहायक नहीं था बल्कि 19वीं सदी में तो यह भारतीय उद्योगों के विनाश की कीमत पर हुआ विकास था.

इसे ऐसे समझ सकते हैं कि ब्रिटेन में रेलवे के विकास से जिस इस्पात, कपड़ा और मशीन निर्माण क्षेत्रों को फायदा हुआ, भारतीय रेलवे के विकास भी उन्हीं को लाभ पहुंचाने की दृष्टि से किया गया था. इसी दौरान भारत में आधुनिक डाक व्यवस्था और टेलीग्राम की व्यवस्था भी शुरू की गयी जो कि प्रशासनिक सूचनाओं के तीव्र आदान-प्रदान में सहायक तकनीकें थीं.

भारत में रेलवे के विस्तार के पैरोकार डलहौजी को इस काम में इसलिए इतनी रूचि थी क्योंकि रेलवे के विस्तार से ब्रिटेन के इस्पात उत्पादकों को बड़ा मुनाफ़ा मिलने वाला था. 1880 के बाद तो यह प्रक्रिया इतनी बेसब्री से पूरी की गयी कि निजी और सरकारी दोनों कंपनियों ने भारत में रेल लाइनें बिछाने का काम किया.

लोहा और कोयला उद्योग आधारभूत उद्योगों में सबसे महत्वपूर्ण उद्योग थे. ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति के दूसरे चरण की सफलता इसी बात पर निर्भर थी कि प्रथम चरण में सूती कपड़ा उद्योग से मजबूत हुए और अब लोहा तथा कोयला उद्योग में उतरे पूंजीपतियों को इस व्यापार से कितना भारी मुनाफ़ा हासिल होता है. इसीलिए भारत में रेलवे का विकास ब्रिटिश औद्योगिक क्रान्ति के लिए एक भारी मुनाफे का कारोबार था. साथ ही उसका मुख्य उद्देश्य भारतीय अर्थव्यवस्था के शोषण को और तीव्र व सुचारू बनाना था.

1.5 भारतीय पूँजीपति वर्ग का विकास: औपनिवेशिक आधिपत्य को चुनौती

औपनिवेशिक राज की सभी नीतियाँ दरअसल उसके मातृदेश के आर्थिक व सैन्य हितों को ध्यान में रखकर तय की जाती थीं जिसके पीछे ब्रिटेन के व्यापारिक वर्ग का ज़बरदस्त दबाव भी काम करता था. भारत में कृषि तथा उद्योगों को राजकीय संरक्षण प्राप्त नहीं था जबकि ख़ुद ब्रिटेन इसी राजकीय संरक्षण की नीति के बल पर अपने यहाँ औद्योगीकरण के पहले चरण को सफलतापूर्वक प्राप्त कर सका था. भारतीय उद्योगों को किसी तरह का टैरिफ संरक्षण प्रदान करने से औपनिवेशिक सत्ता से हमेशा परहेज रखा. वहीं अमेरिका और ब्रिटेन जैसे औद्योगिक देश अपने यहाँ उद्योगों को पूरी तरह राज्य का समर्थन मुहैय्या कराते थे.

हालांकि राष्ट्रीय आंदोलन के दबाव चलते 1918 के बाद यानी प्रथम विश्वयुद्ध की परिस्थितियों के दबाव में कुछ भारतीय उद्योगों को टैरिफ संरक्षण प्रदान किया गया लेकिन यह बेहद कम और लगभग बेअसर किस्म का संरक्षण था. यही वजह थी कि भारतीय अर्थव्यवस्था नेहरु के शब्दों में कहें तो कच्चे माल के आपूर्तिकर्ता के रूप में विकसित की गयी जो कि ब्रिटिश आर्थिक हितों के लिए जरूरी था. अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में टिकने लायक राजकीय मदद भारतीय पूंजीपतियों को कभी नहीं मिली और उसके लिए उन्हें आज़ादी मिलने तक इंतज़ार करना पड़ा.

20वीं सदी के शुरूआती दशकों में एक नया परिवर्तन देखने में आया. यह था भारतीय पूँजी आधारित और भारतीय स्वामित्व वाले कुछ उद्योगों का विकास. सूती कपड़ा, जूट, चीनी, जैसे बड़े उद्योगों और साथ ही साबुन, कागज़, दियासलाई जैसी छोटी सामग्रियों के उत्पादन वाले लघु उद्योगों में भारतीयों ने ब्रिटिश एकाधिकार को चुनौती देते हुए अपनी जगह बनायी.

देशी पूँजीपतियों का यह वर्ग आर्थिक रूप से स्वतंत्र था और उपनिवेशवादी पूँजीपतियों के विपरीत यह एक वृहत्तर औपनिवेशिक शोषक तंत्र का हिस्सा नहीं था. बल्कि इनके लिए तो आर्थिक नीतियों पर

उपनिवेशवादी नियन्त्रण पीछे खींचने वाली ताकत का काम करता था. चूँकि ये लोग राष्ट्रीय चेतना के साथ खुद को जुड़ा हुआ महसूस करते थे इसीलिए विदेशी पूँजी के मुकाबले देशी पूंजीपतियों के निवेश में तेजी से बढ़ोत्तरी हुयी. 1945 में द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति तक भारतीय पूँजीपतियों के नियंत्रण में बड़ी औद्योगिक इकाइयों का लगभग 60% हिस्सा आ गया था.

भारत में बड़े उद्योगों में निवेश करने के प्रति ब्रिटिश पूँजीपतियों ने कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं दिखाई थी क्योंकि उन्हें भारत में किसी तरह के द्वितीयक उद्योगों का विकास नहीं करना था. इसलिए भारी उद्योग क्षेत्र में विकास करना अपेक्षाकृत भारी पूँजी की मांग अवश्य करता था लेकिन यहाँ प्रतिस्पर्धा भी अपेक्षाकृत न के बराबर थी. छोटे उद्योगों के विकास में इस तथ्य ने बड़ी भूमिका निभायी कि अब भारतीय पूँजीपति उद्योगों के भीतर निवेश करने में दिलचस्पी रखते थे भले ही ब्रिटिश राज की ओर से उन्हें कोई सक्रिय प्रोत्साहन नहीं मिलता था.

1947 तो बैंकिंग और बीमा जैसे अत्यंत महत्वपूर्ण आर्थिक क्षेत्रों में भारतीय पूँजीपतियों ने अपना वर्चस्व जैसा कायम कर लिया था. इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि लगभग 75% बीमा क्षेत्र पर भारतीय कंपनियों का कब्जा था.

जिस तरह ब्रिटिश भारत में भारतीय पूंजीपति वर्ग का उदय और विकास होता है उसे कतई नज़रन्दाज़ नहीं किया जा सकता लेकिन इस तथ्य को भी ठुकराना मुश्किल था कि इसे किसी तरह यूरोप की तरह किसी औद्योगिक क्रांति का समतुल्य नहीं माना जा सकता. अभी भे भारतीय उद्योग तथा पूँजीवाद का विकास सीमित और कुंठित था. सबसे महत्वपूर्ण तर्क यह है कि सभी परिवर्तन औपनिवेशिक ढाँचे के भीतर और कभी-कभी तो उसके बावजूद अस्तित्व में आये थे.

इसलिए इसका श्रेय औपनिवेशिक सत्ता को नहीं बल्कि उनकी विनाशकारी और विभेदकारी आर्थिक नीतियों के खिलाफ भारतीयों के संघर्ष को जाता है. इस प्रक्रिया को बढ़ावा देने में प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध और 1930 के दशक की विश्वव्यापी आर्थिक मंदी को जाता है जिसकी वजह से ब्रिटिश सत्ता को अपनी इच्छा के विरूद्ध भारतीयों को कुछ रियायत देनी पड़ी.

1947 तक भारत के पास विज्ञान व तकनीक में प्रशिक्षित लोगों का बेहद छोटा समूह था क्योंकि ब्रिटिश उद्योगों को तकनीकी विकास के लिए भारत पर निर्भरता न के बराबर थी. यही वजह थी कि ज्यादातर उद्योगों में तकनीकी व प्रबंधकीय विभाग विदेशियों के हाथों में ही केन्द्रित थे. 1939 तक देश में केवल 7 इंजीनियरिंग कॉलेज मौजूद थे जहाँ मात्र 2214 छात्र ही अध्ययनरत थे.

1.6 औपनिवेशिक शोषण का राजनीतिक ढ़ांचा

औपनिवेशिक सत्ता मूल रूप से निरंकुश व् तानाशाही प्रवृत्ति की थी परन्तु उदारवाद के कुछ तत्व भी मौजूद थे क्योंकि कुछ भी हो यह सत्ता आखिरकार कानून-व्यवस्था पर आधारित थी जो कि अपेक्षाकृत स्वतंत्र न्याय प्रणाली पर आधारित थी. प्रशासन क़ानून के प्रति जिम्मेदार रहता था और न्यायालयों के माध्यम से क़ानून का संचालन किया जाता था.

यह प्रणाली कुछ हद तक प्रशासन की निरंकुशता पर अंकुश भी लगाती थी और नागरिकों के सामान्य अधिकारों की रक्षा भी करती थी. हालाँकि वास्तविकता यह थी कि अधिकाँश क़ानून ही दमनकारी और अपूर्ण थे, न्याय व्यवस्था बेहद महँगी और जटिल थी और इसलिए इनका मनचाहे ढंग से दुरुपयोग भी किया जाता था.

प्रशासन तथा न्यायिक संस्थानों के बीच शक्ति व् अधिकार के क्षेत्र का बँटवारा नहीं किया गया था. सिविल सेवा का एक ही सदस्य किसी भी जिले का प्रशासन भी चलाता था और जिला मजिस्ट्रेट की हैसियत से न्याय का काम भी देखता था. हालाँकि औपनिवेशिक न्याय प्रणाली प्रत्येक व्यक्ति की समानता के सिद्धांत पर आधारित थी जिसमें व्यक्ति की जाति, धर्म, वर्ग या सामाजिक हैसियत के अन्य मापदंड मायने नहीं रखते थे, लेकिन व्यावहारिक रूप से इसमें गंभीर खामियाँ थीं. साफ़ तौर पर यूरोपियों के प्रति लड़ाई के समय रंगभेद और नस्लभेद साफ़ दिखाई दिखाई देता था और उनके पक्ष में पक्षपातपूर्ण व्यवहार किया जाता था. इसके अलावा न्यायालय का काम का तरीका बेहद खर्चीला था जिससे गरीब लगभग इस प्रणाली के बाहर चले जाते थे.

इन सारी बातों के साथ यह महत्वपूर्ण है कि प्रेस की आज़ादी, साधारण मौकों पर बोलने व एकत्रित होने की आज़ादी भी सैधांतिक तौर पर मौजूद थी जिस पर समय- समय पर सरकार शिकंजा कसती रहती थी. खास तौर पर जन आन्दोलनों के समय इन अधिकारों का खुलेआम हनन किया जाता था. 1857 के बाद प्रेस और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अधिक हमले होने लगे. गौरतलब है कि नागरिक अधिकारों का हनन दमनकारी कानूनों के आधार पर किया जाता था न कि प्रशासन के मनमाने तरीके से.

1858 के बाद तक औपनिवेशिक सत्ता द्वारा थोड़ी बहुत संवैधानिक व आर्थिक रियायतें जारी रखी गयीं लेकिन मूलभूत राजनीतिक शक्तियां अपने हाथों में ही नियंत्रित रखीं. भारतीयों के प्रतिनिधिमूलक राजसत्ता के विचार का विदेशी शासकों और राजनेताओं ने सदैव खंडन किया जिसके पीछे तर्क गढ़ा गया कि भारत में जनवाद उचित नहीं है और यहाँ निरंकुश शासन व्यवस्था ही कारगर होगी. राष्ट्रीय आन्दोलन को कमजोर करने के उद्देश्य से इसके कुछ नेताओं को अपने पक्ष में करने का प्रयास भी किया गया लेकिन अंग्रेज इस चाल में कामयाब न हो सके.

दूसरी तरफ भारतीयों के लगातार दबाव के चलते औपनिवेशिक सत्ता को चुनाव तथा विधान मंडलों की उनकी मांगों को केंद्र व प्रदेश दोनों स्तरों पर मानने के लिए बाध्य होना पड़ा. हालांकि मताधिकार का दायरा बेहद संकीर्ण था. 1919 के बाद तक केवल 3% भारतीयों को ही वोट डालने का अधिकार प्राप्त हुआ और 1935 के बाद भी यह बढ़कर मात्र 13% ही पहुँचा था.

औपनिवेशिक सत्ता ने जितने बड़े स्तर पर भारत का प्रशासनिक व् राजनीतिक एकीकरण किया जो इससे पहले कोई और सत्ता न कर सकी थी. मुग़ल शासन प्रणाली को आधार बनाकर एक क़ानून व्यवस्था बनाई गयी जिसने संयुक्त प्रशासनिक शक्ति का निर्माण किया. एक समरूप शिक्षा पद्धति पूरे देश में लागू हुयी जिसने

भारतीय बुद्धिजीवी समुदाय का सृजन करने में निर्णायक भूमिका निभाई. यही समुदाय समाज को समझने व् विचार करने की दृष्टि देने में सहायक बना.

इस प्रकार कहें तो संयुक्त अर्थव्यवस्था और आधुनिक संचार प्रणाली की पृष्ठभूमि में उपनिवेशवाद ने राष्ट्र के रूप में भारत के निर्माण की आधारशिला रखी. यह एकीकरण उपनिवेशवाद की मजबूरी थी क्योंकि इतने बड़े क्षेत्र पर मुट्ठी भर लोगों के साथ शासन कर पाना बिना एकीकरण के असंभव था. लेकिन अपने ही द्वारा निर्मित इस एकता से बाद में वे खुद ही डरने लगे और इस एकीकरण एक ठीक विपरीत प्रक्रिया आरंभ कर दी.

यही से साम्राज्यवादी सिद्धांत 'फूट डालो, राज करो' की नीति एक तहत भारतीय जनता को आपस में लड़ाने का काम शुरू हो गया. जाति के खिलाफ जाति, प्रांत के खिलाफ़ प्रांत, वर्ग के खिलाफ वर्ग, धर्म के खिलाफ धर्म और रजवाड़ों और जमींदारों को एक दूसरे के खिलाफ खड़ा किया जाने लगा. भारत की जिस भिन्नता पर नाज़ किया जाता था उसी को हथियार बनाकर लोगों के बीच दूरी पैदा की गयी और अंततः भारत छोड़ने से पहले वे देश के दो टुकड़े कराने में कामयाब हो गए.

भारत पर अंग्रेजी तंत्र आधुनिक अफसर प्रणाली के तहत काम करता था जिसकी कमान उच्च वेतनभोक्ता इंडियन सिविल सर्विसेज के सदस्यों के हाथों में थी. 1918 में भारतीय दबावों के चलते भारतीयों को इसमें प्रवेश मिलना शुरू हुआ और 1947 तक सिविल सेवा के 48% सदस्य भारतीय हो गए. हालाँकि नीतिगत मामलों में असल नियंत्रण अंग्रेजों के ही हाथों में रहा.

इसके अलावा इस क्षेत्र में कार्यरत भारतीय वास्तव में अंग्रेजों के एजेंट के रूप में ही काम करते थे. इस व्यवस्था ने एक ईमानदार, कर्तव्यनिष्ठ और पूर्ण समर्पण वाली नागरिक सेवा की परंपरा विकसित की. धीरे-धीरे इसमें बदलाव होता गया और इन प्रशासकों ने समाज में अपना अलग दायरा निर्धारित कर लिया जो की सामाजिक, आर्थिक व् राजनीतिक तौर पर बेहद दकियानूसी था.

उच्च प्राश्निक क्षेत्र भले ही ईमानदार रहा हो लेकिन निचले स्तर पर भ्रष्टाचार जमकर फलफूल रहा था. लोकनिर्माण व् सिंचाई विभाग, राजकीय सेवा आपूर्ति व् पुलिस आदि विभागों में भ्रष्टाचार आम बात थी. द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान यह भ्रष्टाचार और कालाबाजारी प्रशासन के भीतर तेजी से घर कर गयी. आयकर व् आबकारी करों में भारी बढ़ोत्तरी की गयी जिसने लोगों में करों की चोरी की प्रवृत्ति पैदा कर दी. प्रशासन भ्रष्ट हो गया और समानान्तर स्तर पर भ्रष्टाचार की काली अर्थव्यवस्था स्थापित होती चली गयी.

अंग्रेजों का सैन्य बल इसी का उदाहरण प्रस्तुत करता है. अंग्रेजी राज को भारत में स्थापित करने में सेना मजबूत स्तम्भ के रूप में कार्यरत रही. अंग्रेजों ने सेना को पूरी तरह से आम जनता व् ख़ास तौर से राष्ट्रीय आन्दोलन से काट कर रखने का प्रयास किया. राष्ट्रवादी अखबार, पत्रिकाएँ और एनी प्रकाशनों को सैनिकों तक जाने से रोका ज्जाता था. इसका परिणाम यह हुआ कि सेना अंत तक पूरी तरह से अराजनीतिक बनी रही और औपनिवेशिक सत्ता के निर्देशों के तहत ही अनुशासित ढंग से काम करती रही. वहीं दूसरी तरफ अंग्रेजों की शिक्षा नीति ने भी शिस्खित वर्गों व आम जनता के बीच बड़ी खाई पैदा क्र दी. हालाँकि इसी शिक्षित

बुद्धिजीवी वर्ग ने उपनिवेशवाद के विरुद्ध सोचने की चेतना पैदा की. राष्ट्रीय आन्दोलन ने इस खाई को पाटने की कोशिशों में कुछ हद तक सफलता प्राप्त की थी.

19वीं सदी के अंत तक शिक्षा अर्थव्यवस्था व् संस्कृति के विकास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू बना गया था. लेकिन आमजन के लिए शिक्षा एक द्वार बंद रहे और 1951 में भारत की लगभग 84% जनता निरक्षर थी और महिलाओं की दशा तो और भी ज्यादा खराब थी जिनके बीच निरक्षरों की संख्या 92% थी.

भारत से वसूले गए राजस्व का एक बड़ा भाग सेना, प्रशासन और क़ानून-व्यवस्था बनाये रखने पर खर्च होता था. 1890 के बाद के बर्षों में केंद्र की कुल आमदनी का 50% सैनिकों पर खर्च होता था. 1947-8 के दौरान यह प्रतिशत 47% रहा. इसके साथ-साथ भारतीय कर ढांचा भी अन्त्याधिक असमानतापूर्ण था. गरीब किसानों पर करों का भारी बोझ था वहीं धनी जमींदारों, उच्च आय वर्ग के अफसरों, व्यापारियों पर शायद ही कोई कर लगाया गया था. 1946-7 के दौरान आयकर अदा करने वाले लोगों की संख्या मात्र 3,60,000 थी जबकि किसानों व गरीबों से नमक जैसी वस्तुओं के लिए भी कर वसूला जाता था. 20वीं सदी में आकर राष्ट्रीय तथा कृषक आन्दोलनों के दबाव में आकर ब्रितानी सरकार नमक और एनी लगाणों की दर में कुछ कटौती करनी पड़ी. आंकड़ों के अनुसार 1900-1901 तक कुल राजस्व का 53% भाग मालगुजारी व् 16% नमक कर से प्राप्त होता था.

किसी भी अर्थव्यवस्था का विकास उसमें होने वाले पूँजीनिवेश पर निर्भर करता है. साथ ही उस पूँजी का चरित्र यह तय करता है कि वो देश की अर्थव्यवस्था में सकारात्मक या नकारात्मक कैसा प्रभाव उत्पन्न करेगा. दूसरा महत्वपूर्ण कारक अर्थव्यवस्था में बचत तथा उसके उपयोग का अनुपात होता है.

इस प्रकार 1914 से 1946 के बीच के आँकड़े देखें तो पता चलता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था में कुल बचत सकल राष्ट्रीय उत्पाद का मात्र 2.75% थी जो 1971 से 75 यानी आज़ादी के तकरीबन 25 सालों में ही बढ़कर 12.35% हो गयी थी. यानी गुलाम भारत में बचत का अनुपात इतना कम था कि अर्थव्यवस्था हमेशा ढहने के कगार पर खड़ी रहती थी.

परिणामस्वरूप 191-6 के दौरान सकल पूँजी निर्माण सकल राष्ट्रीय उत्पाद का मात्र 6.75% ही हुआ वहीं 1971 से 75 के दौर में यह 20.14% प्रतिशत तक पहुँच गया. 1914 से 46 के दौरान पूँजी निर्माण के निम्नतम स्तर में भी उद्योगों का हिस्सा कुल भाग का 1.78 % था जो कि 1971 से 75 के समय बढ़कर 6.33 % तक बढ़ गया.

1.7 सारांश

ब्रिटिश राज की आर्थिक-सामाजिक नीतियों का सबसे भीषण दुष्प्रभाव सामान्य भारतीयों के जनजीवन और स्वास्थ्य पर पड़ा. भीषण आर्थिक शोषण, कृषि की बदहाली, विऔद्योगीकरण आदि के चलते भयंकर गरीबी आयी और एक के बाद एक आये कई अकालों और महामारियों में करोड़ों लोग काल के गाल में समा गए. इनमें 1943 का बंगाल अकाल सबसे भीषण और कुख्यात था जिसमें लगभग 30 लाख लोग मौत के घाट उतर गए.

आर्थिक नीतियों की वजह से उपजी गरीबी और भुखमरी और खाद्यान्न वितरण की खामियों के अलावा स्वास्थ्य सुविधाओं का घोर अभाव इतनी बड़ी तादात में हुयी मौतों की एक बड़ी वजह रही. 1943 तक देश में सिर्फ 10 मेडिकल कॉलेज थे जहाँ से प्रतिवर्ष मात्र 700 डॉक्टर्स पढ़कर निकलते थे. 27 मेडिकल स्कूलों में प्रतिवर्ष 7,000 स्वास्थ्य कर्मचारी तैयार किये जाते थे जिनमें से अधिकांश शहरी क्षेत्रों में ही अपनी सेवाएं देते थे.

1951 यानी आज़ादी के चार साल बाद के आंकड़ों के हिसाब से देश भर में डॉक्टरों की संख्या 18,000 मात्र थी. कुल 1915 अस्पतालों में बिस्तरों की संख्या 1,16,731 थी. देश में मात्र 6,589 डिस्पेंसरी थीं जहां कुल 7,072 बिस्तर थे. शहरों में सफाई और जलनिकासी व्यवस्था सिविल लाइंस तक सीमित थी जहाँ अंग्रेज और अंग्रेजी व्यवस्था से जुड़े अधिकारी रहते थे. बाकी जगहों पर गंदगी और पानी के जमावड़े का बुरा हाल था जिसकी वजह से किसी भी आपदा के समय महामारी का फैलना भी एक बड़ी चुनौती बन जाता था. खासतौर पर अकालों की श्रृंखला के दौरान महामारियों का फैलना एकदाम सामान्य बात थी.

इस तरह, औपनिवेशिक राज के अधीन दुनिया की सबसे बड़ी और मजबूत अर्थव्यवस्था—भारतीय अर्थव्यवस्था— का औपनिवेशिक हितों के लिए अंधाधुंध शोषण किया गया जिससे कि उसका परंपरागत ढांचा टूट गया. कोई भी हितकारी राज्य इसकी जगह नए वैकल्पिक ढाँचे का निर्माण करके अपने लोगों के लिए रोजगार और उत्पादन के नए रास्ते खोलता लेकिन ब्रिटिश राज तो एक शोषक पम्प की तरह भारतीय अर्थव्यवस्था के कंकाल पर खड़ा दुनिया का सबसे ताकतवर साम्राज्य बनने के उद्देश्य से संचालित था. हालांकि इस ढहती हुयी अर्थव्यवस्था में 1930-1940 के दशक में कुछ जान देखने में आयी और लगा कि कुछ सकारात्मक बदलाव आने वाले हैं. लेकिन इसकी वजहें ब्रिटिश राज की नीतियों में नहीं कुछ तो अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में छिपी थीं और कुछ भारतीय पूंजीपतियों के अपने प्रयासों में.

1.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

-1ईश् .रीधरन2011 ,ओरियंट ब्लैकस्वॉन :नई दिल्ली ,एक पाठ्यपुस्तक :लेख–इतिहास ,

-2बिपिन चन्द्र1998 ,हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय :दिल्ली ,भारत का स्वतंत्रता संघर्ष ,

-3सुमित सरकार2002 ,राजकमल प्रकाशन :नई दिल्ली ,1947-1885 :आधुनिक भारत ,

-4द्विजेन्द्रनारायण झाग्रंथ :दिल्ली ,सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की पड़ताल :प्राचीन भारत , 2000 ,शिल्पी

* David Rechards: 'On the Principles of Political Economy and Taxation', John Murray, London, 1817.

* James Mill:'The History of British India', Cradock and joy, Baldwin, London, (first edition), 1818.

* Ramkrishna Mukherjee:'The Dynamics of a Rural Society : A study of the Economic Structure in Bengal Village', Akademic – Verlag, Berlin, 1957.
* Ranajit Guha :'A Rule of Property for Bingal : an essay on the idea of permanent settlement', Mouton & Co.,Paris, 1963, New edition Duke University Press.
*Robert Eric Frykenberg:'Land control and Social Structure in Indian History,' Madison, 1969, New Delhi 1978 Madison: University of Wisconsin Press, 1969.'Land Control and Social structure in Indian History'Manohar, New Delhi, 1978.
*Rajat and Ratna Ray:'Dynamics of Continuity in Rural Bengal under the British Emporium : A Study of Quasi-Stable Equilibrium in Underdeveloped Societies in a Changing world', Indian Economic & Social History Review, New Delhi, April, 1973.
* Dharma Kumar:'Land ownership and inequality in Madras Presidency', IESHR, 12(2), New Delhi, 1975.
* David Arnold:'Police, Power Colonial Rule in Madrass', (1859-1947),Oxford University Press, New Delhi, 1986.

1.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

-1सब्यासाची भट्टाचार्य" ,कोलोनियल हिस्टोरियोग्राफ़ीएपरोचेज़ एंड ,संपादक ,सब्यासाची भट्टाचार्य "
19-यूनिट ,6-ब्लॉक ,03-एम एच आई ,इगनू ,1-थीम्स इन इंडियन हिस्टोरियोग्राफ़ीमेंइंदिरा :नई दिल्ली , गॉधी नेशनल ओपन यूनीवर्सिटी2005 ,

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. ब्रिटिश शासनकाल में कृषि के वाणिज्यीकरण का आलोचनात्मक परीक्षण करें**?**

2. ब्रिटिश औपनीवेशिक भारत में ऋणग्रस्तता के कारण एवं प्रभाव का मूल्यांकन करें**?**

3. ब्रिटिश शासनकाल में अंग्रेजों की अकाल नीति की समीक्षा करें**?**

ब्लॉक चार

इकाई दो:स्वतन्त्र भारत: देशी रियासतों का विलय

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 परिचय व पृष्ठभूमि

2.4 रियासतों का विलय क्यों अनिवार्य था?

2.5 रियासतों के विलय की प्रक्रिया?

2.6 रियासतों के विलय का प्रथम चरण

2.6.1 जूनागढ़

2.6.2 कश्मीर

2.6.3 कश्मीर विवाद और नेहरु

2.6.4 हैदराबाद

2.7 रियासतों के विलय का दूसरा चरण

2.8 अंतिम चरण और गोवा का विलय

2.9 विलय की तीन नीतियाँ

2.10 सारांश

2.11 सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

2.12 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

भारत को मिली स्वतंत्रता के पश्चात जो तात्कालिक समस्या सबसे जटिल बनकर उभरी थी, वह थी- देशी रियासतों के विलय की चुनौती. यह कोई आसान काम नहीं था. इनके पीछे एक लंबा इतिहास और उसकी प्रक्रियाएँ काम कर रही थीं. अपने लिए वफ़ादार भारतीय सहयोगी तलाशने के क्रम में ब्रिटिश सरकार ने देसी रियासतों को राजनीतिक संरक्षण दे रखा था. इसलिए भारतीय उपमहाद्वीप के भीतर दो तरह के राज्य काम कर रहे थे. पहला, ब्रिटिश क्राउन के अधीन अंग्रेज़ी साम्राज्य और दूसरा ब्रिटिश रेजिडेंट्स की निगरानी में देशी रजवाड़ों के राज्य.

जब स्वतंत्रता की घोषणा हुयी तो सिर्फ़ ब्रिटिश राज के अधीन इलाका ही भारतीय राज्य में शामिल था. रियासतों के लिए ढुलमुल नीति के बाद अंततः उनको भारतीय या पाकिस्तानी गणराज्य में विलय अनिवार्य कर दिया गया था. भारतीय सीमाक्षेत्र में जहाँ-तहाँ फ़ैली तमाम रियासतों को भारतीय राज्य में मिलाने का जटिल काम स्वतंत्र भारत की सरकार ने अपने हाथ में लिया और उसे बखूबी अंजाम तक पहुँचाया. ख़ास बात यह थी कि इसमें से कई रियासतों के लिए अलग-अलग रणनीति बनानी पड़ीं. अंततः महज़ दो सालों के अंतराल में ही पाँच सौ से ज्यादा रियासतों का भारतीय राज्य में सफलतापूर्वक विलय कर दिया गया.

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व देशी रजवाड़ो के स्वरुप एवं स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात देशी रजवाड़ों के भारतीय राज्य में एकीकरण की प्रक्रिया को समझाना है? साथ ही रियासतों के विलय की प्रक्रिया में सरकार एवं उनके सहयोगी मंत्रिमंडल की भूमिकाओं को सामने लाना भी इस इकाई का उद्देश्य है.

2.3 परिचय व पृष्ठभूमि

ब्रिटिश काल में पूरा भारत दो स्पष्ट हिस्सों में बंटा हुआ था. एक था ब्रिटिश भारत जो अंग्रेजों के प्रत्यक्ष नियंत्रण में था. दूसरा हिस्सा सैकड़ों छोटी-बड़ी देशी रियासतों में बंटा हुआ था जो कुल भारतीय उपमहाद्वीप का तकरीबन 40 प्रतिशत था. यह रियासतें कहने को ब्रिटिश भारत से भिन्न थीं, लेकिन अपरोक्ष रूप से ब्रिटिश राज के लिए सुरक्षा कवच का काम करती थीं.

1857 के महाविद्रोह के समय इनमें से कई रियासतों ने अंग्रेजी साम्राज्य का साथ दिया था. इसलिए ब्रिटिश नीति-नियंता उनको अपने प्रति वफ़ादार राज्यों के तौर पर संरक्षण प्रदान करते थे. जब 15 अगस्त 1947 भारत औपचारिक तौर पर स्वतंत्र हुआ तो उसके सामने सबसे बड़ी चुनौती इन्हीं सैकड़ों रियासतों का एक संगठित राजनीतिक इकाई—भारतीय राष्ट्र— में विलय करना था.

भारतीय स्वतंत्रता अपने साथ भारत का दो पृथक राष्ट्रों, भारत और पाकिस्तान, में विभाजन भी लेकर आयी. आज़ादी और विभाजन के द्वैध के बीच इन रियासतों को लेकर तीन तरह की संभावनाएं खुली हुई थीं. पहली यह कि उनका भारतीय राज्य में विलय हो जाता. दूसरी संभावना थी कि वे स्वयं को पाकिस्तान राज्य में शामिल करने का निर्णय लेतीं. तीसरा रास्ता यह था कि इन दोनों संभावनाओं के विपरीत वो अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बनाए रखने का प्रयास करतीं.

भारतीय नजरिये से देखें तो अधिकतर देसी रियासतों ने उभरते हुए भारतीय राष्ट्र के साथ विलय के विकल्प को चुनना बेहतर समझा. उनमें से अधिकतर की भौगोलिक परिस्थिति ऐसी थी कि वे चारों ओर से भारतीय राज्य से घिरे हुए थे. ऐसी हालत में एक स्वतंत्र राज्य के रूप में उनका टिके रह पाना संदिग्ध था, यह वे समझ चुके थे. इसके

अलावा नवोदित भारतीय राज्य की ताकत के सामने उनकी कोई बिसात नहीं थी. बाकी बची कुछ रियासतों ने अंतिम दो विकल्पों को आजमाने का प्रयास किया जिनमें हैदराबाद, कश्मीर और जूनागढ़ का नाम प्रमुख है.

2.4 रियासतों का विलय क्यों अनिवार्य था?

आज़ाद भारत के सामने रियासतों के विलय की समस्या इतनी महत्वपूर्ण क्यों थी? विशाल भारतीय उपमहाद्वीप में घुन की तरह फैली इन रियासतों की वजह से भारतीय राज्य की सीमाओं का निर्धारण और उनका संरक्षण एक असंभव चुनौती थी. अंग्रेजों के हटते ही ज्यादातर रियासतों ने स्वतंत्र रहने के सपने देखने शुरू कर दिए थे. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने लम्बे समय तक रजवाड़ों में किसी भी प्रकार के दखल से खुद को अलग रखा. लेकिन 1938 के बाद से उसने प्रत्यक्ष रूप से प्रजा मंडल आन्दोलनों को न सिर्फ़ बढ़ावा दिया बल्कि उसे शेष भारत के आन्दोलन से जोड़ने की कोशिश भी की. देशी रियासतों के भीतर राजतंत्र पहले की तरह ही स्थापित था और वहाँ की जनता अधिकतर लोकतान्त्रिक अधिकारों से वंचित थी.

कुछ रियासतों जैसे बडौदा और मैसूर आदि ने कुछ क्षेत्रों जैसे शिक्षा आदि पर ध्यान दिया था लेकिन वहाँ भी प्रतिनिधित्व की कोई गुंजाइश मौजूद नहीं थी. अगर भारत को एक शक्तिशाली राष्ट्र-राज्य के रूप में दुनिया के नक़्शे पर उभरना था तो वो अपने भौगोलिक क्षेत्र के भीतर एक विशाल आबादी को अलोकतांत्रिक शासकों के अधीन छोड़ना अहितकर था.

इसके अतिरिक्त अर्थव्यवस्था और व्यापार-वाणिज्य के नजरिये से भी भारतीय उपमहाद्वीप का इतने सारे हिस्सों में बंटा होना नुकसानदायक था. फिर भारत अपने समुद्रतट के काफी बड़े हिस्से भी वंचित रह जाता जो कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार-वाणिज्य की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण थे. इन रियासतों में मौजूद प्राकृतिक एवं खनिज संसाधनों पर भारत का कोई हक़ नहीं होता. पहले ही कई महत्वपूर्ण इलाके पाकिस्तान में चले जाने से कमजोर हुयी भारतीय अर्थव्यवस्था को निश्चित ही भारी नुकसान का सामना करना पड़ता.

ये रियासतें जिस तरह भारतीय उपमहाद्वीप में बिखरी हुयी थीं, भारत की आंतरिक सुरक्षा की दृष्टि से ख़तरा बन सकती थीं. फिर इनकी विदेश नीति और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में उनका झुकाव भारत के प्रति उनके व्यवहार को प्रभावित कर सकता था. कुछ रियासतें जैसे हैदराबाद आदि का पाकिस्तान के प्रति झुकाव भारत के लिए सदैव एक चुनौती बना रहने वाला था.

स्वतंत्र बने रहने की स्थिति में उनके भविष्य के बारे में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता था. ब्रिटिश प्रधानमंत्री क्लीमेंट एटली ने 20 फरवरी 1947 की अपनी घोषणा के बाद रजवाड़ों के शासकों का मनोबल बहुत ऊँचा हुआ और उन्हें लगा कि दो विशाल देशों— भारत और पाकिस्तान— के बीच वो अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने में कामयाब हो जायेंगे. यही वजह थी कि कई रियासतों ने 15 अगस्त 1947 को ब्रिटिश शासन के समाप्त होते ही स्वयं भी स्वतंत्र होने का दावा किया.

पाकिस्तान के जनक मोहम्मद अली जिन्ना भी चाहते थे कि भारत इस तरह की आंतरिक चुनौतियों से घिरा रहे. 18 जून 1947 को उन्होनें घोषणा की कि पैरामाउंटसी की समाप्ति के बाद सभी रियासतें स्वतंत्र और प्रभुसत्तासंपन्न राज्य के तौर पर मान्यता प्राप्त करेंगी. इसके अलावा वे स्वतंत्र रहने के विकल्प का चुनाव भी कर सकती थीं. जाहिर है इसका ज्यादा नुकसान भारतीय राज्य को भुगतना पड़ता क्योंकि ज्यादातर बड़ी रियासतें उसके अपने भूभाग के भीतर पड़ती थीं.

हालांकि बाद में ब्रिटिश सरकार एशिया के भीतर अपने संभावित सहयोगी के तौर पर भारत को देखने लगी तो उसने सैद्धांतिक रूप से भारत को छोटे-छोटे टुकड़ों में तोड़ने की नीति से पल्ला झाड़ लिया. भारतीय स्वाधीनता अधिनियम पर अपने भाषण में एटली ने अपनी पुरानी नीति को उलटते हुए कहा कि उन्हें आशा है कि सभी रियासतें कुछ समय में ब्रिटिश राष्ट्रमंडल या अन्य भारतीय राज्यों के भीतर अपना उचित स्थान तलाश लेंगी.

निश्चित रूप से भारतीय राष्ट्रवादी ऐसे भारत के लिए तैयार नहीं थे जो बुरी तरह छिद्रित हो. जहाँ सैकड़ों छोटी-बड़ी रियासतें भारतीय राज्य की स्वतंत्रता और संप्रभुता को ख़तरा पहुंचाएं. फिर ब्रिटिश भारत में चलने वाले भारतीय स्वाधीनता संघर्ष की आँच रजवाड़ों की जनता पर भी पड़ी थी और उनके भीतर भी स्वतन्त्रता और लोकतंत्र की भावना बलवती हो गयी थी.

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने लम्बे समय तक रजवाड़ों के आंतरिक मामलों से दूरी बनाये रखी. उनका अनुमान था कि ऐसा न करने पर राजे-राजवाड़े खुलकर अपनी जनता की आकांक्षाओं का दमन करने लगेंगे. हालाँकि 19वीं सदी के चौथे दशक से इस नीति में भारी बदलाव आये थे और भारतीय स्वाधीनता संघर्ष व रजवाड़ों के भीतर के आन्दोलन के बीच गहरे अंतर्संबंध विकसित हुए थे.

इन वजहों से भारतीय और रजवाड़ों के जननेताओं ने शुरुआत से ही रियासतों की स्वतन्त्रता के दावे को ठुकरा दिया. उन्होंने बार-बार इस बात पर जोर दिया की देशी रजवाड़ों के सामने भारत में शामिल होने के अलावा और कोई विकल्प न दिया जाए. उनका मानना था कि राजनीतिक सत्ता पर अधिकार राजा का नहीं बल्कि जनता का होता और इसलिए देशी रियासतों की जनता भारतीय राष्ट्र का अभिन्न अंग है. इस आत्मविश्वास की वजह थी कि रियासतों की जनता प्रजा समितियों के नेतृत्व में स्वयं रजवाड़ों के विरुद्ध आंदोलित और संगठित थी और उसकी स्पष्ट सहानुभूति भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के साथ थी.

रियासतों के विलय का जो प्रभाव स्वतंत्र भारत पर पड़ा उसे हम रियासतों की जनता के लोकतंत्रीकरण के रूप में भी देख सकते हैं. भारत के लिए यह प्रभाव भविष्य की दिशा में एक सार्थक महत्व रखता है. यदि ऐसा न हो पाता तो भारत टुकड़े-टुकड़े में बंट जाता और आज यह विश्व का एक एकीकृत राष्ट्र न होता. इस भूभाग पर रहने वाले आज के भारतीय कभी भी भारत के नागरिक होते, वे संभवतः अपनी रियासतों या राज्य के निवासी होते. कहने का मतलब यह है कि रियासतों के सफलतापूर्ण विलय ने सम्पूर्ण भारत को एक राष्ट्रीय इकाई में के रूप में स्थापित कर दिया था.

पंडित जवाहर लाल नेहरु एवं वल्लभ भाई पटेल दोनों के इस विलयकरण में मुख्य भूमिका रही थी. दोनों ने इस सफलता के प्रति हर्ष(ख़ुशी) व्यक्त करते हुए अपनी अलग अलग प्रतिक्रिया दी थीं. नेहरु ने कहा था— "यदि कोई व्यक्ति मुझसे छ: माह पूर्व यह पूछता कि अगले छ: महीने में क्या होगा? तो मै यह नही कह सकता था कि अगले छ: महीने में शीघ्र ही ऐसे परिवर्तन होंगे." इसी प्रकार पटेल ने भी अपने शब्दों में व्यक्त करते हुए कहा था कि "भारत की भौगोलिक, राजनैतिक और आर्थिक एकता का आदर्श जो शताब्दियों तक दूर का स्वप्न रहा और स्वतंत्रता के बाद भी वैसा ही दूर और कठिनता से प्राप्त होने वाला प्रतीक हो रहा था, वह अब पूर्ण रूप से प्राप्त हो गया है."

इस प्रकार रियासतों का सम्पूर्ण विलय भारतीय उपमहाद्वीप में लोकतंत्र के फलने-फूलने में बहुत सहायक सिद्ध हुआ. लोकतांत्रिक संस्थाओं के निर्माण और संविधान निर्माण में भी इसने ठोस पृष्ठभूमि का निर्माण किया. नेहरु ने सितम्बर 1948 ई. में ही कहा था— "इस बाहरी एकीकरण से अधिक महत्व की बात यह है कि आंतरिक एकीकरण हुआ है. अर्थात राज्यों में लोकतंत्र का विकास हुआ है."

2.5 कैसे हुआ रियासतों का विलय?

इस दिशा में शुरूआती सफलता तब मिली जब अप्रैल 1947 की संविधान सभा में शामिल होकर कुछ रियासतों ने औपचारिक रूप से भारतीय राज्य में विलय की घोषणा कर दी. हालाँकि ज्यादातर रियासतों ने या तो इससे अलग रहने का निश्चय किया या सही समय के आकलन का. यहाँ तक कि त्रावणकोर, भोपाल और हैदराबाद जैसे रियासतों के राजाओं ने तो सार्वजनिक तौर पर अपने लिए स्वतंत्र रहने की दलीलें पेश करनी शुरू कर दीं.

ऐसे में भारत सरकार के उपप्रधानमंत्री और गृह मंत्री सरदार वल्लभभाई पटेल की अगुवाई और वी०पी० मेनन जैसे दक्ष वार्ताकारों की मदद से देशी रियासतों के भारत में विलय की गंभीर सरकारी पहल शुरू हुयी. 27 जून 1947 को भारत सरकार ने इस काम के लिए सरदार पटेल की अध्यक्षता में बाकायदा रियासत विभाग का गठन किया और वी०पी० मेनन को इसका सचिव बनाया गया.

सरदार पटेल इन रियासतों के मंसूबों की वजह से नवोदित भारतीय राष्ट्र की एकता के सामने खतरे से पूरी तरह वाकिफ थे. इस काम की शुरुआत उन्होंने उन राजाओं से अपील के साथ की जिसकी रियासतें भारतीय सीमाक्षेत्र के अन्दर चारों ओर से घिरी हुयी थीं. सरदार पटेल ने कहा कि इन रियासतों के राजा तीन केन्द्रीय विषयों— विदेश, सेना और संचार— के मामले भारतीय संघ को सौंप दें. उन्होंने इस अपील के साथ धमकी भरे अंदाज़ में कहा कि अगर इन रियासतों के राजाओं ने ऐसा नहीं किया तो वे उनकी रियासतों में अनियांत्रित होते जा रहे जनांदोलनों को काबू करने में किसी प्रकार की सहायता नहीं करेंगे. साथ ही यह भी जोड़ा कि अगर अभी इस प्रस्ताव को नहीं स्वीकार किया गया तो 15 अगस्त के बाद यह शर्तें और भी कड़ी हो जायेंगी.

यह तुरुप का पत्ता था. रियासतों में तेजी से लोकप्रिय हो रहे जन आन्दोलनों, कांग्रेस के कठोर रुख और सरदार पटेल द्वारा दिखाई जाने वाली दृढ़ता के चलते अनेक राजाओं ने इस अपील को तुरंत स्वीकार कर लिया.

2.5 रियासतों के विलय का प्रथम चरण

15 अगस्त के पहले तक ही लगभग सभी रजवाड़ों ने भारत में शामिल होने का निर्णय ले लिया सिर्फ़ तीन को छोड़कर. इन तीन रियासतों में दो अपने आकार में बहुत विशाल थीं और भारतीय राज्य के एकीकरण के प्रयासों के लिए कठिन परीक्षा प्रस्तुत करने वाली थीं. इसलिए इन तीनों रियासतों के विलय की प्रक्रिया और परिस्थिति के बारे में हम अलग से चर्चा करेंगे.

2.6.1 जूनागढ़

जूनागढ़ सौराष्ट्र के तट पर स्थित छोटी सी रियासत थी. इस रियासत की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि यह चारों ओर भारत से घिरी हुयी होने के कारण उस पर बुरी तरह निर्भर थी. भौगोलिक रूप से पाकिस्तान के साथ विलय की कोई भी संभावना बहुत दिन नहीं टिकने वाली थी. बावजूद इसके जूनागढ़ के नवाब ने 15 अगस्त 1947 को अपने राज्य का विलय पाकिस्तान के साथ करने का निर्णय ले लिया.

जूनागढ़ का नवाब सांप्रदायिक मुस्लिम था और उसे भारत के साथ रहने के बजाय पाकिस्तान के साथ रहने में अपना ज्यादा हित दिखाई दिया. चूंकि जिन्ना और मुस्लिम लीग के सबसे बड़े समर्थक जमींदार और मुस्लिम रजवाड़े थे इसलिए नवाब जूनागढ़ का झुकाव उनकी तरफ़ स्वाभाविक था और अंततः उन्होंने सितम्बर 1947 ई. को पाकिस्तान में सम्मलित होने की घोषणा भी कर दी. जबकि राज्य की जनता अधिकांशतः हिन्दू थी और वो भारत में विलय की जोरदार ढंग से मांग कर रही थी.

धीरे धीरे राज्य के नागरिको ने अपने नबाब के निर्णय का विरोध किया और एक 'स्वतंत्र अस्थाई हुकूमत' की स्थापना कर ली. मजबूर होकर नबाब पाकिस्तान भाग गया, जिसके बाद जूनागढ़ के दीवान शाहनवाज भुट्टो ने 8 नवम्बर,1947 को जूनागढ़ के भारत में विलय से सम्बन्धित एक पत्र भारत सरकार को लिखा. भुट्टो की प्रार्थना भारत सरकार ने स्वीकार कर ली और 9 नवम्बर 1947 को जूनागढ़ का प्रशासन अपने हाथ में ले ली.

राष्ट्रवादी भारतीय नेता शुरुआत से ही जनता की राय को राजे-रजवाड़ों से ज्यादा तवज्जो देते थे. इस लिहाज से नेहरु और पटेल दोनों ने यह माना कि जूनागढ़ के पेचीदा मामले का समाधान तलाशते हुए निर्णायक स्वर वहाँ की जनता का ही माना जाना चाहिए. इस मान्यता के तहत उन्होनें माना कि जूनागढ़ के भविष्य का निर्णय जनमत संग्रह द्वारा किया जाना चाहिए.

लेकिन नवाब जूनागढ़ की पाकिस्तान में विलय की घोषणा के साथ अब तीसरे पक्ष के तौर पर पाकिस्तान भी उपस्थित था. पाकिस्तान ने भारतीय पक्ष की अवहेलना करते हुए जूनागढ़ के पाकिस्तान में विलय को स्वीकार कर लिया. लेकिन राज्य की जनता अपने भविष्य को लेकर बुरी तरह सशंकित थी और किसी भी तरह नवाब के निर्णय को मानने को तैयार नहीं थी.

पाकिस्तान के हस्तक्षेप और नवाब के निर्णय के विरुद्ध यह जनमत और संगठित हो गया और जूनागढ़ में जनता का आन्दोलन जोर पकड़ने लगा. राज्य में क़ानून-व्यवस्था की बिगड़ती स्थिति को देख नवाब घबरा गया और राज्य छोड़कर भाग खड़ा हुआ. जूनागढ़ के नवाब शाहनवाज़ भुट्टो ने भारत सरकार को ऐसी स्थिति में हस्तक्षेप करने के लिए आमंत्रित किया. परिणामस्वरूप भारतीय सेना ने जूनागढ़ में प्रवेश किया और फरवरी 1948 में उसकी देखरेख में हुए जनमत संग्रह के माध्यम से जूनागढ़ भारतीय राष्ट्र का अभिन्न अंग बन गया.

2.6.2 कश्मीर

जूनागढ़ के विपरीत कश्मीर रियासत की हालत एकदम उलट थी. जहाँ जूनागढ़ का नवाब मुस्लिम था और बहुसंख्यक जनता हिन्दू वहीं कश्मीर का राजा हिन्दू था लेकिन वहाँ मुस्लिम आबादी बहुसंख्यक थी. कश्मीर की कुल जनसंख्या में मुस्लिमों की संख्या तकरीबन 75% थी. इसके अलावा कश्मीर जूनागढ़ से अलग ऐसी रियासत थी जिसकी सीमाएं भारत और पाकिस्तान दोनों से मिलती थीं. कश्मीर का राजा हरी सिंह भारत या पाकिस्तान में विलय न चाहकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखने को इच्छुक था. भारत से उसे लोकतांत्रिक और राजतंत्र-जमींदार विरोधी होने का भय था तो पाकिस्तान की बुनियाद जिस उग्र सांप्रदायिक आधार पर रखी गयी थी उससे उसे घबराहट होती थी.

लेकिन कश्मीर के लोकप्रिय नेता शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में वहां की जनता भारत में विलय की मांग जोरदार ढंग से कर रही थी. भारतीय नेतृत्व ने कश्मीर के मामले में भी अपनी ओर से कोई आक्रामक कदम उठाये बिना परिस्थितियों को विकसित होने देने का निश्चय किया क्योंकि यहाँ तो भारत में विलय की माँग एक लोकप्रिय नेता के द्वारा उठायी जा रही थी. इसलिए यह तय था कि जनता अपनी ओर से ही इस मामले में पहल करेगी तब भारत उसका न्यायसंगत ढंग से साथ देगा. गांधीजी ने तो 1947 में अपनी ओर से यह तक कह दिया था कि कश्मीर की जनता अपनी इच्छानुसार भारत या पाकिस्तान में विलय का निर्णय करने के लिए स्वतंत्र है.

लेकिन पाकिस्तान जनमत की अवहेलना पर तुला था और उसने जूनागढ़ और हैदराबाद के मामले में जनमत संग्रह को सिरे से नकार दिया था. यही नहीं उसने कश्मीर के मामले में आम जनता की इच्छा और निर्णय की

अवहेलना की कोशिशें भी शुरू कर दीं. इस वजह से भारत को कश्मीर विलय के मुद्दे पर अपनी नीतियों को आंशिक रूप से परिवर्तित करने पर मजबूर होना पड़ा.

22 अक्टूबर 1947 को पाकिस्तानी सैन्य अफसरों के नेतृत्व में कई पठानी कबायलियों ने कश्मीर में घुसपैठ करके उसकी सीमा का अतिक्रमण किया. राजा हरि सिंह की कमजोर सेना इनके आगे टिक न सकी और यह तेजी से कश्मीर की राजधानी श्रीनगर की ओर बढ़ने लगे. मजबूरन 24 अक्टूबर को राजा ने भारतीय सेना से मदद की गुहार की क्योंकि वो पाकिस्तान में अपनी स्थिति को लेकर बेहद असुरक्षित था.

ऐसी हालत में भारतीय नेतृत्व ने कश्मीर के राजा को औपचारिक रूप से भारत में विलय करने की अपील की क्योंकि ऐसा करने पर ही भारतीय सेना अपनी सीमा की रक्षा के तर्क से पाकिस्तानी घुसपैठ को नाकाम करने में मदद कर सकती थी. गवर्नर जनरल लार्ड माउंटबेटन ने भी स्पष्ट कर दिया था कि बगैर औपचारिक विलय के भारतीय सेना कश्मीर में प्रवेश नहीं कर सकती.

एक ओर जहाँ सरदार पटेल राजा हरि सिंह पर लगातार सशर्त सहायता का दबाव बनाये हुए थे वहीं शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में जनता की छटपटाहट बढती जा रही थी. आखिरकार 26 अक्टूबर को यानी कबायली हमले के चार दिन बाद ही राजा हरि सिंह ने शेख अब्दुल्ला को रियासत के प्रशासन का प्रमुख बनाकर कश्मीर के भारत में विलय के औपचारिक दस्तावेजों पर हस्ताक्षर कर दिए.

इसके तुरंत बाद हवाई जहाज से भारतीय सेना को कश्मीर पहुंचाने का निर्णय लिया गया. दिलचस्प है कि सेना को कश्मीर भेजने के निर्णय को गाँधीजी का समर्थन भी प्राप्त था. जब नेहरुजी और सरदार पटेल ने गाँधीजी से इस बाबत बात की तो उन्होंने कहा कि कश्मीर को शैतानों के आगे समर्पण नहीं करना चाहिए और आक्रमणकारियों को तुरंत बाहर धकेल देना चाहिए. 27 अक्टूबर को करीब 100 हवाई जहाज़ों में भरकर हथियारबंद सैनिकों को कश्मीर घाटी पहुंचा दिया गया. इस तरह भारत ने कश्मीर को लेकर पाकिस्तान द्वारा छेड़े गए छद्म युद्ध को स्वीकार कर लिया गया. सबसे पहले श्रीनगर को कब्जे से मुक्त कराया गया फिर पूरी घाटी से कबायली और छद्म पाकिस्तानी सेना को बाहर खदेड़ दिया गया. लेकिन कई हिस्सों पर पाकिस्तान का कब्जा बरकरार रहा और कई जगहों पर दोनों पक्षों में मुठभेड़ चलती रही. अभी तक पाकिस्तान यह युद्ध छद्म रूप से लड़ रहा था. लेकिन भारत के हस्तक्षेप के बाद संभावना बन गयी कि शायद पाकिस्तान खुलकर युद्ध की घोषणा कर दे.

ऐसी परिस्थिति में माउंटबेटन की सलाह पर 30 दिसंबर 1947 को भारत सरकार कश्मीर की समस्या को संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् में भेजने को तैयार हो गयी. इस अपील में आग्रह किया गया था कि सुरक्षा परिषद् पाकिस्तान द्वारा अतिक्रमित किये गए कश्मीरी हिस्सों को खाली करवाए.

2.6.3 कश्मीर विवाद और नेहरु

यह ऐसा बिंदु है जिस पर बहुत वाद-विवाद होता चला आया है. नेहरु चाहते थे कि नवोदित देशों को आपसी युद्धों से जितना संभव हो बचना होगा. क्योंकि युद्ध किसी भी देश की अर्थव्यवस्था पर भारी बोझ डालता है. नेहरु की दृष्टि के मुताबिक़ नए आज़ाद हुए देशों को पहले अपने देश के भीतरी मोर्चों जैसे गरीबी, बेरोजगारी और अशिक्षा आदि पर काम करना चाहिए. नेहरु ने बाद के वर्षों में इस काम को बखूबी अंजाम भी दिया और औपनिवेशिक शोषण से खोखले हो चुके देश को अपने पैरों पर खड़ा करने में नेहरु की केन्द्रीय भूमिका को सभी स्वीकारते हैं.

दूसरा नेहरु चाहते थे कि तीसरी दुनिया के देश द्वितीय विश्वयुद्ध के शीतयुद्ध के जमाने में आपसी टकराव के मुद्दे अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं को सौंप दें जिनका शांतिपूर्ण हल निकाला जा सके. पहले विश्वयुद्ध के बाद बने लीग ऑफ़

नेशंस की विफलता और फिर द्वितीय विश्वयुद्ध ने पूरी दुनिया के सामने यह प्रश्न प्रस्तुत कर दिया था कि कैसे दुनिया को युद्धों से मुक्त किया जा सके. नेहरु मानते थे कि तीसरी दुनिया के देशों को अमेरिका और सोवियत संघ के ध्रुवीय समीकरणों से अलग गुटनिरपेक्ष रहते हुए शान्ति और सद्भाव के लिए काम करना चाहिए. नेहरु का यह विज़न हमें बाद के दिनों में उनकी गुटनिरपेक्षता की नीति में दिखाई देता है.

यह नेहरु का आदर्शवाद ही था जिसके वशीभूत होकर वे साम्राज्यवादी देशों के मंसूबों को भांप न सके. सुरक्षा परिषद् पूर्व साम्राज्यवादी देशों के हाथों की कठपुतली बन जाएगा, यह नेहरु अनुमान नहीं लगा सके. नेहरु विदेश नीति के इस मोर्चे पर गलत आकलन को लेकर बहुत पछताए क्योंकि सुरक्षा परिषद् ने मुख्य मामले पर ध्यान देने की बजाय ब्रिटेन और अमेरिका के इशारे पर पाकिस्तान को शाह देना प्रारम्भ कर दिया.

भारत की शिकायत को दरकिनार कर "कश्मीर समस्या" को भारत और पाकिस्तान के बीच विवाद बनाकर उसे हवा दी गयी. अंततः 31 दिसंबर को दोनों पक्षों ने युद्ध विराम की घोषणा कर दी और उसके बाद यथास्थिति लागू होने से कश्मीर का एक बड़ा हिस्सा पाकिस्तान के कब्जे में रह गया.

नेहरु संयुक्त राष्ट्र की कश्मीर मुद्दे पर भूमिका से बहुत निराश हुए थे. न्याय मिलने की उम्मीद से टूटे नेहरु ने फ़रवरी 1948 को विजयलक्ष्मी पंडित को लिखे पत्र में अपनी निराशा जाहिर की:

> "मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था कि सुरक्षा परिषद् इस तरह का घटिया व पक्षपातपूर्ण व्यवहार कर सकता है जैसा कि उसने किया है. इन लोगों से दुनिया को व्यवस्थित रखने की उम्मीद की जाती है. यह बिलकुल आश्चर्य की बात नहीं है कि दुनिया टुकड़े-टुकड़े होती जा रही है. संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और ब्रिटेन ने इसमें गन्दी भूमिका निभाई है और प्रायः ब्रिटेन परदे के पीछे का सबसे बड़ा खिलाड़ी था."

1951 में संयुक्त राष्ट्र ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें पाक अधिकृत कश्मीर से पाकिस्तानी सेनाओं को हटाने के बाद संयुक्त राष्ट्र की देखरेख में जनमत संग्रह का प्रावधान किया गया. यह प्रस्ताव भी असफल ही सिद्ध हुआ क्योंकि पाकिस्तान ने आज तक पाक अधिकृत कश्मीर जिसे वो "आज़ाद कश्मीर" कहता हैं से अपनी सेना नहीं हटाई है.

दूसरी ओर भारतीय कश्मीर के बारे में पाकिस्तान का मत है कि वो भारत द्वारा जबरन गुलाम बनाया गया है. इस तर्क को पुष्ट करने के लिए ही वो अपने यहाँ न सिर्फ उग्रवादी संगठनों को अपने यहाँ पनपने का अवसर देता है बल्कि उन्हें संसाधन और प्रशिक्षण भी मुहैय्या करता रहा है. ताकि दुनिया को यह दिखाया जा सके कि कश्मीर की जनता भारत के खिलाफ स्वयं ही संघर्ष छेड़े हुए है.

ब्रिटेन और अमेरिका और अब चीन की शह पर पाकिस्तान ने इसे काफी हद तक एक अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व का मुद्दा बना दिया है. साथ ही कश्मीर पर नियंत्रण बनाये रखने के लिए भारत सरकार ने भी इसे दुनिया के कुछ सबसे घने सैन्यीकृत क्षेत्रों में तब्दील कर दिया है. दोनों ही पक्षों— आतंकवादियों और भारतीय अर्धसैनिक बलों और सैन्यबलों की ओर से मानवाधिकारों का खुलकर उल्लंघन किया जाता है.

इस तरह आज तक भारत और पाकिस्तान के आपसी संबंधों की धुरी कश्मीर ही बना हुआ है. इसकी केन्द्रीयता की वजह से दोनों मुल्कों के बीच दोस्ती और आपसी तनाव कम करने के कोई भी प्रयास लम्बे समय तक नहीं टिक पाते. दोनों ही देशों ने संभावित युद्ध और तनाव की दशा से निपटने के लिए अपने सैन्य बजट बहुत बढ़ाये हैं जिसका सीधा असर इन देशों की आम गरीब जनता को भुगतना पड़ता है.

भारत के लिए कश्मीर उसका अभिन्न अंग है क्योंकि विलय के समय कश्मीर की जनता शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में भारत के साथ थी. हालांकि बाद के दिनों में पाकिस्तान के उकसावे पर यह मुद्दा काफी जटिल होता चला गया जिस पर यहाँ चर्चा करना समीचीन नहीं है. पाकिस्तान के लिए यह एक मुस्लिम बहुल आबादी का सांप्रदायिकता के मूलभूत "द्विराष्ट्र सिद्धांत" के आधार पर बने पाकिस्तान के साथ स्वाभाविक विलय है. जबकि नेहरुजी ने एक बार कश्मीर समस्या के सम्बन्ध में कहा था कि भारत की धर्मनिरपेक्षता की असली परीक्षा कश्मीर में होगी.

2.6.4 हैदराबाद

हैदराबाद भौगोलिक आकार के हिसाब से भारत की सबसे बड़ी रियासत थी. निज़ाम हैदराबाद ने 15 अगस्त 1947 से पहले ही भारत में विलय की किसी भी संभावना से इनकार कर दिया था. पाकिस्तान के प्रोत्साहन पर निज़ाम ने न सिर्फ स्वतंत्र रियासत का दावा पेश किया बल्कि किसी भी परिस्थिति से निपटने के लिए अपनी सेना का विस्तार शुरू कर दिया. दूसरी तरफ़ सरदार पटेल ने इस मामले में जल्दबाजी न करने का फैसला किया. इसकी सबसे बड़ी वजह यह थी कि माउंटबेटन हैदराबाद के निज़ाम के साथ समझौते के लिए तत्पर था. निज़ाम हैदराबाद रियासत के पाकिस्तान में विलय के भी खिलाफ था इस लिहाज से उसने भारत में विलय के गुप्त संकेत दिए थे इसलिए बेसब्री की कोई ख़ास वजह तब तक दिखाई न देती थी. निज़ाम की ब्रिटिश सरकार की ओर से उम्मीदें तब ख़त्म हो गयीं जब ब्रिटिश पक्ष ने हैदराबाद को अलग डोमिनियन का दर्जा देने की किसी भी संभावना से इनकार कर दिया.

सरदार पटेल ने महसूस किया कि यह समय भारत के पक्ष में है. उन्होंने अपनी मंशा यह कहते हुए स्पष्ट कर दी की किसी भी ऐसे क्षेत्र को छोड़ा नहीं जाएगा जिससे कि मेहनत से तैयार किया गया भारतीय संघ नष्ट हो जाए. नवम्बर 1947 में भारत सरकार ने निज़ाम के साथ यथास्थिति बनाये रखने सम्बन्धी संधि पर हस्ताक्षर करवाने में सफलता प्राप्त की. इसमें यह भावना अन्तर्निहित थी कि जब तक संधि वार्ता चलेगी, निज़ाम भारत सरकार के प्रतिनिधि के तौर पर काम करता रहेगा और एक बार विलय की शर्तें तैयार होते ही औपचारिक विलय का काम आसान हो जाएगा.

लेकिन इस बीच कश्मीर मामले में सरकार की व्यस्तता देखकर निज़ाम का मन बदलने लगा. वो इस प्रयास में लग गया कि संधि वार्ता लम्बी खींच सके ताकि इस बीच वो अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाकर भारत पर अपनी संप्रभुता का दबाव बना सके. इस बीच राज्य के भीतर भी बहुत कुछ ऐसा घट रहा था जो हैदराबाद का राजनीतिक भविष्य तय करने में मददगार होने वाला था.

पहला कारक राज्य में उग्र मुस्लिम संगठन इतिहाद-उल-मुसलमीन का तेजी से विकास था. इस संगठन को रियासत के अधिकारियों का समर्थन प्राप्त था जिसके बल पर इसने जनता को डराना-धमकाना शुरु कर दिया. दूसरा कारक था कि 7 अगस्त 1947 को हैदराबाद रियासत कांग्रेस ने निज़ाम के शासन के खिलाफ और हैदराबाद के जनवादीकरण की माँग को लेकर आन्दोलन छेड़ दिया जो धीरे-धीरे बहुत शक्तिशाली होता चला गया. इस आन्दोलन में तकरीबन 20,000 सत्याग्रही जेल में डाल दिए गए.

रज़ाकारों और निज़ाम प्रशासन के अत्याचार से पीड़ित जनता भारतीय इलाकों की ओर पलायन करने लगी जिनको ठहराने के लिए अस्थायी कैंप लगाने पड़े. आन्दोलन के बीच ही एक धड़े ने हिंसक रुख अख्तियार कर लिया और वो जमींदारों पर हमला कर उनकी जमीनों को किसानों के बीच वितरित करने लगे.

इन अंदरूनी घटनाओं के बीच निज़ाम संधि वार्ता को लंबा खींचता रहा और सरदार पटेल की अधीरता बढ़ने लगी. जिस तरह रजाकार राज्य के भीतर जनता पर जुल्म ढा रहे थे, वो उनकी चिंता की एक और बड़ी वजह थी. 1948 में उन्होने नेहरूजी को भेजे एक पत्र में लिखा:

"मैं बहुत दृढ़ता से यह महसूस कर रहा हूँ कि अब वह समय आ गया है कि हमें यह साफ़ कर देना चाहिए कि हमें बिना किसी शर्त के विलय की स्वीकृति और एक जिम्मेदार सरकार के गठन से कम कुछ भी मंजूर नहीं है."

अभी तक निज़ाम व रजाकारों के उकसावे के बावजूद भारत सरकार ने कोई कदम नहीं उठाया था. वहीं दूसरी ओर निज़ाम भारी तादात में हथियारों के आयात में जुट गया. भारत सरकार निज़ाम के मंसूबों पर कड़ी नज़र रखे हुयी थी और रियासत की अंदरूनी परिस्थिति के मद्देनज़र अंततः सब्र का बंद टूट गया. 13 सितम्बर 1948 को भारतीय सेना हैदराबाद में प्रवेश कर गयी.

निज़ाम ने अपनी ताकत का गलत आकलन किया था और तीन दिनों के भीतर ही उसे भारत के सामने आत्मसमर्पण करने को मजबूर होना पड़ा. नवम्बर में हैदराबाद जैसी विशाल रियासत का औपचारिक रूप से भारतीय राज्य में विलय हो गया. भारत सरकार ने निजाम के प्रति किसी दुर्भावना का परिचय न देते हुए उसे भारतीय राज्य के अधीन हैदराबाद के राजप्रमुख के रूप में बहाल कर दिया.

इस प्रकार हैदराबाद के विलय के साथ ही भारतीय संघ में देशी रजवाड़ों के विलय का एक महत्वपूर्ण चरण पूरा हुआ. न केवल हैदराबाद बल्कि पूरे देश में बड़ी संख्या में मुसलामानों ने भारतीय सरकार की हैदराबाद का भारतीय संघ में विलय की कार्यवाही का समर्थन किया जिससे स्वयं निजाम और पाकिस्तान के नेता भी आश्चर्यचकित रह गए.

2.7 रियासतों के विलय का दूसरा चरण

लेकिन अभी बहुत सारी छोटी-छोटी रियासतों के विलय का काम शेष था. कई छोटी रियासतों को या तो भारतीय संघ के अंतर्गत बने राज्यों में मिला दिया गया या उन्हें आपस में मिलाकर केंद्र शासित प्रदेश का दर्जा दे दिया गया. मध्य भारत, राजस्थान, पटियाला, पूर्वी पंजाब राज्य (पेप्सू), सौराष्ट्र व त्रावणकोर-कोचीन— इन पांच नए समूहों में अनेक रियासतों को मिला दिया गया. मैसूर, हैदराबाद और कश्मीर अलग राज्य ही बने रहे.

सत्ता व् शक्ति के समर्पण के बदले रियासतों को कर मुक्त प्रिवीपर्स अनंत काल के लिए दे दिए गए. 1949 के बाद संविधान द्वारा प्रिवीपर्स की कुल रकम 4.66 करोड़ की गारंटी प्रदान की गयी. इन रियासतों के विलय ने पाकिस्तान के निर्माण के फलस्वरूप हुए नुकसान को काफी हद तक पूरा कर दिया और बंटवारे के जख्मों को भी कुछ हद तक भरने में मदद की.

2.8 अंतिम चरण और गोवा का विलय

भारत के पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्रतटों पर पांडिचेरी व अन्य फ्रांसीसी आधिपत्य वाले क्षेत्रों को भारत को सौंप दिया गया. लेकिन पुर्तगाली अपने अधीन क्षेत्रों को किसी भी कीमत पर छोड़ने को तैयार नहीं थे. इसके पीछे अमेरिका और ब्रिटेन का सीधा हाथ था क्योंकि भारत की आज़ादी के बाद यह लोग भारतीय उपमहाद्वीप में अपने सामरिक अड्डों की तलाश में जुट गए थे.

भारतीय सरकार अपनी पुरानी नीति के तहत शांतिपूर्ण विलय के पक्ष में थी और इसलिए हैदराबाद और कश्मीर जैसी रियासतों में भी उसने वहाँ की जनता की पहल पर भरोसा करना उचित समझा. गोआ में भी पुर्तगाली शासन के रुख को देखकर वहाँ की जनता ने पुर्तगाली प्रभुत्व के खिलाफ़ आन्दोलन छेड़ दिया. जैसा कि लाज़मी था पुर्तगाली शासन ने इस आन्दोलन को बेरहमी के साथ कुचलना शुरू कर दिया. अंततः नेहरु ने 17 दिसंबर 1961 की

रात गोवा में भारतीय सेना के प्रवेश का आदेश जारी कर दिया. गोवा के पुर्तगाली राज की इतनी शक्ति नहीं थी कि वो भारतीय सेना के साथ युद्ध लड़ सके इसलिए वहां के गवर्नर जनरल ने बिना किसी युद्ध के आत्मसमर्पण कर दिया.

2.9 विलय की तीन नीतियाँ

रियासत विभाग के अध्यक्ष सरदार वल्लभ भाई पटेल ने विलय कार्य के व्यवहार में तीन नीतियाँ अपनाई थीं. इनमें पहला था—रियासतों को संलग्न प्रान्तों में विलय कर देना. दूसरा था— रियासतों को संयुक्त कर उनका संघ बनाना. और तीसरी नीति थी— रियासतों को मिलाकर उन पर केंद्र का शासन स्थापित कर केन्द्रीय क्षेत्र (सेंट्रल यूनियन टेरिटरी) बनाना. पहली नीति के अंतर्गत उड़ीसा की 39 रियासतें उड़ीसा राज्य में मिला दी गईं, छत्तीसगढ़ की छोटी-छोटी रियासतें मध्य राज्य में विलीन कर दी गईं, गुजरात की कुछ रियासत जो बम्बई के नजदीक थी, बंबई राज्य में मिला दी गईं. दूसरी नीति के अंतर्गत सभी रियासतों को मिलाकर उनके संघ बनाये गये थे. इस श्रेणी में थे- राजस्थान, कोचीन व ट्रावनकूर की संयुक्त रियासतों का संघ और मध्य भारत, विन्ध्य प्रदेश, मत्स्य प्रदेश और पूर्वी पंजाब की रियासतों और पटियाला का संघ पेप्सू. तीसरी नीति के अंतर्गत कई छोटी-छोटी रियासतों को मिलाकर केंद्र प्रशासित प्रदेश बनाया गया था. इस श्रेणी में 61 रियासतों को मिलाकर कई केंद्र प्रशासित प्रदेश बनाये गये थे. इस प्रकार विलय का कार्य पूरा हुआ था.

2.10 सारांश

इस तरह, भारतीय रियासतों के भारतीय संघ में विलय की प्रक्रिया कई चरणों में पूरी हुयी और इसमें तकरीबन 14 साल लगे. भारतीय संघ के लिए रियासतों के एकीकरण का काम इतना महत्वपूर्ण था कि इसके बगैर आज के भारत की कल्पना भी नहीं की जा सकती. सैकड़ों भारतीय रियासतें ब्रिटिश कब्जे से आज़ाद हुए भारत के लिए सैकड़ों छिद्रों की तरह होतीं जिनकी जनता लोकतांत्रिक अधिकारों से वंचित और राजतंत्रीय प्रणाली के भीतर जीने को अभिशप्त होनी थी. इसलिए सरदार पटेल और जवाहरलाल नेहरु ने आपसी समझदारी, धैर्य और साहस का परिचय देते हुए आज़ादी के बाद टूटे-बिखरे भारत को एक बनाने में अपनी ऐतिहासिक भूमिका अदा की.

2.11 सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

चन्द्र, बिपिन, आजादी के बाद का भारत

चन्द्र, बिपिन, आधुनिक भारत, एनसीईआरटी

गुहा, रामचंद्र, गाँधी के बाद का भारत

2.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. देशी रियासतों के विलय पर एक निबंध लिखिये।

ब्लॉक चार

इकाई तीन : स्वतंत्र भारत: पड़ोसी देशों से सम्बन्ध (पाकिस्तान, चीन, नेपाल, म्यांमार एवं श्रीलंका)

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 भारत की विदेश नीति: वैश्विक सन्दर्भ

3.4 भारत की विदेश नीति: दक्षिण एशियाई सन्दर्भ

3.5 पाकिस्तान

3.5.1 भूमिका

3.5.2 कश्मीर को लेकर पाकिस्तान का विवाद

3.5.3 शिमला समझौता और उसके बाद

3.6 चीन

3.6.1भूमिका

3.6.2 विवादों की शुरुआत

3.6.3 1962 के बाद भारत-चीन सम्बन्ध

1.6.4 वर्तमान सम्बन्ध

3.7 नेपाल

3.7.1भूमिका

3.7.2 स्वतंत्र भारत में नेपाल की स्थिति

3.7.3 नेपाल में हालिया घटनाक्रम

3.7.4 भारत और नेपाल: विवाद के बिंदु

3.8 भारत-श्रीलंका सम्बन्ध

3.8.1 भूमिका

3.8.2 भारत और श्रीलंका संबंधों का अतीत

3.8.3 सिंहली-तमिल संघर्ष की पृष्ठभूमि में भारत-श्रीलंका सम्बन्ध

3.8.4 कच्छद्वीप टापू विवाद

3.9 म्यांमार

3.10 सारांश

3.11. सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

3.12 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

एक स्वतंत्र और संप्रभु राष्ट्र होने के नाते प्रत्येक राष्ट्र को अपने पडोसी राष्ट्रों के साथ संबंधों की एक नीति बनानी पड़ती है. हमारे स्वाधीनता संघर्ष के समय से ही स्वतंत्र भारत के अन्य देशों के साथ संबंधों पर गहन विचार-विमर्श शुरू हो गया था. आज़ादी के बाद इसी अनुभव के साथ बहुत सावधानीपूर्वक विदेश नीति का निर्धारण किया गया जिसमें भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरु की दूरदृष्टि का बहुत योगदान रहा.

नेहरु की समझ थी कि तीसरी दुनिया के देशों को दो विश्वयुद्धों और अमेरिका और सोवियत संघ के बीच शीतयुद्ध के संकट के बीच तटस्थता की नीति अपनानी चाहिए. उनका मानना था कि तीसरी दुनिया के देश अगर इन तनावों के बीच पड़कर हथियारों की ख़रीद-फ़रोख्त और भारी-भरकम सेनाओं के रखरखाव में फंस गए तो उनकी ग़रीबी और बदहाली को ख़त्म नहीं किया जा सकेगा. इसीलिए विदेश नीति के नियंताओं ने हमेशा से अपने पड़ोसी दक्षिण एशियाई देशों के अतिरिक्त सुदूर अफ्रीका तक के देशों से होते हुए विश्व महाशक्तियों तक टकराव को टालने और शांतिपूर्ण सहस्तित्व की धारणा को बल देने वाली नीति पर बल दिया. आज भी भारत अपने पड़ोसी देशों के साथ प्रथम आक्रमण की नीति का पालन करता है भले ही उसे पिछले सत्तर सालों में पाकिस्तान और चीन के साथ बार-बार युद्धों और झडपों में उलझना पड़ा है.

3.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको स्वातंत्रयोत्तर भारत कीअपने पड़ोसी देशों के साथ नीति और सम्बन्धों से अवगत कराना है. कभी सहयोगपूर्ण और सौहार्दमय तो कभी तनावपूर्ण और मतभेदों से भरे हुए इन संबंधों के इतिहास, उनकी प्रकृति और विवेचना से आप भारत की विदेश नीति के कुछ महत्वपूर्ण आयामों से परिचित होंगे. भारत की वृहत्तर विश्व के साथ नीति के सन्दर्भ में हम फ़िलहाल इस इकाई अपने पड़ोसी देशों—पाकिस्तान, चीन, नेपाल, बर्मा और श्रीलंका— के साथ भारत के उतार-चढ़ाव भरे संबंधों के बारे में विस्तार से अध्यययन करेंगे.

3.3 भारत की विदेश नीति: वैश्विक सन्दर्भ

तकरीबन दो सौ साल की औपनिवेशिक गुलामी के दौर में भारत की विदेश नीति का निर्धारण ब्रिटेन के व्यापक औपनिवेशिक हितों को साधने के लिए किया जाता था. ब्रिटेन अपनी अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा और ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के साथ-साथ संसाधनों पर कब्जे के उद्देश्य से इन नीतियों का निर्धारण करता था. आजादी के बाद विश्व नीति के निर्धारण के सामने दो बड़ी गंभीर चुनौतियाँ थीं. पहली चुनौती एक के बाद एक दो विश्व युद्धों का होना था जिसकी वजह से पूरी दुनिया को बहुत विनाश का सामना करना पड़ा था.

द्वितीय विश्वयुद्ध तो ख़ास तौर पर बहुत ही ज्यादा विध्वंशक सिद्ध हुआ था क्योंकि उस समय तक सैन्य तकनीक और हथियारों की मारक क्षमता में भारी इजाफ़ा हो गया था. हमें पता है कि किस प्रकार विश्वयुद्ध के अंत में अमेरिका ने जापान के दो शहरों—हिरोशिमा और नागासाकी— पर परमाणु बम गिरा दिए थे जिसमें अपार क्षति हुयी थी. इस घटना के बाद दुनिया पर न सिर्फ तीसरे विश्वयुद्ध बल्कि महाविनाशकारी परमाणुयुद्ध का ख़तरा भी मँडराने लगा था.

दूसरी चुनौती थी विश्वयुद्ध के बाद की दुनिया में आर्थिक साम्राज्यवाद के बदले स्वरुप में संसाधनों और बाज़ार पर नियंत्रण की अमेरिकी चुनौती. यह संघर्ष 1917 की रूसी क्रान्ति के बाद दो समानान्तर विश्व व्यवस्थाओं के बीच का भी संघर्ष बना गया था जो कि पूँजीवाद और समाजवाद के दो ध्रुवों का निर्माण करता था. पूँजीवाद का पैरोकार बनकर उभरा अमेरिका पूरी दुनिया पर अपने वर्चस्व को और अधिक मजबूत बनाना चाहता था. दूसरी ओर समाजवादी क्रान्ति को वैश्विक मॉडल बनाने की होड़ में सोवियत संघ दूसरे ध्रुव का निर्माण करना चाहता था.

इन दो ध्रुवों का दुनिया के अन्य देशों के ऊपर इतना दबाव था कि उनको मजबूरन इस या उस ध्रुव का हिस्सा बनना ही पड़ता था. नाटो और वारसा जैसी सैन्य संधियों की वजह से अमेरिका और रूस दुनिया भर की सेनाओं को एक सामरिक समझदारी में लाना चाहते थे. जिसकी वजह से गरीब और पिछड़े देशों को भी अपने सैन्य खर्चों में बढ़ोत्तरी करना स्वाभाविक था. इसके अतिरिक्त एक-दूसरे को घेरने की रणनीति में दोनों देशों को पूरी दुनिया में सैन्य अड्डे बनाने थे इसलिए भी तमाम देश अपनी भौगोलिक स्थिति की वजह से इन दो-ध्रुवीय व्यवस्था में आने को मजबूर थे.

भारत के विदेश नीति निर्धारण में पाकिस्तान हमेशा एक चुनौती की तरह खड़ा रहा क्योंकि वो भारत से अलग होकर एक राष्ट्र बना था और इस बँटवारे को लेकर उसके भीतर तमाम कुंठाएं दबी थीं. जैसे कश्मीर को लेकर पाकिस्तान ने आज़ाद होते ही एक छद्म युद्ध का नेतृत्व किया जिसके बाद कश्मीर के राजा हरी सिंह ने कश्मीर का भारत में औपचारिक विलय कर दिया. इसके बाद भी पाकिस्तान ने भारत के खिलाफ़ दो बड़े युद्ध 1965 और 1971 में लड़े और 1999 में कारगिल युद्ध लड़ा है.

पाकिस्तान भारत के खिलाफ़ इस युद्ध में अंतर्राष्ट्रीय शक्तियों का सहयोग चाहता था इसलिए वो शुरुआत से ही अमेरिकी ध्रुव के करीब जा बैठा. अमेरिका 1950 के दशक से ही दक्षिण एशिया और दक्षिण-पूर्व ऐसा में सोवियत संघ को घेरने के लिए साउथ ईस्ट एशिया ट्रीटी आर्गेनाइजेशन (सीटो) और सेंट्रल ट्रीटी आर्गेनाइजेशन (सेंटो) के माध्यम से अपने सैन्य सहयोगी तलाश रहा था. पाकिस्तान इसमें सहयोगी बन बैठा और इस तरह शीतयुद्ध की आँच सीधे भारत के दरवाजे तक आ पहुँची.

इस बीच भारतीय नेतृत्व एक बात पर सहमत था कि नवस्वतंत्र देशों को दोनों ध्रुवों से सामान दूरी बनाते हुए अपने आंतरिक विकास पर ध्यान देना चाहिए. नेहरु इस नीति के सबसे बड़े पैरोकार थे और इसीलिए अपनी अंतरिम

सरकार के दौरान ही उन्होंने विदेश नीति के कुछ मूलभूत आधार नीतिबद्ध कर दिए थे. इन आधारों में शामिल थे— साम्राज्यवाद और नस्लवाद का अंत, दोनों ध्रुवों से अलग रहने की नीति और चीन आदि पड़ोसी और अन्य एशियाई और अफ्रीकी देशों के साथ गहरे दोस्ताना सम्बन्ध. नेहरु चाहते थे कि भारत जब विश्व मंच पर खड़ा हो तो किसी ध्रुव के पराश्रित होकर नहीं बल्कि एक संप्रभु और स्वतंत्र देश के रूप में अपनी बात रखने का साहस जुटा सके.

नेहरु की सोवियत संघ और समाजवादी विश्व व्यवस्था के साथ वैचारिक सहमतियाँ थीं लेकिन वो सोवियत संघ की आक्रामक नीति से खुद को सफलतापूर्वक अलग रख सके. उनकी यह भी सफलता थी कि न सिर्फ़ वो दोनों ध्रुवों से दूर रहे बल्कि स्वतंत्र भारत की आवश्यकता के अनुसार उन्होंने समय-समय पर दोनों महाशक्तियों को एक-दूसरे से संतुलित भी किया जैसे कश्मीर मुद्दे पर सोवियत संघ ने भारत का साथ देकर अमेरिकी महत्वाकांक्षाओं पर विराम लगाया.

चीन के प्रति नेहरु सहानुभूतिपूर्ण रुख रखते थे और चाहते थे कि भारत और चीन जैसे दो नवस्वतंत्र देश आपसी सीमा विवादों में न उलझकर पूरी दुनिया के सामने शांतिपूर्ण सहस्तित्व का मॉडल पेश करें. नेहरु की यह सदेच्छा उनकी गुटनिरपेक्षता की नीति से सामने आती है जिसका उद्देश्य दो ध्रुवों के बरक्स तीसरी दुनिया के एशियाई, अफ्रीकी, दक्षिण अमेरिकी और युगोस्लाविया जैसे यूरोपीय देशों के गुटनिरपेक्ष महासंघ का निर्माण था. हालांकि नेहरु को चीन के प्रति अपनी इस नीति को लेकर 1962 में तब गंभीर आघात लगा जब कुछ वर्षों तक सीमाई झडपों के बाद चीन ने नेफा की ओर से भारत पर हमला कर दिया.

गुटनिरपेक्षता का अर्थ किसी भी तरह निरपेक्षता नहीं थी बल्कि पाँच मूल तत्वों के आधार पर दुनिया के सामने विदेश नीति की एक नयी दृष्टि पैदा करना था. यह पाँच आधार जिनको 1955 की बांडुंग कांफ्रेंस में व्याख्यायित किया गया था, थे— (1) एक-दूसरे की सीमाओं और संप्रभुता को लेकर परस्पर सम्मान; (2) परस्पर अनाक्रमकता की नीति; (3) एक-दूसरे के घरेलू मामलों में दखलंदाजी न करना; (4) समानता और परस्पर लाभ; (5) शांतिपूर्ण सहस्तित्व. भारत की विदेश नीति के यह मूल आधार आज सत्तर साल बाद भी थोड़े-बहुत बदलावों के साथ कायम हैं और आज भी भारत सैद्धांतिक रूप से इन नीतियों से अपने आपको अलग नहीं करता है.

3.4 भारत की विदेश नीति: दक्षिण एशियाई सन्दर्भ

अफ़गानिस्तान से नीचे और म्यांमार से पहले तक का समूचा भूभाग जिसमें भारत, पाकिस्तान, नेपाल, भूटान, श्रीलंका, बांग्लादेश और मालदीव आते हैं, दक्षिण एशिया कहलाता है. सामान्य तौर पर इसके एक बड़े हिस्से को भारतीय उपमहाद्वीप भी कहा जाता था जो 1947 के विभाजन से पहले तक भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश के रूप में एक समेकित राष्ट्र का हिस्सा था.

इस भूराजनीतिक हिस्से के साझा राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक हित हैं और इसीलिए 1985 में इन सभी देशों ने एक बेहतर साझा भविष्य के निर्माण के लिए साउथ एशियन एसोसिएशन फॉर रीजनल कोऑपरेशन (SAARC) की स्थापना की थी. इस समूचे भूभाग में हिन्द महासागर और हिमालय पर्वत श्रृंखला इसे एक अलग भौगोलिक इकाई के रूप में स्थापित करता है. इसीलिए यह पूरा क्षेत्र सांस्कृतिक, भाषाई, नृजातीय, सामाजिक और ऐतिहासिक समानताओं से बंधा हुआ है.

इस भूभाग की यह भी खासियत है कि लम्बे समय तक इस इलाके को औपनिवेशिक शोषण और दमन का सामना करना पड़ा है इसलिए यह एकसमान रूप से उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के दुष्प्रभावों से ग्रसित है. यहाँ तक कि विभाजन की वजह से भारत का अज तीन देशों में बँटवारा भी इस इलाके के भीतर तमाम समस्याओं की जड़

बना हुआ है. यह सर्वविदित है कि 1947 में भारत से टूटकर पाकिस्तान और फिर 1971 में पाकिस्तान से टूटकर बांग्लादेश बना है. यह विभाजन आपसी बँटवारे और तनाव की वो ऐतिहासिक जडें हैं जिनकी वजह से एकजुट और सर्वसम्मत प्रयासों को हमेशा गहरी चुनौती बर्दाश्त करनी पड़ी है.

इस विभाजन के बावजूद भारत इस इलाके का सबसे ताकतवर आर्थिक और सामरिक देश है जिसके पास एक मजबूत अर्थव्यवस्था होने के साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीय साख भी है. इस नाते उसकी हमेशा इस इलाके का नेतृत्व करने की आकांक्षा रहती है. तकरीबन सवा अरब की विशाल जनसंख्या, समृद्ध मध्यवर्ग से युक्त बाज़ार, बेहतर आर्थिक ढाँचा और दुनिया की महत्वपूर्ण सैन्य शक्ति होने के नाते भारत यहाँ का सबसे प्रभावी राष्ट्र है. पिछले कुछ दशकों से भारत की इस सर्वोच्चता को सीधे तौर पर चीन से चुनौती बनी है जो एक साथ भारत और अमेरिका दोनों को सामरिक दृष्टि से हिन्द महासागर क्षेत्र में घेरना चाहता है.

भारत के ठीक ऊपर स्थित चीन एक विशाल देश है जिसका सीधा प्रभाव इस इलाके पर पड़ता है. चीन की वृहत्तर योजना इस इलाके पर भारत के प्रभाव को कम करना और अपनी अंतर्राष्ट्रीय सामरिक व् आर्थिक स्थिति को मजबूत बनाना है. भारत के साथ इसके तनावपूर्ण सीमाई सम्बन्ध और 1962 का युद्ध दोनों देशों के साथ-साथ अन्य देशों के साथ संबंधों को भी संवेदनशील और जटिल बनाते हैं. इस इलाके में अमेरिका के व्यापक आर्थिक और सामरिक हित छुपे हुए हैं जिसकी वजह से यह सारे देश एक दूसरे के प्रति संदेह और असुरक्षा के भाव से भरे रहते हैं. सोवियत संघ के विघटन के पहले वह भी इस इलाके में अपनी प्रभावी दखलंदाज़ी के लिए व्यग्र रहता था.

एक तीसरा पक्ष पाकिस्तान है जो प्रत्यक्ष अमेरिकी शह पर हमेशा दक्षिण एशिया में भारतीय प्रभुत्व को चुनौती देता रहा है. हाल के दशकों में उसने भारत के सामान्य प्रतिस्पर्धी चीन के साथ मिलकर भारत को हर तरफ से घेरने की नीति अपनाई है. इस तरह यह इलाक़ा अपने आप में दुनिया के कुछ सबसे संवेदनशील इलाकों में शुमार किया जाता है. क्योंकि तीन बड़ी सैन्य शक्तियाँ इस इलाके में अपने आर्थिक और राजनीतिक हितों को साधने के लिए निरंतर सीमाओं पर उलझती रहती हैं.

3.5 पाकिस्तान

3.5.1 भूमिका

विभाजन की पृष्ठभूमि में भारत तथा पाकिस्तान के सम्बन्ध शुरुआत से ही ख़राब रहे हैं. अब तक इन दोनों देशों के बीच 1947, 1965, 1971 में बड़े युद्ध तथा 1999 में कारगिल का युद्ध हो चुका है. इस तनावपूर्ण स्थिति के बीच दोनों देशों के बीच सम्बन्धों को सामान्य बनाने के लगातार प्रयास हुए, लेकिन दीर्घकालीन सफलता नहीं मिली. परमाणु हथियारों के युग में अब दोनों ही देश परमाणु युद्ध में समर्थ हैं और इसलिए भारत-पाकिस्तान सम्बन्ध न सिर्फ इन दोनों देशों के बीच बल्कि पूरे विश्व के लिए एक संकट की तरह देखे जाते हैं.

भारत की आज़ादी मिलने के पहले से ही 1940 से मुस्लिम लीग के नेतृत्व में पाकिस्तान नामक एक अलग राष्ट्र बनाने कि मांग उठ चुकी थी. भारत का बँटवारा करके भारत और पाकिस्तान दो अलग राष्ट्र अस्तित्व में आये थे. जाहिर सी बात है इन दो देशों के बीच दो भिन्न तरह के राष्ट्रवाद का अंतर था. भारत जहाँ एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र बना रहा वहीं पाकिस्तान एक इस्लामिक राष्ट्र बन गया. इसके अलावा दूसरा मतभेद अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के आकलन का था.

भारतीय नेतृत्व कहीं ज्यादा परिपक्वता के साथ तीसरी दुनिया के देशों के बुनियादी मुद्दों पर ध्यान देने के लिए गुटनिरपेक्षता और क्षेत्रीय सहमति पर आधारित विदेश नीति बनाने के पक्षधर थे, वहीं पाकिस्तान जैसे भारत का

प्रतिराष्ट्र बनने पर तुला हुआ था. कश्मीर को लेकर उसने जो विवाद 1947 के अंत से शुरू किया वो आज तक दोनों देशों के बीच तनाव की मूल जड़ है.

इसी प्रतिक्रिया की वजह से पाकिस्तान नाटो और अमेरिकी शक्तियों का सहयोगी बन बैठा और वहाँ लोकतंत्र अपनी जड़ें नहीं जमा पाया. जिसकी वजह से पाकिस्तानी राष्ट्रवाद आज भी सैन्य राष्ट्रवाद है जहाँ सेना का दखल नीति निर्धारण में बहुत महत्वपूर्ण होता है. इसलिए यह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि दोनों देशों के आपसी संबंधों के बीच हमेशा एक खाई की तरह बनी रही. इन दोनों देशों के बीच सीमा का निर्धारण 'रेडक्लिफ़ आयोग' द्वारा बहुत ही असावधानीपूर्वक और जल्दबाज़ी में किया गया था. इसलिए दोनों देशों के बीच की सीमारेखा जिसे रेडक्लिफ़ लाइन कहा जाता है, अपने आप में विवाद का विषय बनी रही.

उस पर से पाकिस्तान की नज़र हमेशा से कश्मीर पर इसलिए बनी रही क्योंकि मुस्लिम बहुत प्रांत होने के नाते पाकिस्तान उसका स्वाभाविक विलय चाहता था. जबकि कश्मीर की जनता ने शेख़ अब्दुल्ला के नेतृत्व में पाकिस्तान के साथ जाने या स्वतंत्र बने रहने के विकल्पों को ठुकराकर भारत के साथ जाने का निश्चय किया था. पाकिस्तान इस यथार्थ को कभी स्वीकार न कर पाया और अपनी सामर्थ्य और संसाधन भारत के खिलाफ़ संघर्ष में नष्ट करता रहा है.

3.5.2 कश्मीर को लेकर पाकिस्तान का विवाद

ब्रिटिश शासन की फूट डालो एवं शासन करो की नीति का परिणाम तथा जिन्ना के द्विराष्ट्र सिद्धांत के कारण ही पाकिस्तान एक अलग देश बना था. विभाजन के तुरंत बाद ही दोनों देशो के बीच कश्मीर के विलय को लेकर विवाद का आरम्भ हो गया था. तबसे लेकर आज तक पाकिस्तान कश्मीर की इस समस्या के समाधान को ही भारत के साथ सम्बन्धो में सुधर की पूर्वशर्त मानता है. जबकि दूसरी ओर भारत का मत है कि कश्मीर भारत का अंदरूनी मसला है और अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर इसकी चर्चा करना भारत की संप्रभुता के खिलाफ़ है.

ब्रिटिश शासन के समय जम्मू और कश्मीर एक देशी रियासत थी. भारत के बँटवारे के समय सभी रियासतों को यह स्वंत्रता दी गई कि वह यह चयन कर सकता है कि वो भारत या पाकिस्तान किसके साथ रहेगा या स्वतंत्र रहना चाहेगा. जम्मू कश्मीर के तत्कालीन शासक हरी सिंह ने भारत व पाकिस्तान किसी के साथ भी इस रियासत का विलय नही किया क्योंकि वे एक स्वतंत्र कश्मीर का स्वप्न देख रहे थे. कश्मीर के साथ एक ख़ास बात यह थी कि इस बहुसंख्यक मुस्लिम रियासत के शासक हिन्दू थे. एक ओर जहाँ हिन्दू राजा भारत में विलय के लिए तैयार नहीं था तो दूसरी ओर शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में कश्मीरी जनता भारत के विलय को लेकर जबरदस्त दबाव बनाये हुयी थी.

लेकिन ऊहापोह की स्थिति का फायदा उठाकर पाकिस्तान ने छद्म रूप से सैनिक पहल करके इस रियासत को अपने क्षेत्र में मिलाने का प्रयास किया. इसी के तहत अक्टूबर 1947 में पाकिस्तानी सेना द्वारा समर्थित कबाइलियों ने जम्मू कश्मीर पर सशस्त्र आक्रमण कर दिया. तब राजा हरी सिंह घबरा गये और उन्होंने भारत सरकार से कश्मीर की रक्षा का अनुरोध किया. भारत ने कहा कि बिना विलय के भारत कश्मीर की मदद सैद्धांतिक तौर पर नहीं कर सकता इसलिए जम्मू कश्मीर के भारत में विधिवत विलय के उपरांत भारत ने पाकिस्तान आक्रमणकारियों को हटाने के लिए अपनी सेना भेजी.

भारत-पाकिस्तान के बीच अक्टूबर 1947 से दिसम्बर 1948 तक संघर्ष चला और संयुक्त राष्ट्र की मध्यस्थता से 1 जनवरी 1949 को दोनों देशों के बीच युद्ध का औपचारिक विराम हुआ. यह तय किया गया कि स्थितियाँ सामान्य होते ही एक जनमत संग्रह के माध्यम से कश्मीर की जनता की राय के आधार पर ही कश्मीर का भविष्य तय होगा.

लेकिन इसकी दो पूर्वशर्तें हैं कि पाकिस्तान अपनी सेनाओं को वापस बुलाएगा और कश्मीर में 1947 के पूर्व की स्थिति बहाल कर दी जायेगी.

युद्ध विराम के समय जम्मू कश्मीर के एक हिस्से पर पाकिस्तानी सेनाओं का कब्जा बना रहा, जिसे आज पाक अधिकृत कश्मीर (POK) के नाम से जाना जाता है और जो आज भी पाकिस्तान के नियंत्रण में है. 1954 से जम्मू कश्मीर की जनता भारत की संसद में निरंतर अपनी प्रतिनिधि निर्वाचित करती रही है. भारत का तर्क है कि चुनाव के माध्यम से यह स्पष्ट है कि कश्मीर की जनता भारत का एक अंग बना रहना चाहती है इसलिए जनमत संग्रह की अब कोई आवश्यकता नहीं है. यह मामला संयुक्त राष्ट्र संघ में लम्बित है तथा पाकिस्तान अब भी जनमत संग्रह का मांग करता है.

दूसरी तरफ़ पाकिस्तान दो दशको से आतंकवाद को बढ़ावा देकर कश्मीरी जनता में भारत के विरुद्ध आक्रोश उत्पन्न करता रहा है. आतंकवादियों के वैचारिक प्रशिक्षण देना, उनको हथियार चलाने की ट्रेनिंग देना और हथियार-गोला-बारूद मुहैय्या कराने से लेकर भारतीय सीमा में घुसपैठ में मदद करना तक पाकिस्तान की शाह पर हो रहा है. इसलिए कश्मीर की समस्या दिनों-दिन जटिल होती जा रही है क्योंकि एक तरफ़ पाकिस्तान समर्थित आतंकवादी आन्दोलन और दूसरी तरफ़ सेना और पुलिस द्वारा इसके दमन के बीच कश्मीर में लोकतंत्र को बुरी क्षति हुयी है और लोग इस समस्या से ऊब कर किसी समाधान की तलाश में फ़ौरी समाधानों की ओर झुक रहे हैं.

3.5.3 शिमला समझौता और उसके बाद

1965 और 1971 की लड़ाई में पाकिस्तान की बुरी पराजय और दूसरे युद्ध के बाद पाकिस्तान से टूटकर बांग्लादेश के निर्माण के बाद भारत और पाकिस्तान के बीच 1972 में ऐतिहासिक शिमला समझौता हुआ. यह समझौता ऐसे माहौल में हुआ था जिसमें पाकिस्तान के पास कोई अन्य विकल्प नहीं बचे थे और भारत की ओर से स्थितियों को सामान्य बनाने के प्रयास किये गए. लेकिन चूंकि पाकिस्तान को भी अब भारत द्वारा बांग्लादेश मुक्ति संग्राम में मदद करने की टीस उठ रही थी, यह समझौता भी बड़ी हद तक कागजी साबित हुआ.

इस समझौते ने हमेशा के लिए कश्मीर मुद्दे को ख़त्म करने की पहल करते हुए वास्तविक नियन्त्रण रेखा को ही दोनों देशों की सीमा मानने का प्रस्ताव किया. तब तक शेख अब्दुल्ला वापस भारत आ चुके थे और कश्मीर में नेशनल कांफ्रेंस की सरकार बन चुकी थी, भारत कश्मीर को लेकर अपने दावे पर और मजबूती के साथ खड़ा हो गया था. लेकिन भारत सरकार पाकिस्तान के साथ सीमा विवाद को ख़त्म करने के लिए वास्तविक नियंत्रण रेखा को ही सीमा मानने के लिए तैयार हो गयी, यह बड़ी बात थी.

पाकिस्तान की ओर से शिमला समझौते का कोई सम्मान नहीं किया गया. उसके बाद से वैश्विक परिस्थितियों में एक तेज बदलाव देखने में आया. मध्य एशिया और पश्चिम एशिया में सोवियत संघ के प्रभाव को रोकने के लिए अमेरिका ने इस्लामिक कट्टरपंथ को बढ़ावा देने की नीति अपनाई. उसके इस काम में सबसे स्वाभाविक सहयोगी पाकिस्तान बना और उसके मार्फ़त अफगानिस्तान में तालिबान के मुजाहिदीन को बढ़ावा देने, उन्हें प्रशिक्षित करने में पाकिस्तान की भूमिका निर्णायक रही. पाकिस्तान और इस्लामिक कट्टरपंथ की नजदीकियों ने उसे कश्मीर को भी इस्लामिक आतंकवाद का हिस्सा बनाने को प्रेरित किया.

इसी बीच कश्मीर में पाकिस्तानी मदद से स्थानीय लोगों को संसाधन मुहैया कराये गए और जम्मू कश्मीर लिबरेशन फ्रंट की स्थापना हुयी. इसके माध्यम से पाकिस्तान दुनिया को यह यकीन दिलाना चाहता था कि भारत

कश्मीर के लोगों की इच्छा का दमन कर रहा है क्योंकि यहां के स्थानीय लोग ही भारत से अलग होना चाहते हैं. इसके बाद कई आतंकवादी संगठन उपजे जिनके प्रशिक्षण शिविर पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर में खुलेआम चलाये जाते हैं. इन आतंकी संगठनों के अंतर्राष्ट्रीय आतंकी संगठनों जैसे अल कायदा और अब इस्लामिक स्टेट के साथ संबंधों के सूत्र बार-बार उजागर किये जाते हैं.

इस तरह पाकिस्तान ने हमेशा ही भारत के साथ अपने संबंधों में न सिर्फ कश्मीर को केंद्र में रखा बल्कि उसने कश्मीर के मुद्दे को और भी ज्यादा उलझाने का प्रयास किया है. 1999 में कारगिल युद्ध के समय भी कश्मीर में घुसपैठ की कोशिशों ने भारत को मुश्किलों में डाल दिया था. लेकिन एक बार फिर पाकिस्तान को इस युद्ध में पराजय का सामना करना पड़ा. उसके बाद आज़ाद भारत की संप्रभुता पर सबसे बड़े हमले के रूप में भारतीय संसद पर आतंकी हमले के बाद भारत पाकिस्तान दोनों की सेनाएं आमने-सामने आ गयीं.

बावजूद इसके 2004 में एक बार फिर भारत की पहल पर एक समग्र वार्ता हुयी जिसके आठ महत्वपूर्ण बिंदु थे—

अ). गुजरात में सर क्रीक क्षेत्र पर सम्प्रभुता का विवाद

ब). तुलबुल नैविशन परियोजना पर पाकिस्तान की आपत्तियों के समाधान

स). सियाचिन क्षेत्र में सीमांकन सम्बन्धी विवाद

क). आतंकवाद तथा नशीली दवाओं के अवेध व्यपार पर नियन्त्रण

द). मैत्रीपूर्ण आदान-प्रदान को प्रोत्साहन

त). आर्थिक तथा व्यापारिक सहयोग को बढ़ावा

प). विश्वास उत्पन्न करने वाले उपायों सहित शांति एवं सुरक्षा की समस्याओं पर विचार

म). कश्मीर समस्या के समाधान के उपाय

लेकिन यह वार्ताएँ भी सिर्फ एक दिखावा ही बनकर रह गयीं क्योंकि यह वो दौर था जब पाकिस्तान प्रशिक्षित आतंकियों ने मुंबई में 2006 में सात ट्रेनों के भीतर बम विस्फ़ोट किये और फिर 2008 में मुंबई में कई जगहों पर ताबड़तोड़ फायरिंग ने पूरे देश को हिलाकर रख दिया.

इस तरह पाकिस्तान हमेशा से ही आतंकवाद का सहारा लेकर भारतीय राष्ट्र को क्षति पहुँचाने का काम करता है. इसके लिए पाकिस्तान की राजनीतिक स्थिति भी बहुत हद तक जिम्मेदार है. पाकिस्तान में लोकतंत्र की स्थिति कभी भी मजबूत नहीं हो सकी है. पाकिस्तानी सैना अपनी राजनीतिक प्रभुत्व को बनाये रखने के लिए समय समय पर भारत के साथ तनाव को बढ़ाने के प्रयास करती है. लोकतंत्र के अभाव के कारण साम्प्रदायिक एवं प्रतिक्रियावादी तत्वों का ज़बरदस्त उभार हो चुका है और इसने पाकिस्तानी जनता के प्रगतिशील और शांतिप्रिय तबकों को नीति-निर्धारण में हाशिये पर धकेल दिया है. इन्हीं कट्टरवादी तत्वों के कारण पाकिस्तान में तालिबान सहित अन्य उग्रवादी एवं आतंकवादी समूहों का फलने-फूलने का अवसर प्राप्त होता है| इन्ही सब कारणों से भारत एवं पाकिस्तान के बीच निरंतर तनाव बना हुआ है तथा शांति बहाली के प्रक्रिया में बाधा आती रहती है.

3.6 चीन

3.6.1भूमिका

भारत और चीन दुनिया की सबसे पुरानी और निरंतर चलने वाली सभ्यताएं और दोनों के बीच सांस्कृतिक और धार्मिक संबंधों की परंपरा भी ऐतिहासिक रूप से हजारों साल पुरानी है. एक दूसरे को जानने-समझने की इस

परम्परा का पता हमें उन यात्रियों के वृत्तांतों से चलता है जो समय-समय पर भारत या चीन गए. चीन की ओर से ह्वेन्सांग, फाहियान, सुंग यून और इत्सिंग जैसे यात्रियों ने भारत के बारे में विस्तार से लिखा है तो भारत से चीन गए यात्रियों की फेहरिश्त में कुमारविजय, जिनगुप्त, जिनभद्र और बोधिधर्मा के नाम प्रमुख हैं.

भारत और चीन हजारों सालों तक दुनिया की दो सबसे बड़ी अर्थव्यवस्थाएं भी रही हैं जिनके पूरी दुनिया के साथ प्रगाढ़ आर्थिक सम्बन्ध थे. इस नाते भी भारत और चीन के बीच संपर्क के सेतु बने रहे. यह परस्पर सम्बन्ध धर्म और आध्यात्म के क्षेत्र में भी इतने प्रगाढ़ थे कि चीन में बौद्ध धर्म का जितना स्वागत हुआ उतना दुनिया के किसी अन्य हिस्से में नहीं हुआ.

आधुनिक काल में भारत और चीन दोनों ही साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी शक्तियों के चंगुल में फंसे रहे इसलिए उनके बीच के संबंध कडवाहट से भर गए. हालाँकि लगभग एक ही समय दोनों देशों ने अपने कंधों से साम्राज्यवाद का जुआ उतार फेंका और जहाँ भारत 1947 में ब्रिटिश राज से आज़ाद हुआ, चीन में 1949 की कम्युनिस्ट क्रांति एक नए युग का आगाज़ बनी.

भारत ने चीन के साथ अपने रिश्तों की शुरुआत बड़े दोस्ताना ढंग से की. चीनी क्रांति जो 1949 में हुई थी इसके बाद चीन की कम्युनिस्ट सरकार की मान्यता देने वाला पहला गैर-कम्युनिस्ट देश भारत ही था. नेहरु ने न सिर्फ़ दुनिया में चीन को मान्यता दिलाने के लिए अपने प्रभाव का इस्तेमाल किया बल्कि संयुक्त राष्ट्र संघ में भी उसके प्रवेश को लेकर गंभीर प्रयास किये.

नेहरु एक ओर जहाँ गुटनिरपेक्षता की नीति को आदर्श मानते थे, चीन ने स्वाभाविक रूप से सोवियत संघ के ध्रुव के करीब रहने में ही भलाई समझी. 1954 में दोनों देशों के बीच शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के पांच सिद्धांत यानि पंचशील की घोषणा हुई. इसके पहले जब चीनी प्रधानमंत्री चाऊ एन लाइ भारत आये तो यहाँ उनका जोरदार स्वागत किया गया. तीन महीने के भीतर ही नेहरु बीजिंग गए और वहाँ एशिया की ख़ुशी और सम्पन्नता के लिए भारत और चीन की प्रगाढ़ दोस्ती पर जोर दिया. 1955 में बांडुंग कांफ्रेंस में इन रिश्तों को और औपचारिक व सांस्थानिक बना दिया.

3.6.2 विवादों की शुरुआत

लेकिन 1962 में चीन द्वारा भारत पर किया गया आक्रमण से भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरु का भरोसा चीन के प्रति दोस्ती से उठ गया. चीन के विस्तारवादी नीति के आगे भारत का एक नयी विश्व व्यवस्था देने का सपना विफल हो गया. कुछ लोग नेहरु को इसके लिए असफल और आदर्शवादी ठहराते हैं लेकिन कुछ विशेषज्ञों का मानना है कि चीन के साथ गर्मजोशी भरे व्यवहार ने कम से कम 15 वर्षों तक भारत के उत्तर-पूर्वी सीमा पर अनावश्यक अशांति को टाले रखा. हालाँकि नेहरु किसी आदर्शवाद के चलते चीन का समर्थन नहीं कर रहे थे, आधुनिक अध्ययन बताते हैं कि सीमाई सैन्य बंदोबस्त पर भी नेहरु ने पर्याप्त ध्यान दिया था.

भारत ने शुरूआत से ही अपने पडोसी देशों के विरुद्ध विस्तारवादी नीतियों का विरोध किया है. लेकिन भारत के लिए अपनी इस नीति को बनाये रखने की दिशा में पाकिस्तान के अलावा चीन हमेशा से एक गंभीर चुनौती पेश करता रहा है. 1950 में भारत और चीन के बीच स्थित तिब्बत को चीन ने हड़पकर अपनी सीमाओं का विस्तार कर लिया. इससे भारत और चीन के बीच ऐतिहासिक रूप से जो एक मध्यवर्ती राज्य बना चला आ रहा था, खत्म हो गया. शुरुआत में भारत ने चीन के इस कदम का खुले तौर पर विरोध नही किया. लेकिन जब तिब्बत के धार्मिक नेता दलाई लामा ने ऐसी स्थिति में भारत से शरण माँगी और भारत ने उसे स्वीकार कर लिया.

तिब्बत के मसले पर भारत के रुख से चीन चिढ़ गया और उसने भारत के साथ कई मोर्चों पर सीमा विवाद शुरू कर दिए. चीन अंग्रेजी शासन के समय निर्धारित सीमा को नही मानता है. भारत तथा चीन के बीच निर्धारित मैकमोहन रेखा को चीन नकारता रहा है. इसी कारण चीन भारतीय भू-क्षेत्रो में पड़ने वाली दो इलाके जम्मू कश्मीर के लद्धाख वाले हिस्से के अक्साई चीन और अरुणाचल प्रदेश के आधिकांश हिस्सों को अपना क्षेत्र मानता है.

1950-51 में चीन में प्रकाशित मानचित्रों में भारत के एक बहुत बड़े हिस्से को चीन का अंग दिखाया गया, भारत की शिकायत के बाबजूद चीन सरकार ने यह कहते हुए कि यह पुरानी सरकार की मानचित्र है कहकर टाल दिया. 3500 कि.मी. लम्बी भारत-चीन सीमा के दो भाग थे जिनमें पूर्वी भाग के मध्य सीमा का निर्धारण मैकमोहन रेखा द्वारा 1914 में किया गया था, लेकिन चीन इसे साम्राज्यवादी सीमा रेखा कहकर इसे मान्यता प्रदान नही कर रहा है और भारत के अरुणाचल प्रदेश में 90 हजार वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर दावा करता रहा है.

सीमावर्ती इन छुटपुट झड़पों के बाद भी नेहरुजी को यह विश्वास रहा कि चीन भारत पर कभी हमला नहीं करेगा. चीन ने विस्तारवादी नीतियों को अपनाते हुए 1957 से 1959 के बीच भारत के अक्साई- चीन इलाके पर भी कब्ज़ा कर लिया. परन्तु 1962 में चीन ने नार्थ ईस्टर्न फ्रंटियर प्रोविन्स या नेफा या आज के अरुणाचल प्रदेश की ओर से भारत पर हमला कर दिया और असम के मैदानों से पहले ही वापस लौट गया. भारत और चीन के परस्पर संबंधों को यह युद्ध और उसमें मिली पराजय बुरी तरह प्रभावित करती रहती है.

दूसरे भाग पश्चिमी क्षेत्र में चीन की सीमाएं लद्धाख क्षेत्र से मिलती है. 1962 के युद्ध के बाद से ही चीन ने अक्साई चीन क्षेत्र में भारत की 38 हजार वर्ग किलोमीटर भूमि पर अधिकार कर लिया. उसके बाद चीन ने पाकिस्तान से एक समझौते के तहत 1963 में पाक अधिकृत कश्मीर का 5180 वर्ग किलोमीटर भू-भाग प्राप्त किया. इसके बदले में चीन ने पाकिस्तान को 1965 तथा 1971 में सैनिक हथियार एवं सुविधा प्रदान की.

3.6.3 1962 के बाद भारत-चीन सम्बन्ध

इस युद्ध के बाद भारत-चीन बीच होने वाली वार्ता शिथिल पड़ गईं और दोनों देशों के बीच सम्बन्ध एकदम गर्त में चले गए. चीन की तरफ़ से यह कोई सम्पूर्ण युद्ध नहीं था और आसाम के मैदानों के पहले ही चीनी सेनाओं ने एकतरफ़ा ढ़ंग से युद्ध विराम कर दिया. जब नेफा की पहाड़ियों में चीनी सेना तेजी से उतर रही थी और लगभग समूचा सर्वोच्च भारतीय नेतृत्व देश के बाहर था, यह रणनीति बनाई गयी कि आसाम के मैदानों में चीन का ज़ोरदार ढ़ंग से मुकाबला किया जाएगा. लेकिन चीन पूर्ण युद्ध से बचते हुए पीछे हट गया और भारत के कुछ हिस्सों पर कब्जा करके बैठ गया. तकरीबन 38,000 स्क्वायर किलोमीटर भारतीय इलाका चीन के नियंत्रण में चला गया.

चीन 1962 के युद्ध से कुछ फौरी फायदे चाहता था. नेहरु की विश्वनेता के तौर पर बन रही छवि को इस युद्ध ने बेतरह नुकसान पहुँचाया. दूसरे देश के भीतर नेहरु के आदमकद को वामपंथियों और दक्षिणपंथियों की ओर से घोर आलोचना का सामना करना पड़ा. तीसरे, गुटनिरपेक्षता की नीति को गहरा धक्का लगा क्योंकि इसके बाद नेहरु को मजबूरन पश्चिमी ताकतों से सहयोग की अपील करनी पड़ी. इसके पहले चीन को भारत और सोवियत संघ के आपसी संबंधों को लेकर भी काफी गहरी चिंता थी. चौथे, भारतीय सेना का मनोबल बुरी तरह नीचे गिर गया जो कि 1965 और 1971 में पाकिस्तान के खिलाफ़ युद्धों में मिली जीत के बाद ही बढ़ाया जा सका.

हालाँकि तबसे लेकर आज तक सीमा विवाद जबतब भारत और चीन के बीच संबंधों को प्रभावित करते रहे हैं. चीन ने हमेशा भारत पर एक दबाव बनाने के उद्देश्य से सीमाई विवादों को हवा दी है. जैसे 2009 में अरुणाचल प्रदेश में भारतीय प्रधानमंत्री की यात्रा पर चीन ने बेवजह का विवाद बनाते हुए अपनी आपत्ति दर्ज की. इसी वर्ष चीन ने

जम्मू कश्मीर के भारतीय निवासियों को नत्थी वीजा जारी करने की शुरुआत करके कश्मीर की स्थिति को भी विवादित करने का प्रयास किया. उसका मत यह है कि कश्मीर के लोगों को आत्मनिर्णय का अधिकार मिलना चाहिए. यहाँ तक कि चीन भारत में कश्मीर के विलय को लेकर भी विवाद खड़ा करता रहता है और पाक अधिकृत कश्मीर में पाकिस्तान को संरचना निर्माण में भारी निवेश कर रहा है.

दोनों देशों के बीच पूर्ण राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने में दस साल से अधिक लग गये. इंदिरा गाँधी ने वरिष्ठ विदेश सेवा अधिकारी के० आर० नारायणन की चीन में राजदूत के रूप में नियुक्ति करके इस बर्फ को पिघलाने का प्रयास किया. इस तरह 1976 के अंत में दोनों देशों के बीच पूर्ण राजनयिक सम्बन्ध स्थापित हुए और लम्बे अंतराल के बाद एक शीर्ष नेता के तौर पर तत्कालीन विदेश मंत्री अटल बिहारी वाजपेयी 1979 में चीन के दौरे पर गये. तत्पश्चात कई दौर की बातचीत भारत और चीन के बीच सीमा विवादों को सुलझाने के लिए उच्च अधिकारियों के बीच हुयी.

इसके बाद 1988 में राजीव गाँधी चीन की राजनयिक यात्रा पर गये. नए बदलते विश्व में इस बात की जरूरत महसूस की गयी दो देशों के बीच परस्पर संबंधों की आधारशिला मजबूत आर्थिक आधार पर भी विकसित की जा सकती है. इसके अलावा वैज्ञानिक और तकनीकी सहयोग, शैक्षिक और सांस्कृतिक संबंधों को लेकर भी दोनों पक्षों के बीच कई समझौते संभव हुए. इसलिए नब्बे के दशक से चीन के साथ भारत के संबंधों में ज्यादा जोर व्यापारिक मसलों पर रहा है और सीमाई विवाद को हमेशा पीछे रखने के प्रयास किये गए हैं. इसके बाद चीनी राष्ट्रप्रमुखों का भारत आना और भारतीय प्रधानमंत्री का चीन जाना नरसिम्हाराव सरकार के दौर में भी जारी रहा. नरसिम्हा राव के चीन दौरे की सबसे बड़ी उपलब्धि रही कि दोनों देश इस बात पर राजी हुए कि वे वास्तविक नियंत्रण रेखा पर शान्ति स्थापित करने के लिए प्रतिबद्ध रहेंगे.

हालाँकि 1998 में भारत द्वारा परमाणु परीक्षण के बाद चीन के साथ उसके सम्बन्ध फिर तनावपूर्ण हो गए. इसकी वजह थी कि तत्कालीन रक्षा मंत्री जॉर्ज फ़र्नांडीज ने चीन के खतरे को देखते हुए भारत के परमाणु परीक्षण को सही ठहरा दिया था. इसी तरह की एक चिट्ठी जो कि भारतीय प्रधानमंत्री अटल बिहारी बाजपेयी की ओर से अमरीकी राष्ट्रपति को लिखा था, वो लीक होने से भी चीन बिफर गया. हालाँकि सन 2000 में विदेश मंत्री जसवंत सिंह ने चीन जाकर चीनी पक्ष को आश्वस्त किया कि भारत चीन को अपने मित्र के तौर पर देखता है, खतरे के तौर पर नहीं. सन 2000 में चीनी प्रमुख झू रोंग्ज़ी के पाँच दिवसीय भारत यात्रा ने एक बार फिर राजकीय स्तर पर दोनों देशों के संबंधों को गति प्रदान की.

3.6.4 वर्तमान सम्बन्ध

चीन 1960 के दशक से ही दक्षिण एशिया में अपने सामरिक प्रभाव में वृद्धि करने का प्रयास करता रहा है. लेकिन पिछले कुछ दशकों में उसे अप्रत्याशित सफलता मिली है. 1990 के दशक से इसने भारत के पड़ोसी देशो के साथ सामरिक संबंधों का विकास करते हुए पाकिस्तान, बांग्लादेश, श्रीलंका आदि को बंदरगाह तथा नौसैनिक सुविधाएं प्रदान करके भारत को सामरिक दृष्टि से घेरने की कोशिश की. चीन की इस नीति को भारत को घेरने की रणनीति अथवा मोतियों की माला की संज्ञा दी जाती है.

सन 2014 में चीन ने हिन्द महासागर से होकर चीन और यूरोप को जोड़ने वाली समुद्र मार्ग के विकास का प्रस्ताव रखा है. इस प्रोजेक्ट को 21वीं शताब्दी मेरीटाइम सिल्क रूट परियोजना के नाम से जाना जाता है. इस

परियोजना के तहत चीन भारत के पड़ोसी देशो में बंदरगाह एवं ढाँचागत सुविधाओं का विकास करेगा तथा इसके माध्यम से एशिया एवं यूरोप के बीच व्यापार का संचालन करेगा. इसी परियोजना का एक दूसरा भाग एक स्थल मार्ग का निर्माण भी है जो चीन एवं मध्य एशिया से होकर यूरोप तक जायेगा. इन दोनों परियोजनाओं को सम्मलित रूप से वन बेल्ट वन रोड अथवा ओबेरा योजना के नाम से जाना जाता है. चीन ने मई 2007 को इस योजना को सफल बनाने के लिए शिखर सम्मेलन बीजिंग में आयोजित किया था जिसमे सभी दक्षिण एशियाई देशों ने भाग लिया था लेकिन भारत ने इसका विरोध करते हुए इसमें शामिल होने से इंकार कर दिया क्योंकि यह परियोजना भारत के पाक अधिकृत कश्मीर से होकर गुजरती है.

यह सर्वविदित तथ्य है कि स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरु के दोस्ताना समर्थन के कारण ही आज चीन संयुक्त राष्ट्र संघ का स्थाई सदस्य है. अब जब संयुक्त राष्ट्र संघ में सुधार की बात हो रही है तो चीन इसका विरोध कर रहा है ताकि भारत को इसकी स्थाई सदस्यता न मिल सके. इसके अलावा चीन एन. एस. जी. (न्यूक्लियर सप्लायर ग्रुप) में भारत की सदस्यता की राह में भी रोड़े अटका रहा है.

चीन आज दुनिया की आर्थिक और सामरिक महाशक्ति के रूप में स्थापित हो चुका है. जिस तरह के सस्ते समान का उत्पादन चीन में हो रहा है, पूरी दुनिया इसके उत्पादों से पटी पड़ी है. विश्व व्यापार का संतुलन बुरी तरह से चीन की ओर झुक गया है और पूँजीवाद के चरम पर पहुँच चुकी अमेरिकन और यूरोपीय अर्थव्यवस्थाओं के सामने विशाल घरेलू बाज़ार और सघन घरेलू मैन्युफैक्चरिंग के कारण चीन का आज कोई अन्य आर्थिक विकल्प नहीं दिखता है.

व्यापार का यह संतुलन आज बिल्कुल चीन के पक्ष्य में हो गया क्योंकि चीन का लगभग सभी देशों में किये गये निर्यात वहाँ से किये गए आयात से कहीं ज्यादा है. यहाँ तक कि भारत तथा चीन के बीच व्यापार बहुत इतनी तेजी से बढ़ गया है कि पिछले एक दशक में ही भारत चीन से सबसे ज्यादा आयात करने वाला देश बन गया है. इस आर्थिक स्थिति में या तो चीन भारत में अपने आर्थिक हितों को देखते हुए अपने विवादों के शांतिपूर्ण समाधान तलाशने का प्रयास करेगा या फिर अपनी श्रेष्ठतर आर्थिक स्थिति का लाभ लेते हुए भारत पर दबाव बनाने की नीति अपनाएगा.

3.7 नेपाल

3.7.1भूमिका

भारत और नेपाल के बीच प्राचीनकाल से ही गहरे ऐतिहासिक, सांस्कृतिक , समाजिक तथा आर्थिक सम्बन्ध रहे हैं. भारत तथा नेपाल एकमात्र ऐसे पड़ोसी देश है जिनके बीच खुली सीमा का सिद्धांत लागू है. यह खुली सीमा 1850 किलोमीटर लम्बी है जो कि भारत के पाँच राज्यों सिक्किम, पश्चिम बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश तथा उत्तराखंड को छूती हुयी गुजरती है. ब्रिटिशकाल में नेपाल आंतरिक मामलों में पूरी तरह स्वतंत्र था लेकिन विदेश नीति में ब्रिटिश सरकार का प्रभाव हुआ करता था. जब भारत स्वतंत्र हुआ तो 1950 में दोनों देशों ने शांति और मित्रता संधि पर हस्ताक्षर किये थे. नेपाल एक चारों ओर भूमि से घिरा राज्य होने के कारण आयात-निर्यात के लिए पूरी तरह भारतीय समुद्र तटों पर निर्भर है. इसीलिए भौगोलिक दृष्टि से भी नेपाल की भारत पर निर्भरता उसे भारत के क़रीब लाती है.

3.7.2 स्वतंत्र भारत में नेपाल की स्थिति

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरु ने 17 मार्च 1950 को दिए गये अपने वक्तव्य में स्पष्ट किया था कि भारत और नेपाल के मध्य कोई सामरिक समझौता न होने के बावजूद नेपाल पर किये गये किसी भी

आक्रमण को भारत सहन नही कर सकता है. इसकी साफ़ वजह यह भी है कि नेपाल पर किया जाने वाला कोई भी सम्भावित आक्रमण भारत की सुरक्षा के लिए निश्चित रूप से खतरा है. दोनों देशों की विदेश नीति का मुख्य आधार सन 1950 की मैत्री एवं शांति संधि रही. यह संधि दोनों देशों के मध्य व्यापारिक संधि का आधार भी बनी.

1951 में उत्पन्न राजनीतिक विवाद के समाधान हेतु मई 1951 में नेपाल के महाराजा त्रिभुवन दिल्ली पहुँचे और पंडित नेहरु की मध्यस्थता के पश्चात उन्होंने आर्थिक क्षेत्र में सहयोग भारत के साथ हर तरह से सहयोग करने का वचन दिया. लेकिन नेपाल में राजनीतिक दलों की गुटबंदी के कारण अराजकता, भ्रष्टाचार एवं हिंसा चरम सीमा तक पहुंच गई. इस स्थिति से निपटने के लिए नेपाल ने भारत से सैनिक सहायता की मांग के साथ ही सैना एवं प्रशासन के पुनर्गठन के लिए सहायता की मांग की और भारत ने यथाशक्ति सहायता प्रदान भी की.

1955 में नेपाल के 'टंका प्रसाद आचार्य' के प्रधानमंत्री बनने से नेपाल की विदेश नीति में एक नया मोड़ आया. इनके निर्देशन में नेपाल का चीन की तरफ झुकाव होने लगा जिसके प्रमाण 1955 में तिब्बत को लेकर चीन और नेपाल के मध्य एक संधि से मिलते हैं जिसके कारण भारतीय नीति निर्माताओं को चिंता होने लगी. इसी को ध्यान में रखते हुए भारत के राष्ट्रपति डॉ राजेंद्र प्रसाद ने 1956 में नेपाल की यात्रा की.

नेहरुजी की मृत्यु के पश्चात प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री ने पूर्व की भांति ही नेपाल के प्रति अपना दोस्ताना दृष्टिकोण बनाये रखा. इन्होने गांधीवादी विचारक एवं अर्थशास्त्री मन्नाराइज अग्रवाल को राजदूत बनाकर नेपाल भेजा. इन्होने खुली कूटनीति के माध्यम से नेपाली जनता के हृदय तक भारतीयता को पहुँचा दिया. परिणामस्वरूप भारत-नेपाल समझौता के तहत सीमावर्ती कस्वे सुगौली और सीमावर्ती नेपालघाटी में ओखारा घाटी के बीच 128 मील लम्बी सड़क मार्ग का निर्माण करने का निश्चय किया.

1965 में शास्त्री जी ने कोसी परियोजना की घोषणा की जिसका उद्देश्य नेपाल को बाढ़ से बचाना एवं बिजली व सिंचाई का लाभ देना था. इन सब कारणों से 1965 में नेपाल नरेश ने भारत की यात्रा की और इंदिरा गाँधी के समयकाल 1966 में नेपाल के प्रधानमंत्री 'सूर्य बहादुर थापा' ने भी भारत की यात्रा की. जब इंदिरा गाँधी 1974 में नेपाल गयीं तो दोनों के मध्य कई समझौते हुए जिसके कारण दोनों देशो के संबंधों में अप्रत्याशित प्रगाढ़ता आने लगी.

3.7.3 नेपाल में हालिया घटनाक्रम

नेपाल में राजनीतिक और समाजिक संकट तब गहरा गया जब जून 2001 में नेपाल में पूरे राजवंश की हत्या कर दी गई. यह भारत-नेपाल संबंधों की दृष्टि से एक गंभीर चुनौती थी क्योंकि नेपाल के राजवंश ने हमेशा भारत के प्रति बहुत ही सकारात्मक रुख अपनाया था. भारतीय विदेश एवं रक्षा मंत्री जसवंत सिंह ने तत्काल नेपाल की यात्रा की और संकट के दौरान सहायता देने का आश्वासन दिया. वर्ष 2004 में प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह के नेतृत्व वाली यू.पी.ए. सरकार ने अपनी विदेश नीति में पड़ोसियों से मधुर सम्बन्ध बनाने की प्रथमिकता दी. इसी दौरान 6-9 जून 2006 को नेपाली प्रधानमंत्री कोइराला भारत यात्रा पर आये और भारत ने नेपाल को 100 करोड़ रूपया की आर्थिक सहयता की घोषणा की गयी.

माओवादियों के लम्बे संघर्ष एवं जनांदोलन से नेपाल में 240 वर्षो से चली आ रही राजशाही मई 2008 में समाप्त हो गई. नेपाल के नवनिर्वाचित संविधान सभा ने अपनी पहली बैठक में प्रधानमंत्री गिरजा प्रसाद कोइराला ने एक प्रस्ताव पारित करके नेपाल को धर्मनिरपेक्ष संघीय लोकतान्त्रिक गणराज्य घोषित कर दिया. सितम्बर 2008 में नेपाली सत्तासीन प्रधानमंत्री 'पुष्प कमल दहल' भारत

और 2009 में माधव कुमार प्रधानमंत्री बनने के बाद भारन यात्रा पर आये. माधव कुमार एवं मनमोहन सिंह के बीच द्विपक्षीय वार्ता में 59 वर्ष पुरानी शांति एवं मैत्री संधि की समीक्षा के लिए सहमत हुए. माधव कुमार ने आश्वासन दिया कि "नेपाल भारत विरोधी किसी भी गतिविधि के लिए अपनी जमीन का इस्तेमाल नहीं होने देगा. भारत की और से घोषणा की गई कि भारत नेपाल में 22 करोड़ की लागत से एक पॉलिटेक्निक कॉलेज का निर्माण और सड़क के विस्तार के साथ ही राष्ट्रीय पुलिस अकादमी की इमारत के लिए रू. 320 करोड़ रूपया देगा. 2011 में तत्कालीन नेपाली प्रधानमंत्री बाबुराम भटटराई ने भारत की यात्रा की तथा व्यापार एवं सुरक्षा सहित विभिन्न क्षेत्रों में विकास हेतु समझौता किया. वर्ष 2014 प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी पड़ोसी देशों के प्रति सम्बन्ध बढ़ाने की प्राथमिकता देते हुए नेपाल की यात्रा की तथा नेपाल की संविधान सभा और संसद को सम्बोधित किया और नेपाल के आंतरिक मामलों में दखल न देने तथा सहयोग करने का वचन दिया.

3.7.4 भारत और नेपाल: विवाद के बिंदु

ऐतिहासिक रूप से देखा जाए तो भारत एवं नेपाल के बीच काफी सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध रहे, लेकिन नेपाल में नये संविधान बनने के बाद कुछ मतभेद उत्पन्न हो गये हैं जिनमें मधेशी एवं नया संविधान तथा चाइना फैक्टर प्रमुख्य है. नेपाल के नये संविधान में मधेशियों के प्रति हो रही भेदभाव नीति को लेकर भारत चिंतित है.

दरअसल मधेशी भारतीय मूल के नेपाली लोग हैं जो नेपाल के दक्षिणी भाग में निवास करते हैं इसलिए इस क्षेत्र को मधेश के नाम से जाना जाता है| 1814 -16 में ब्रिटिश नेपाली युद्ध के दौरान अंग्रेजों ने नेपालियों द्वारा कब्जा किये गये सभी क्षेत्रों पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया था. भारतीय तराई के अधिकांश क्षेत्र अंग्रेजों के नियन्त्रण में आ गये थे लेकिन अवध एवं मिथिला का छोटा-सा हिस्सा नेपाल में मिल गया था जिसे मधेश कहते है. मधेश क्षेत्र का क्षेत्रफल 24100 वर्ग किलोमीटर है जो कि नेपाल के कुल क्षेत्रफल का 17% क्षेत्र है जिसमें नेपाल के 20 जिले स्थित है तथा 55% आबादी रहती है. इस क्षेत्र में 22% मधेशी और 29% गैर मधेशी है.

नये संविधान में तराई मधेश के 20 दक्षिणी जिलों में सिर्फ़ 8 जिलों को ही मधेश राज्य में शामिल किया गया है. मधेशियों का मानना है कि नेपाली संसद में उन्हें जनसंख्या के आधार पर सीटें नहीं मिलेगी और न ही कोई मधेशी राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री बन सकेगा. इसके अलावा नेपाली सेना, प्रशासन, पुलिस में मधेशियों को प्रतिनिधित्व न देकर उन्हें दोयम दर्जे के नागरिक बनाया गया है. इसके जवाब में मधेशियों ने अपने आक्रोश को उग्र करते हुए भारत द्वारा निर्यात की जाने वाली सामग्री को रोककर नेपाल एवं भारत के मध्य खाई पैदा कर दी है. नेपाल ने भी भारत पर आरोप लगाया कि भारत की नाकेबंदी की वजह से ही तेल के टैंकर नेपाल नहीं आ रहे हैं. जबकि भारत का कहना था कि ट्रक के रुकने का कारण भारत नहीं बल्कि नेपाल में नये संविधान में अपनी भागीदारी नहीं मिलने से नाराज लोगों का प्रदर्शन है.

संदेह और विवाद का एक दूसरा विषय चीन का भारत और नेपाल के मामलों में दखल देना है. चीन नेपाल से क़रीबी बनाकर भारतीय सीमाओं को और सीधे तौर पर निगरानी लेने के लिए आतुर है. दरअसल ब्रिटिश सरकार भी चीन के प्रति सुरक्षा को लेकर आशंकित थी और 1950 में चीन की सेनाओं के तिब्बत में प्रवेश के बाद भारत तथा नेपाल दोनों चीन के प्रति आशंकित हुए थे. लेकिन 1962 में भारत- चीन युद्ध के बाद नेपाल का झुकाव चीन की तरफ होने लगा और 1965 में चीन ने दोनों देशो के बीच काठमांडू-कोदारी राजमार्ग के निर्माण पर सहमति व्यक्त कर अपनी मशाएं साफ़ कर दी थीं.

2008 में नेपाल में लोकतान्त्रिक आंदोलन की सफलता के बाद राजशाही का अंत हो गया तथा संविधान सभा चुनाव में माओवादियों ने सबसे बड़ा दल होने के नाते सरकार का गठन किया. माओवादी पार्टी चीन से वैचारिक सम्यता रखती थी इसलिए प्रधानमंत्री पुष्प कमल दहल ने पूर्व कूटनीतिक परम्परा को तोड़ते हुए भारत की यात्रा से पहले चीन की यात्रा की. इस कारण नेपाल में चीन का आर्थिक एवं राजनीतिक प्रभाव बढ़ने लगा. 2015 में मधेशी आंदोलन के बाद चीन ने नेपाल को तेल तथा आवश्यक वस्तुओं का भी आपूर्ति किया जो कि भारतीय विदेश नीति के लिए एक बड़ी विफलता सिद्ध हुयी. चीन का यह दखल यहीं तक नहीं रुका है बल्कि 2016 में नेपाल के प्रधानमंत्री के.पी.शर्मा ओली की चीन यात्रा के वक्त दोनों देशों ने व्यापार तथा पारगमन की संधि पर भी हस्ताक्षर किये. नेपाल ने चीन की वन बेल्ट तथा वन रोड योजना में भी भाग लेने पर अपनी सहमति व्यक्त की है. यहाँ तक कि दोनों देशों ने 2017 में अपना पहला संयुक्त सैनिक अभ्यास भी किया. भारत-नेपाल संबंधों के लिए यह एक गंभीर चिंता का विषय है.

3.8 भारत-श्रीलंका सम्बन्ध

3.8.1 भूमिका

भारत-श्रीलंका सम्बन्ध सामान्य तौर पर मित्रतापूर्ण, सौहार्दमय एवं तनावपूर्ण रहे हैं. गौरतलब है कि श्रीलंका भारत की दक्षिणी सीमा से सटा हुआ है. यह हिन्द महासागर में स्थित है और इसका कुल क्षेत्रफल 25,332 वर्ग मील है. 1 करोड़ 50 लाख से ऊपर की जनसंख्या में लगभग 64 प्रतिशत जनता बौद्ध धर्म में विश्वास करती है. 14 प्रतिशत लोग हिन्दू धर्मावलम्बी है तो 9 प्रतिशत ईसाई, 6 प्रतिशत इस्लाम में विश्वास करने वाले और शेष अन्य धर्मों से सम्बंधित हैं. श्रीलंका में लगभग 15 प्रतिशत निवासी तमिल भाषी हैं और शेष निवासी सिंहली भाषा बोलते हैं.

भारत-श्रीलंका का सम्बन्ध अति प्राचीन है. भारत में उदित बौद्ध धर्म की जब भी बात की जाएगी तब तब श्रीलंका का नाम अवश्य ही स्मरण किया जायेगा. अशोक के पुत्र 'महेंद्र' चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में श्रीलंका में बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु भेजे गए थे. मध्यकाल के दरम्यान में भी हम इन दो देशों के बीच एक प्रकार का आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध देखते हैं.

3.8.2 भारत और श्रीलंका संबंधों का अतीत

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की चर्चा करें तो 16वीं शताब्दी में पुर्तगाली श्रीलंका आयर और उन्होंने यहाँ अपना उपनिवेश स्थापित कर लिया. 1658 में डचों ने पुर्तगालियों को पराजित करके श्रीलंका पर अपना शासन स्थापित कर लिया. उसके बाद 1796 में अंग्रेजो ने डचों से सत्ता छीन ली और 1802 में श्रीलंका को अंततः ब्रिटिश साम्राज्य का उपनिवेश घोषित कर दिया गया. इस तरह भारत की तरह श्रीलंका पर भी लगभग डेढ़ सौ सालों तक ब्रिटेन का कब्जा रहा. उसके बाद 4 फरवरी 1948 को श्रीलंका को स्वंत्रता प्राप्त हुई.

संयुक्त अतीत के चलते भारत की भांति श्रीलंका भी राष्ट्रमंडल का सदस्य बन गया और भारत की ही भांति श्रीलंका भी गुट-निरपेक्षता तथा शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीतियों में विश्वास करता है. श्रीलंका गुट-निरपेक्ष आन्दोलन (Non-Alignment Movement) के आरंभ (1961) से ही इसका सक्रिय सदस्य देश है. छ; अन्य देशों के साथ साथ श्रीलंका दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग संगठन{सार्क} का संस्थापक सदस्य भी है. भारत की ही तरह श्रीलंका की भी संयुक्त राष्ट्र और विश्व शांति में पूरी आस्था है.

3.8.3 सिंहली-तमिल संघर्ष की पृष्ठभूमि में भारत-श्रीलंका सम्बन्ध

भारत और श्रीलंका के बीच विवाद की जड़ श्रीलंका में सिंहली और तमिल दो प्रमुख जातीय समूहों के बीच का संघर्ष है. स्वंत्रता पूर्व इन दोनों समूहों के बीच हिंसक संघर्ष का इतिहास रहा है जो कि स्वंत्रतता के बाद भी यह बहुत दिनों तक जारी रहा. श्रीलंका की आजादी के बाद 'सिंहली राष्ट्रवाद' ने शिक्षा और राजनीतिक प्रशासन में तमिलों की उपस्थिति को समाप्त करने की मांग की क्योंकि सिंहली राष्ट्रवादियों का मानना था कि "श्रीलंका में तमिलों के साथ कोई रियायत नही बरती जानी चाहिए क्योंकि श्रीलंका सिर्फ़ सिंहली लोगों का हैं". इन स्वरूपों को देखते हुए 1976 में तमिल अधिकारों के लिए संघर्ष करने के लिए लिबरेशन टाइगर्स ऑफ़ तमिल ईलम उर्फ़ लिट्टे की स्थापना हुयी जो कि अपने तौर-तरीकों में उग्रवादी सैन्य संगठन था.

इस तरह सिंहली राष्ट्रवाद द्वारा तमिलों के प्रति उपेक्षा से भरे बरताव से उग्र तमिल राष्ट्रवाद की आवाज बुलंद होती है 1983 के बाद से यह उग्र तमिल संगठन लिट्टे श्रीलंकाई सेना के साथ सीधे संघर्ष में उलझने लगा. जिसका परिणाम हमे वहां हुए 1983 के गृहयुद्ध के रूप में देखने को मिलता है. इस संघर्ष के दरम्यान तमिल संगठनों ने श्रीलंका के तमिलों के लिए एक अलग देश की मांग करना प्रारम्भ कर दिया.

भारत के साथ यह विवाद श्रीलंका के संबंधों को इस तरह प्रभावित करता था क्योंकि यह समस्या श्रीलंका में रह रहे भारतीय तमिलों से जुड़ी थी. इस सन्दर्भ में भारत के तमिल नेताओं और जनता का भारतीय सरकार पर भारी दबाव रहता था कि वह श्रीलंकाई तमिलों के हितों की रक्षा करने के लिए आगे बढे. भारतीय सरकार ने भी समय समय पर तमिलों के सवाल पर श्रीलंका की सरकार से बातचीत की कोशिश की लेकिन श्रीलंका के इन तमिल मसलों में भारतीय सरकार प्रत्यक्ष रूप से 1987 में जाकर ही शामिल हुई. जिसके तहत भारत की सरकार ने श्रीलंका से एक समझौता किया तथा श्रीलंका सरकार और तमिलों के बीच रिश्ते सामान्य करने के लिए भारतीय शान्ति सेना को भेजा गया. लेकिन भारतीय सेना वहाँ जाकर शान्ति एक प्रयासों के बजाय लिट्टे के साथ सैन्य संघर्ष में फँस गई. भारतीय सेना की श्रीलंका में उपस्थिति को श्रीलंकाई जनता ने पसंद नही किया क्योंकि श्रीलंकाई जनता के लिए यह असह्य था कि भारत श्रीलंका के अंदरूनी मामलों में दखलंदाजी करे. भारत का श्रीलंका में शान्ति सेना भेजना एक तरह से असफ़ल साबित हुआ और 1989 में भारत ने अपनी 'शांति सेना' बिना लक्ष्य हासिल किये वापस बुला ली. यहाँ तक कि यही वजह थी कि लिट्टे ने साजिश करके 1991 में भारतीय प्रधानमंत्री राजीव गाँधी की हत्या करके अपना बदला चुकाया.

3.8.4 कच्छद्वीप टापू विवाद

पाक जलडमरूमध्य के बीच कच्छद्वीप एक किलोमीटर लंबाई व डेढ़ किलोमीटर चौरा क्षेत्रफल वाला टापू है. यह टापू श्रीलंका की ज़मीन से 10.5 नॉटिकल मील की दूरी पर है तथा भारत की जमीन से 12.5 नॉटिकल मील की दूरी पर है. दोनों ही देश अलग-अलग वजहों से इस पर अपना अधिकार मानते हैं. भारत और श्रीलंका की स्वतन्त्रता के पश्चात 1949 से इस टापू पर प्रभुसत्ता को लेकर दोनों देशों के मध्य विवाद खड़ा हो गया. अंतत: भारत ने इस संदर्भ में उदार दृष्टिकोण अपनाते हुए 28 जून 1974 को इस टापू पर श्रीलंका का आधिपत्य स्वीकार कर लिया. इस प्रकार शांतिपूर्ण ढंग से यह विवाद सुलझाकर दोनों देशो ने अपने दूरदर्शिता एवं परिपक्वता का परिचय दिया.

3.9 म्यांमार

भारत तथा बर्मा के बीच प्राचीन काल से ही ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध रहे है| ब्रिटिश काल में म्यांमार (तब का बर्मा) भारत का अंग रहा है. 1935 में बर्मा भारत से अलग हुआ था और 1948 में म्यांमार को

आजादी प्राप्त हुई थी. भारत तथा बर्मा के बीच 1640 किलोमीटर की थल सीमा है और क्षेत्रफल की दृष्टि से बर्मा भारत का दूसरा सबसे बड़ा पड़ोसी देश है.

सन 1884-1948 तक म्यांमार में ब्रिटेन का शासन रहा और उसके बाद लम्बे समय तक म्यांमार में सेना का प्रभुत्व रहा है. भारत ने 1990 के दशक तक म्यांमार के सैनिक शासन के साथ सकारात्मक लगाव की नीति अपनाई. लोकतंत्र को कुचलने के लिए सैना ने 1990 से ही आंग-सान सू को नजरबंद कर रखा था. लेकिन अन्तराष्ट्रीय दबाव के चलते नवम्बर 2010 में इन्हें नजरबंदी से रिहा करना पड़ा था. पहली बार 27 मई 1990 को सू की की पार्टी ने आम चुनाव में हिस्सा लिया था. इनकी पार्टी ने तकरीबन 80% सीटों पर दर्ज की थी. इस अवधि में दोनों देशों के बीच उच्चस्तरीय यात्राओं का आदान प्रदान चलता रहा. 1987 में भारत के प्रधानमंत्री राजीव गाँधी ने म्यांमार की यात्रा की थी लेकिन लोकतान्त्रिक आंदोलन का समर्थन करने के कारण 1990 के दशक में भारत तथा म्यांमार के सम्बन्ध आमतौर पर तनावपूर्ण बने रहे.

सन 2010 के बाद म्यांमार में लोकतंत्र की स्थापना के प्रयास तेज हुए. भारत में 1990 के दशक में म्यांमार की लोकतान्त्रिक नेता आंग सान सू की के नेतृत्त्व में लोकतंत्र की स्थापना हेतु आंदोलन चलाये गये जिसके कारण भारत एवं म्यांमार के सैनिक शासन के बीच सम्बन्ध खराब हो गये. अंततः 2015 के लोकतान्त्रिक चुनाव के बाद म्यांमार में आंग सान सू की के राजनीतिक दल 'नेशनल लीग फॉर डेमोक्रेसी' को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ. इस प्रकार भारत तथा म्यांमार के बीच लोकतंत्र की प्रक्रिया के साथ-साथ आपसी संबंधों की नींव भी मजबूत हुई.

2011 एवं 2012 में म्यांमार के राष्ट्रपति यू थिन सीन एवं अगस्त 2016 में वर्त्तमान राष्ट्रपति यू० हतिन क्याव ने भारत की राजकीय यात्राएं कीं. इन उच्चस्तरीय यात्राओं के परिणामस्वरुप भारत एवं म्यांमार के बीच कई लाभकारी कार्यक्रमों का क्रियान्वयन किया जा रहा है. इनमे दोनों देशों के बीच अपराधिक मामलों में सहयोग का समझौता, कलादान हाईवे का निर्माण, आनंद मंदिर का जीर्णोद्धार, सितवे बंदरगाह का निर्माण तथा अन्य विकास कार्यक्रम शामिल हैं. भारत ने इस अवधि में म्यांमार के विकास के लिए 297 मिलियन डॉलर के लोन तथा 477 मिलियन डॉलर के अनुदान दिए हैं. भारत के सहयोग से बने म्यांमार के सित्तवे सीपोर्ट का संचालन आरम्भ हो गया है और इस बंदरगाह के द्वारा भारत की अपनी उत्तरी-पूर्वी राज्यों तक पहुँच आसान हो गई है.

भारत तथा म्यांमार के बीच सम्बन्ध वर्त्तमान में सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है. भारत के उत्तरी पूर्वी क्षेत्रों की सुरक्षा तथा विकास, इन क्षेत्रों के साथ सम्पर्क, दक्षिण पूर्वी देशों के साथ भारत के सम्बन्ध, चीन के विरुद्ध सामरिक संतुलन, उर्जा सुरक्षा, समुद्री सुरक्षा, यातायात तथा व्यापार की दृष्टि से म्यांमार भारत के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है. सित्वे बंदरगाह पर भारत को सुविधाएं मिल जाने के कारण उत्तरी पूर्वी क्षेत्रों के साथ भारत के सम्पर्क का एक नया मार्ग खुल गया है. म्यांमार में तेल तथा गैस के प्रचुर भण्डार होने के कारण उर्जा के क्षेत्र में सहयोग की व्यापक सम्भवनाएं हैं.

आसियान का सदस्य होने के नाते म्यांमार भारत की लुक ईस्ट नीति की सफलता के लिए सहायक है. बिम्सटेक के सदस्य के कारण म्यांमार भारत को क्षेत्रीय एकीकरण के साथ साथ दक्षिण एशिया तथा दक्षिण पूर्व एशिया के मध्य अंत: क्षेत्रीय सहयोग बढ़ाने में सहायक है. इस प्रकार भारत म्यांमार राजनीतिक, आर्थिक एवं तकनीकी विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है. वर्त्तमान में म्यांमार में लोकतंत्र की प्रक्रिया भी क्रमशः मजबूत हो रही है जिससे दोनों देशों के बीच भविष्य में भी सम्बन्धो के मजबूत होने की सम्भावना है.

3.10 सारांश

इस प्रकार देखें तो भारत अपने पडोसी देशों के साथ संबंधों के मामले में एक उदार और आगे बढ़कर सम्बन्ध बनाने की नीति का हामी रहा है. लेकिन जो विवाद उसे अपने औपनिवेशिक अतीत की वजह से विरासत में मिले हैं उनकी वजह से उसे पाकिस्तान के साथ बेवजह के विवादों और युद्धों में उलझना पड़ता है. इसके अलावा एक ही क्षेत्र में चीन और भारत जैसी दो महाशक्तियों की वजह से उनके बीच की आपसी प्रतिस्पर्धा तनाव और विवाद का कारण बनती रही है. इसके बावजूद भारत ने अपने पड़ोसी देशों के साथ आर्थिक संबंधों को तवज्जो देते हुए उनके साथ अपने संबंधों को प्रगाढ़ बनाने का भरपूर प्रयास किया है.

3.11 सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

1. चन्द्र,बिपिन, आजादी के बाद का भारत
2. चन्द्र,बिपिन, आधुनिक भारत, एनसीईआरटी
3. गुहा,रामचन्द्र, भारत गाँधी के बाद
4.समकालीन विश्व राजनीति, एनसीईआरटी राजनीति विज्ञान (कक्षा-12)

3.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत के अपने पड़ोसी देशों के साथ संबंधों पर चर्चा कीजिए।